आजकल वार्षिक अंक
दिसम्बर १९५६
बौद्ध-धर्म के 2500 वर्ष

"आ... क ल" का वार्षिक अंक

मूल्य ३) रुपये

प्रकाशक
पब्लिकेशन्स डिवीज़न,
ओल्ड सेक्रेटेरियट, दिल्ली–८

"बौद्ध-धर्म के २५०० वर्ष"

मुख्य सम्पादक

पी० वी० बापट

भूमिका लेखक

सर्वपल्ली राधाकृष्णन

मूल्य ३) रुपये

प्रकाशक

पब्लिकेशन्स डिवीज़न,
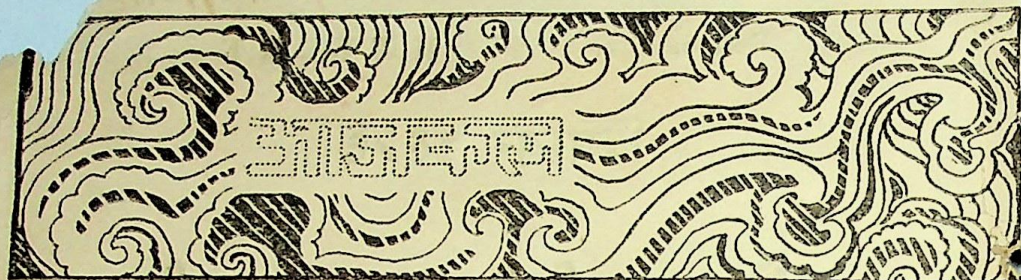
ओल्ड सेक्रेटेरियट, दिल्ली—८

वर्ष १२ अंक ८ पूर्णांक १५०

दिसम्बर १९५६

सम्पादक मण्डल :

बनारसीदास चतुर्वेदी
नगेन्द्र
मोहन राव
चन्द्रगुप्त विद्यालंकार (मन्त्री)

सहायक सम्पादक—वीरेन्द्र कुमार त्यागी

वार्षिक मूल्य—६ रुपये, एक डालर या नौ शिलिंग
एक प्रति—आठ आने, एक सेंट या नौ पैंस

पब्लिकेशन्स डिवीज़न, ओल्ड सेक्रेटेरियट, दिल्ली-८

बौद्ध-धर्म के २५०० वर्ष

विषय सूची

भूमिका

अनेक देशों में ईसापूर्व छठी सदी आध्यात्मिक असन्तोष और बौद्धिक खलबली के लिए प्रसिद्ध है। चीन में लाओ-त्से और कन्फ्यूशियस हुए, यूनान में परमेनाइडीस और एम्पेडोकल्स, ईरान में ज़रथुस्त्र, और भारत में महावीर और बुद्ध। इसी समय में कई विख्यात आचार्य और चिंतक हुए, जिन्होंने अपनी सांस्कृतिक धरोहर पर टीकाएँ लिखीं और उसे आगे बढ़ाया तथा नए दृष्टिकोण विकसित किए।

वैशाख मास की पूर्णिमा बुद्ध के जीवन की तीन महत्त्वपूर्ण घटनाओं से सम्बद्ध है—जन्म, संबोधि-प्राप्ति, परिनिर्वाण। बौद्धों के वर्ष-पत्रक में यह सबसे पवित्र दिन है। थेरवाद बौद्ध-मत के अनुसार बुद्ध का परिनिर्वाण ५४४ ईसापूर्व में हुआ।[1] यद्यपि बौद्ध-मत के विभिन्न निकाय विभिन्न प्रकार की काल गणना मानते हैं, फिर भी गौतम बुद्ध के महापरिनिर्वाण की ढाई हज़ारवीं पुण्य-तिथि वे सब मई १९५६ ईस्वी की पूर्णिमा को ही मानते हैं। इस पुस्तक में गत ढाई हज़ार वर्षों में बौद्ध-मत की कहानी का संक्षिप्त लेखा है।

बुद्ध के जीवन के प्रमुख प्रसंग सुपरिचित हैं। कपिलवस्तु के एक छोटे से राजा का वह पुत्र था, विलास और ऐश्वर्य में वह पला, यशोधरा से उसका विवाह हुआ, उसके राहुल नामक पुत्र पैदा हुआ, और जब तक संसार के दुःख उससे छिपे हुए थे, उसने सुरक्षित जीवन बिताया। चार बार जब वह राजमहल से बाहर गया, अनुश्रुति यही कहती है कि, उसे एक जरा-जीर्ण आदमी मिला और उसे अनुभव हुआ कि वह भी बुढ़ापे का शिकार हो सकता है; उसे एक बीमार आदमी मिला और उसे लगा कि वह भी बीमार पड़ सकता है; उसे एक शव दिखाई दिया और उसे लगा कि मृत्यु का वह भी ग्रास बनेगा; और उसे एक संन्यासी मिला, जिसका चेहरा शान्त था और जिसने धर्म के गुह्य सत्य को पाने वालों का परम्परित रास्ता अपनाया

---

१. बोधगया उत्कीर्ण लेख में ५४४ ईसापूर्व परिनिर्वाण की तिथि दी गई है।

हुआ था। बुद्ध ने निश्चय किया कि उस संन्यासी का मार्ग अपनाकर वह भी जरा, रोग, मृत्यु से छुटकारा पायेगा। उस वैरागी ने बुद्ध से कहा :

"नर-पुंगव जन्म-मृत्यु भीतः श्रमणः प्रव्रजितोस्मि मोक्ष-हेतोः।"[1]

(मैं श्रमण हूँ, एक संन्यासी हूँ, जिसने जन्म और मरण के डर से, मोक्ष पाने के हेतु, प्रव्रज्या ग्रहण की है।)

इस शरीर से स्वस्थ, मन से प्रसन्न, जीवन के ऐहिक सुखों से विहीन, पवित्र पुरुष के दर्शन से बुद्ध का विश्वास और भी दृढ़ हो गया कि मनुष्य के लिए उचित आदर्श धर्म पालन ही है। बुद्ध ने संसार तजने का और धार्मिक जीवन में अपने आप को लगा देने का निश्चय किया। उसने घर छोड़ा, पुत्र और पत्नी को छोड़ा, एक भिक्षु के वस्त्र और दिनचर्या अपनायी, और वह मनुष्य के दुःख पर विचार करने के लिए जंगल में एकान्त में गया। वह इस दुःख का कारण और दुःख को दूर करने के उपाय जानना चाहता था। उसने छः वर्ष धर्म के कठिन सिद्धान्तों के अध्ययन में बिताये, कठिनतम तपस्या की, उसने शरीर को उपवास से सुखाया, इस आशा से कि शरीर को पीड़ित करके वह सत्य का ज्ञान प्राप्त कर लेगा। परन्तु उसकी अवस्था मरणासन्न हो गई और उसे जिस ज्ञान की खोज थी वह उसे न मिल सका। उसने संन्यास-मार्ग छोड़ दिया, पुनः साधारण जीवन धारण किया, निरंजना नदी के जल में स्नान किया, सुजाता द्वारा दी हुई खीर ग्रहण की : 'नायम् आत्मा बलहीनेन लभ्यः।' शरीर का स्वास्थ्य और मानसिक शक्ति प्राप्त करने पर उसने बोधिवृक्ष के नीचे सात सप्ताह बिताये, गहन और प्रगाढ़ एकाग्रता की अवस्था में। एक रात को, अरुणोदय से पहले उसकी बोध-दृष्टि जागृत हुई और उसे पूर्ण प्रकाश की प्राप्ति हुई। इस सम्बोधि-प्राप्ति के बाद बुद्ध अपना उल्लेख तथागत या तृतीय पुरुष सर्वनाम से करने लगे। तथागत का अर्थ है वह जो सत्य तक पहुँचा है। इस प्रकार से प्राप्त सम्बोधि का वह प्रचार करना चाहता था और उसने कहा—"मैं वाराणसी जाऊँगा। वहाँ वह प्रदीप ज्योतित करूँगा जो सारे संसार को ज्योति देगा। मैं वाराणसी जाकर वह दुन्दुभी बजाऊँगा कि जिससे मानव-जाति जागृत होगी। मैं बनारस जाऊँगा और वहाँ सद्धर्म का प्रचार करूँगा।" "सुनो, भिक्खुओ! मैंने अब अमरत्व पा लिया। अब मैं उसे तुम्हें दूँगा। मैं धर्म का प्रचार करूँगा।" वह, इस प्रकार से, स्थान-स्थान पर घूमा। उसने सैकड़ों के जीवन को छुआ, चाहे वे छोटे हों या बड़े, राजा हों या रंक। वे सब उसके महान व्यक्तित्व के जादू से

---

१. अश्वघोष : बुद्धचरित, ५, १७।

प्रभावित हुए। उसने पैंतालीस वर्षों तक दान की महिमा सिखायी, त्याग का आनन्द सिखाया, सरलता और समानता की आवश्यकता सिखायी।

अस्सी वर्ष की आयु में वह कुशीनगर जा रहा था, जहाँ उसका परिनिर्वाण हुआ। अपने प्रिय शिष्य आनन्द के साथ वैशाली के सुन्दर नगर से विदा लेते हुए, वह पास की एक छोटी पहाड़ी पर गया और उसने बहुत से चैत्य-मन्दिरों और विहारों वाले दृश्य को देख कर, आनन्द से कहा—"चित्रम् जम्बुद्वीपम्, मनोरमम् जीवितम् मनुष्याणाम्" (भारत चित्रमय और समृद्ध है, यहाँ मनुष्य का जीवन मनोरम और काम्य है)। हिरण्यवती नदी के किनारे एक शालवृक्षों का कुंज है, जहाँ दो वृक्षों के बीच में बुद्ध ने अपने लिए एक शैया बनाई। उसका शिष्य आनन्द बहुत अधिक शोक करने लगा। उसे सांत्वना देते हुए बुद्ध ने कहा—"आनन्द, रोओ मत, शोक मत करो। मनुष्य को जो भी प्रिय वस्तुएँ हैं, उनसे विदा होना ही पड़ता है। यह कैसे हो सकता है कि जिसका जन्म हुआ है, जो अस्थिरता का विषय है, वह समाप्त न हो। यह हो सकता है कि तुम सोच रहे होगे—"अब हमारा कोई गुरु न रहा।" ऐसा न सोचो, ओ आनन्द, जो सद्धर्म के उपदेश मैंने तुम्हें दिये हैं, वे ही तुम्हारे गुरु हैं।" उसने दुबारा कहा—

हंद दानी भिक्खवे आमन्तयामि वो
वयधम्मा संखारा, अप्पमादेन सम्पादेथ' ति

(इसलिए, मैं तुम्हें कहता हूँ, ओ भिक्खुओ ! सब वस्तुएँ नाशधर्मी हैं, इसलिए अप्रमादयुक्त होकर अपना निर्वाण स्वयम् प्राप्त करो।)

बुद्ध के ये अन्तिम शब्द थे। उसकी आत्मा रहस्यमयी निमग्नता की गहराई में डूब गई और जब वह उस अवस्था तक पहुँच गया जहाँ सब विचार, सब अनुबोध विलीन हो जाता है, जब व्यक्ति की चेतना समाप्त हो जाती है, तब उसे परिनिर्वाण प्राप्त हुआ।

बुद्ध के जीवन में दो पक्ष हैं: वैयक्तिक और सामाजिक। जो सुपरिचित बुद्ध-प्रतिमा है वह एक तपस्यारत, एकाग्र और अन्तर्मुख साधु की, योगी की, प्रतिमा है, जो कि आन्तरिक समाधि के आनन्द में लीन है। यही परम्परा थेरवाद बौद्ध-धर्म और अशोक के धर्म-प्रचारकों से सम्बद्ध है। उनके लिए बुद्ध एक मनुष्य है, देवता नहीं, एक गुरु है उद्धारकर्त्ता नहीं। बुद्ध के जीवन का दूसरा पहलू भी है, जहाँ कि वह मनुष्यमात्र के दुःख से पीड़ित जीवन में प्रवेश करना, उनके कष्टों का निदान करना और 'बहुजनहिताय' अपना सन्देश प्रसृत करना चाहता है। मानवमात्र के प्रति करुणा पर आश्रित एक दूसरी परम्परा उत्तर भारत

में कुषाणों (७० से ४८० ईस्वी) और गुप्त-वंश (३२०-६५० ईस्वी) के काल में फूली-फली। उसने मुक्ति का आदर्श, श्रद्धा का अनुशासन और विश्व-सेवा का मार्ग सब के लिए विकसित किया। पहली परम्परा श्रीलंका, बर्मा और थाई देश में प्रचलित हुई और दूसरी नेपाल, तिब्बत, कोरिया, चीन और जापान में।

बौद्ध-धर्म के सब रूप इस बात पर सहमत हैं कि बुद्ध ही संस्थापक था, उसने विचार-संघर्ष किया और जब वह बोधिवृक्ष के नीचे बैठा था तब उसे सम्बोधि-प्राप्ति हुई, और उसने इस दुःखमय जगत से परे का अमर मार्ग दिखाया। जो इस मुक्ति मार्ग का अनुसरण करते हैं, वे ही उस परम-सम्बोधि को प्राप्त कर सकते हैं। यह सारी बात का मूल है, यही बौद्ध-मत के दृष्टिकोण और अभिव्यंजना की विविध विभिन्नताओं में अन्तर्निहित मौलिक एकता है। बौद्ध-धर्म भारत से बाहर दुनिया के और हिस्सों में जैसे जैसे फैला, ये विभिन्नताएँ बढ़ती गईं।

सभी धर्मों का सार है मानव-स्वभाव में परिवर्तन। हिन्दू और बौद्ध-धर्मों का मुख्य सिद्धान्त है "द्वितीय जन्म"। मनुष्य इकाई नहीं है, परन्तु अनेकता का पुंज है। वह सुषुप्त है, वह स्वयंचालित है। वह भीतर से असंतुलित है। उसे जागना चाहिए, एक होना चाहिए, अपने आप से संश्लिष्ट और मुक्त होना चाहिए। यूनानी रहस्यवादियों ने हमारे स्वभाव में इस परिवर्तन को ध्वनित किया था। मनुष्य की कल्पना एक बीज से की जाती है जो कि बीज के नाते मर जाएगा, परन्तु बीज से भिन्न पौधे के रूप में जो पुनर्जीवित होगा। गेहूँ की दो ही सम्भावनाएँ हैं: या तो वह पिसकर आटा बन जाए और रोटी का रूप ले ले या उसे फिर से बो दिया जाए कि जिस से अंकुरित होकर वह फिर पौधा बन जाए, और एक के सौ दाने पैदा हों। सेंट पाल ने "ईसा के पुनरुत्थान" के वर्णन में इस कल्पना का प्रयोग किया है, "ओ मूर्ख, जो तुम बोते हो, वह मरे बिना फिर से नहीं अंकुराता।" "जो एक प्राकृतिक वस्तु के रूप में बोया या गाड़ा जाता है, वह एक आध्यात्मिक वस्तु के रूप में जाग उठता है।" जो परिवर्तन है, वह केवल वस्तुगत रूपांतर है। मनुष्य सम्पूर्ण अन्तिम सत्ता नहीं है। वह ऐसी सत्ता है जो अपने आपको बदल सकती है, जो पुनः जन्म ले सकती है। यह परिवर्तन घटित करना, पुनः जन्म लेने के लिए, जागरित होने के लिए यत्न करना बौद्ध-धर्म की भाँति सभी धर्मों का ध्येय है।

हमारा काल के अधीन होना, संसार के बन्धन में रहना, अविद्या के कारण है, अचेतनता के कारण है, जिससे तृष्णा, वंचना, आसव पैदा होते हैं। अज्ञान और आसक्ति इंद्रियानुभव के जीवन का सार है। अविद्या से हमें विद्या-बोधि और

प्रकाश की ओर उठना है। जब हमें "विपस्सना" होगी, स्पष्ट दृष्टि प्राप्त होगी, तब हमें समता या अखण्ड शांति मिलेगी। इन सब बातों में, बुद्ध ने वास्तविक ज्ञान पर आधारित निश्चिति विषयक वैदिक कसौटी को अपनाया है, और यह वास्तविक ज्ञान, प्रत्यक्ष अनुभव, निश्चिति विषयक प्रत्यक्ष बौद्धिक अन्तःप्रेरणा द्वारा प्राप्त होता है : यत्था-भूता-ज्ञान-दस्सना।

बुद्ध यह नहीं समझता था कि वह एक नया धर्म घोषित कर रहा है। वह जन्म, विकाल और मृत्यु के समय हिन्दू था। वह भारतीय-आर्य सभ्यता के पुराने आदर्शों को एक नई अर्थ-महत्ता के साथ उपस्थित कर रहा था : "अत :, भिक्खुओ, मैंने एक प्राचीन राह देखी है, एक ऐसा प्रचीन मार्ग जो कि पुरातन काल के पूर्ण-जागरितों द्वारा अपनाया गया था''''''उसी मार्ग पर मैं चला और उस पर चलते हुए मुझे कई तत्वों का रहस्य मिला। वही मैंने भिक्षुओं, भिक्षुणियों, नर-नारियों, और दूसरे सर्वसाधारण अनुयायियों को बताया। अतः, आवुसों, इसी प्रकार यह ब्रह्म-चिंतन, ब्रह्मचर्य जो कि इतना फूला-फला और सब देशों में सब को सुपरिचित हुआ, लोकप्रिय बना, संक्षेप में, देवताओं और मनुष्यों के लिए अच्छी तरह प्रकट किया गया।"[1]

धार्मिक भारत की टोह अतुलनीय सुरक्षा, अभय, मोक्ष, निर्वाण के लिए रही है। मनुष्य के लिए यह स्वाभाविक है कि वह अपने आप को पार्थिव वस्तुओं से ऊपर उठाने का यत्न करे, इंद्रियसंवेदना के जगत से बाहर जाए कि जिससे जरा-मरण और स्थूल ऐहिकता के बन्धनों से आत्मा की मुक्ति हो, बाह्य अन्धकार को तोड़कर वह प्रकाश और चिन्मयता के जगत में प्रवेश करे। बुद्ध ज्ञान अथवा बोधि के परम प्रकाश द्वारा एक नये आध्यात्मिक अस्तित्व की प्राप्ति का आदर्श चाहता है : "परन्तु मैं मानता हूँ कि मनुष्य का सबसे ऊँचा आदर्श वह स्थिति है, जिसमें न तो बुढ़ापा है, न भय, न रोग, न जन्म, न मृत्यु, न चिंताएँ हैं और जिसमें कोई पुनः पुनः क्रिया न हो।"

पदे तु यस्मिन् न जरा न भीर्न रुङ् न जन्म नैवोपरमो न चाधयः
तमेव मन्ये पुरुषार्थमुत्तमं न विद्यते यत्र पुनः पुनः क्रिया।[2]

बुद्ध ऐसा आध्यात्मिक अनुभव चाहते थे, जिसमें सारी स्वार्थ-भावना नष्ट हो जाए और उसके साथ ही साथ भय और वासना भी। वह परम आन्तरिक

१. संयुत्त निकाय।
२. अश्वघोष : बुद्धचरित, ११, ५९।

शांति की मनोदशा है। जिसके साथ ही यह निष्ठा भी है कि आध्यात्मिक स्वतन्त्रता पा ली गई है, एक ऐसी दशा जिसे शब्दों द्वारा वर्णित नहीं किया जा सकता। केवल वही उसे जान सकता है, जिसने उसका अनुभव किया हो। वह अवस्था स्वर्ग का वह जीवन नहीं है जहाँ कि देवता बसते हैं : "यदि दूसरे मतवादों के यती या साधु तुमसे कहें कि दूसरे स्वर्गीय जगत में जाने के लिए विरक्त गौतम के कहने पर यह तुम साधु-जीवन व्यतीत कर रहे हो, तो तुम्हें शर्म और क्रोध आना चाहिए।" जिस प्रकार उपनिषद् ब्रह्म लोक के जीवन से मोक्ष को भिन्न मानती हैं, बुद्ध भी निर्देश करते हैं कि देवता प्रकट जगत में होते हैं और इसलिए उन्हें परम निरपेक्ष नहीं कहना चाहिए। अस्तित्व और अनस्तित्त्व दोनों सापेक्ष हैं। जो वस्तुतः निरपेक्ष है वह अस्तित्व तथा अनस्तित्व दोनों से परे है। मुक्त बुद्ध की अवस्था ब्रह्म से भी ऊँची है। वह अदृश्य, परम कांतिमान और शाश्वत है। देवताओं से भी ऊँचा एक तत्व है, जो परमोक्ष है। यह परम तत्त्व उदान में अजात, अभूत, अकत, असंखत कहा गया है। यह उपनिषदों का ब्रह्म है, जिसे 'न इति', 'न इति' कहा गया है। बुद्ध निज को ब्रह्मभूत कहता है। बुद्ध ने परम यथार्थ के बारे में चरम दृष्टिकोण अपनाया, परन्तु ईश्वरवादी दृष्टिकोण नहीं। उसने अनुभव किया कि कई लोग यह विश्वास रखकर कि ईश्वर तो सब कुछ हमारे लिए करेगा ही, कर्म से बचते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि आध्यात्मिक उपलब्धि एक आन्तरिक विकास है। जब सुशिक्षित लोग अनिर्वचनीय के विषय में व्यर्थ के अनुमानों में निमग्न थे, अशिक्षित लोग भगवान को ऐसी शक्ति समझते थे जिसे जादू-टोने या भूतसिद्धि से वश में किया जा सकता है। यदि भगवान किसी न किसी तरह हमें क्षमा कर ही देते हैं, फिर हम चाहे कैसे भी जिएँ, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। सर्वसाधारण धर्माचार के इस अज्ञान और अन्धविश्वास, इस भय और आतंक के विरुद्ध बुद्ध ने विद्रोह किया। साथ ही, ईश्वरवादी विचारों से सामान्यतः मनुष्य का मन तथा हृदय असहिष्णुता से भर जाता है। इस तरह की सैद्धान्तिक रूढ़िवादिता और कट्टरपन ने दुनिया में दुःख, अन्याय, संघर्ष, अपराध और घृणा ही फैलाई है।

दुनिया को संसार यानी एक अनन्त प्रवाह मानना, जहाँ कि कर्म का नियम लागू है, सभी भारतीय धर्मों में एक-सा है, चाहे वह हिन्दू, जैन, बौद्ध या सिख हों। कुछ भी स्थिर नहीं है, देवी-देवता तक भी नहीं। मृत्यु भी स्थायी नहीं है, क्योंकि वह नये जीवन को कवलित करेगी। एक ही जीवन में व्यक्ति का आचरण उसकी अनन्तकालीन नियति निर्णीत नहीं कर सकता। बुद्ध नियतिवाद नहीं मानता। वह यह नहीं कहता कि मनुष्य का अपने भविष्यत् पर कोई अधिकार नहीं। वह

अपना भविष्य निर्णीत कर सकता है, अर्हत् बन सकता है, निर्वाण प्राप्त कर सकता है। बुद्ध कठोर जीवन का पक्का प्रचारक था। हमारा आदर्श है काल पर विजय प्राप्त करना, संसार-सागर को पार करना और यह कार्य उस नैतिक मार्ग पर चलने से हो सकता है जिससे प्रकाश प्राप्त होता है।

बुद्ध एक अपरिवर्तनीय आत्मन् की सत्ता को नहीं मानता, क्योंकि आत्मन् ऐसी चीज़ है जो कि अच्छे विचारों और कर्मों से बनाई जा सकती है फिर भी उसे आत्मन् को मानकर ही चलना पड़ता है। जब कि कर्म, वस्तु जगत, अस्तित्व जगत और कालसापेक्ष जगत से सम्बद्ध है, निर्वाण आत्म की, अन्तर्तम की मुक्ति का रूप ग्रहण करता है। हम अपने अस्तित्व की सीमाओं से बाहर, अलग, स्थित हो सकते हैं। हमें उस शून्य का, जगत की असारता का अनुभव होता है, तभी हम उससे परे जा सकेंगे। वस्तुनिष्ठ अस्तित्व से बाहर स्थित होने का अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को एक प्रकार की सूली पर चढ़ने, पीड़ादायक सर्वनाश तथा परिवर्तन और मृत्यु के नियमों से चालित समस्त इंद्रियसंवेद्य अस्तित्व की कटु शून्यता का अनुभव होना : मरणान्तम् हि जीवितम्। हम घोर निराशा की गहराई से पुकारते हैं : मृत्योर्मामृतंगमय। इस मृत्यु के शरीर से मुझे कौन बचायेगा? यदि मृत्यु सब कुछ नहीं है, यदि शून्यता सब कुछ नहीं है, तो मृत्यु के बाद कुछ है जो जीवित रहता है, यद्यपि वह वर्णनातीत है। यह 'आत्मन्' निरपेक्ष है तथा शरीर, संवेदना, इंद्रियबोध, संस्कार, विचार इत्यादि सब अस्थिर, परिवर्तनीय और तत्त्वहीन चीज़ों से परे है। जब व्यक्ति यह जान जाता है कि जो कुछ अस्थिर है वह दुखद है, तब वह उससे विरक्त हो जाता है और मुक्त हो जाता है। इससे पहले यह अनिवार्य है कि 'आत्मन्' की कोई उच्चतर चेतना या ऐसी ही कोई अनुभूति हो : "अत्तेन वा अत्तनीयेन"[१]। यह आत्मन् ही आदिम मौलिक 'स्व' है, जो निरपेक्ष है, जिसका ज्ञान हमें बन्धन-मुक्ति और शक्ति देता है। यह 'स्व' न तो शरीर है, न संवेदना, न चेतना इत्यादि। परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि आत्म-तत्त्व है ही नहीं। 'आत्मन्' या 'स्व' का एक भाव-तत्व अहंकार ही नहीं है, यद्यपि यही एक तत्त्व है जो बाह्य रूप से जाना जा सकता है। हमारे आत्म का एक दूसरा पहलू है, जो हमें निर्वाण-प्राप्ति में सहायक होता है। बुद्ध जब हमें परिश्रमशील होने को कहता है, निर्वाण के निमित्त प्रयत्न करने के लिए कहता है, तब वह उस आन्तरिक तत्त्व की ओर निर्देश कर रहा है, जो घटनाओं के प्रवाह

१. मज्झिम-निकाय, २६।

में वह नहीं जाता, जो बाह्य परिस्थितियों द्वारा संचालित नहीं होता, जो समाज के आक्रमण से अपने आपको बचाता है, जो मानवी मतवादों के आगे अपने आपको झुका नहीं देता, परन्तु अपने अधिकारों को बड़ी सावधानी से सुरक्षित रखता है। जो सम्बोधिप्राप्त है वह मुक्त है, वह सारे बन्धन तोड़ चुका है। विरक्त वह है जिसने अपने ऊपर संयम प्राप्त किया है, "जिसका अपने हृदय पर अधिकार है, और जो स्वयं अपने हृदय के अधिकार में नहीं है।"[1] बुद्ध ने जब निर्वाण प्राप्त किया तो वह अनस्तित्व में विलीन नहीं हो गया। वह नष्ट नहीं हुआ, उसकी वासनाएँ और इच्छाएँ नष्ट हुईं। अब वह उन गलत धारणाओं और स्वार्थी इच्छाओं से परिचालित नहीं होगा, जो सामान्यतः व्यक्तियों को प्रभावित करती हैं। बुद्ध अपने आपको उन गुणों से मुक्त अनुभव करता है जो किसी व्यक्ति को पराधीन बनाते हैं। वह द्वन्द्वों की दुनिया से दूर हो गया है। "जो विचार वह चाहता है, वही विचार वह मन में लायेगा, जो भी विचार वह नहीं चाहता है, वह मन में नहीं लायेगा।"[2] बुद्ध ने हमें सिखाया कि कैसे प्रज्ञा का अनुसरण और करुणा का पालन किया जाए। हम जो मत मानते हैं, जो बिल्ले चिपका लेते हैं या जो नारे लगाते हैं, उनसे हमारा निर्णय नहीं होगा, परन्तु हमारे त्याग के कार्य से और भ्रातृ-भाव से हम जाने जाएँगे। मनुष्य निर्बल है, जरा, रोग और मृत्यु का शिकार है। अपने अज्ञान और अहंकार में वह रोगियों, वृद्धों और मृतकों से घृणा करता है। यदि कोई व्यक्ति किसी भी रोगी, वृद्ध या मृत व्यक्ति को तिरस्कार की दृष्टि से देखता है, तो वह अपने प्रति अन्याय करता है। हमें लँगड़ाने वाले या ठोकर खाकर सड़क पर चलने वाले के दोष नहीं देखने चाहिएँ, क्योंकि हम नहीं जानते कि उसने कौन-से जूते पहने हैं या कौन-से बोझ उसने उठाये हैं।[3] यदि हम यह जान जाएँ कि दुःख का कारण क्या है, तो हम सब दुखियारों के भाई बन जाएँगे।

बौद्ध-धर्म कोई नया या स्वतन्त्र धर्म बन कर शुरू नहीं हुआ। वह एक अधिक पुराने हिन्दू धर्म की ही शाखा था, इसे कदाचित् हिन्दू धर्म से टूटी हुई या एक विद्रोही विचारधारा ही समझना चाहिए। जिस धर्म को धरोहर के रूप में उसने पाया उसके अध्यात्म और शीलाचार की मौलिक बातों को मानते हुए, बुद्ध ने उस समय प्रचलित कई आचारों का विरोध किया। वैदिक कर्मकाण्ड को वह नहीं मानता था।

---

१ मज्झिम-निकाय, ३२। २. अंगुत्तर ४, ३५, मज्झिम, २०।

३. रुद्राक्षंतुलसीकाष्ठं, त्रिपुंड्रं भस्मधारणं यात्रा स्नानानि होमाश्च जपाः
वा देवदर्शनं न एते पुनन्ति मनुजं यथा भूतहिते रतिः।

जब उसे कहा गया कि वह कुछ आचार माने, तो उसने कहा, "और आप कहते हो कि धर्म के नाम पर मैं अपने परिवार में प्रचलित वे यज्ञ-यागादि व्रतोत्सव करूँ जिनसे इच्छित फल प्राप्त होता है, तो मेरा कथन है कि मैं इन यज्ञों को नहीं मानता, क्योंकि मैं उस तरह के सुख की बिल्कुल परवाह नहीं करता जो दूसरे को दुःख देकर मिलता हो।"[१]

यह सच है कि उपनिषदों में जिस आध्यात्मिक धर्म का प्रतिपादन किया गया है उसकी अपेक्षा यज्ञ-यागादि सम्बन्धी कर्मकाण्ड को कम महत्त्व दिया गया है, परन्तु उपनिषदों ने उस तरह से उसका विरोध नहीं किया जैसे बुद्ध ने किया। बुद्ध का प्रमुख उद्देश्य था धार्मिक आचारों में सुधार करना और मौलिक सिद्धान्तों की ओर लौटना। वे सब जो हिन्दू धर्म के मूल ढांचे को कायम रखना चाहते हैं और जो यह प्रयत्न करते हैं कि उसे जागृत सदसद्विवेकबुद्धि की पुकार के अनुकूल बनाया जाए, वे अवतार माने जाते हैं। हिन्दुओं का यह एक सर्वमान्य विश्वास है कि परमेश्वर ने मानव-जाति के कल्याण के लिये विष्णु के रूप में विभिन्न रूप धारण किये। बुद्ध को इसीलिए अवतार माना गया कि उसने हिन्दुओं को रक्तमय व्रतोत्सवों से और मिथ्याचारों से मुक्त किया और उनके धर्म में जो बुराइयाँ घुस आई थी उन्हें दूर करके पवित्र बनाया। यह अवतार-सिद्धान्त हमारे धर्म का बार-बार सुधार करके हमारे पूर्वजों के धर्म को कायम रखने में सहायक होता है। पुराणों में बुद्ध को विष्णु का नवम अवतार माना गया है।

जयदेव की गीतगोविंद वाली अष्टपदी में विभिन्न अवतारों का उल्लेख है और उसमें बुद्ध को विष्णु का अवतार कहा गया है, और उसका यह कारण बताया गया है कि "श्रुतियों ने जिस यज्ञविधि को बताया, जिसमें पशुघात होता था, ओ सदय-हृदय! तुमने उसकी निन्दा की। ओ केशव, जो तुम अब बुद्ध के रूप में अवतरित हुए, तुम्हारी जय हो।"

निंदसि यज्ञविधेर अहह श्रुतिजातम्
सदय-हृदय, दर्शित पशुघातम्
केशव-धृत बुद्ध शरीर जय जगदीश हरे!

भाष्यकार ने लिखा है:

---

१. बुद्धचरित, ११, ६४।

यदात्थ चापिष्टफलां कुलोचितं कुरुश्व धर्माय मखक्रियाम् इति।
नमो मखेभ्यो न हि कामये सुखं परस्य दुक्ख-क्रियया यदिष्यते॥

"यज्ञस्य-विधान-बोधकं वेद समूहं निन्दसि, न तु सर्वम् इति अर्थः" (बुद्ध सारी श्रुति की निन्दा नहीं करता, परन्तु केवल यज्ञ वाले भाग की ही बुराई करता है।)

जयदेव अगले पद में दशावतारों का संक्षिप्त वृत्तान्त देता है :

"जिसने वेदों का उद्धार किया, जगत को अपनी पीठ पर धारण किया, पृथ्वी को ऊपर उठा लिया, दैत्यों का विदारण किया, राक्षसों को नष्ट किया, बली को नीचे दबाया, क्षत्रियों की शक्ति को तोड़ा, रावण को जीता, हल चलाया, करुणा को फैलाया, म्लेच्छों पर भी जो हावी हो गया, ओ ऐसे, दशावतार धारण करने वाले कृष्ण ! तुम्हें प्रणाम है !"

वेदं उद्धरते, जगन् निवहते, भूगोलमुद्बिभ्रते,
दैत्यं दारयते, बलिं चलयते, क्षत्र क्षयम् कुर्वते,
पौलस्त्यं जयते, हलं कलयते, कारुण्यमातन्वते,
म्लेच्छं मूर्च्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यम् नमः,
कारुण्यं कृणामातन्वते बुद्ध-रूपेण विस्तारयते।

बुद्ध ने हिन्दुओं के सांस्कृतिक दाय का उपयोग धर्म के कुछ आचारों को शुद्ध करने के लिए किया। वह नष्ट करने के लिए नहीं, परन्तु अपूर्ण को पूर्ण बनाने के लिए पृथ्वी पर आया। बुद्ध हमारे लिए, इस देश में, हमारी धार्मिक परम्परा का एक अलौकिक प्रतिनिधि है। उसने भारत-भूमि पर अपने अमिट पद-चिन्ह छोड़े। इस देश की अपनी सारी आदतों और रूढ़ियों के बावजूद देश की आत्मा पर बुद्ध की छाप है। दुनिया के दूसरे देशों में उनकी अपनी-अपनी परम्पराओं के अनुसार बुद्ध के उपदेश ने निश्चित रूप धारण किए। परन्तु यहाँ बुद्ध के अपने घर में उसकी शिक्षा हमारी संस्कृति में समाविष्ट हो गई और उसका आवश्यक अंग बन गई। बुद्ध द्वारा ब्राह्मण और श्रमण एक से माने गये, और यह दोनों परम्पराएँ धीरे-धीरे घुल-मिल गईं। यह कहा जा सकता है कि बुद्ध ही आधुनिक हिन्दुत्व का निर्माता है।

कभी-कभी, अनन्त बार अँधेरे में टटोलने पर मानव-जाति अपना निर्माण करती है, अपने अस्तित्व की सार्थकता को एक महान चरित्र के रूप में प्राप्त करती है, और फिर धीरे-धीरे विलयन की प्रक्रिया में खो जाती है। बुद्ध चाहता था कि एक नये प्रकार का स्वतन्त्र मनुष्य विकसित हो, जो सब पूर्व-मान्यताओं से स्वतन्त्र हो, जो अपना भविष्य स्वयम् बनाये, जो अपना दीपक स्वयम् बने (अत्तदीप)। उसका वाद मानव-जाति और राष्ट्रीय सीमाओं से परे था। आज दुनिया के सभी

मामलों में जो अव्यवस्था जान पड़ती है, वह मनुष्यों की आत्मा के भीतर की अव्यवस्था व्यक्त करती है। इतिहास का विषय अब न यूरोप है न एशिया, न पूर्व है न पश्चिम, परन्तु उसका विषय सभी देशों और काल-खण्डों की मानवता है। राजनैतिक विभाजन और विभिन्नताओं के होने पर भी दुनिया एक है, इस बात को हम चाहे पसन्द करें या न करें। सब के भाग्य सबसे गुँथे हुए हैं। परन्तु हम एक प्रकार की आत्मिक थकान, वैयक्तिक और सामूहिक अहंभाव की वृद्धि से पीड़ित हैं। इसी कारण विश्व-समाज के आदर्श की पूर्ति कठिन जान पड़ती है। आज हमें विश्व के विषय में उस आध्यात्मिक दृष्टिकोण की आवश्यकता है जिसे यह देश अपनी सारी ग़लतियों और मूर्खताओं के बावजूद, निरन्तर मानता रहा है, और जो मनुष्य-जीवन के दर्वाजों और खिड़कियों को तोड़कर फिर से उसके जीवन में प्रवाहित हो सकता है। हमें आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के खोये हुए आदर्श को पुनः प्राप्त करना है : आत्मलाभान्न परम विद्यते। यदि हमें शांति प्राप्त करनी है तो हमें वह आंतरिक सामंजस्य रखना ज़रूरी है, वह आत्मिक संतुलन, जो शांति के लिए आवश्यक है। हमें अपने आप को बचाना है चाहे और सब कुछ भले ही नष्ट हो जाये। जो आत्मा स्वतन्त्र है, वह अपने प्रेम पर कोई बन्धन नहीं लगाती, वह मानवमात्र में एक दैवी स्फुलिंग देखती है, और मानव-जाति के कल्याण के लिए आत्मार्पण तक करने को प्रस्तुत रहती है। वह पापाचरण को छोड़ अन्य सब प्रकार के भय छोड़ देती है। वह काल और मरण के बन्धनों को लांघ जाती है और अनन्त जीवन में अविनाशी शक्ति पाती है।

सर्वपल्ली राधाकृष्णन

पहला अध्याय

बौद्ध-धर्म का आरम्भ तथा बुद्ध चरित

वैदिक यज्ञ-प्रधान धर्म प्राचीन भारत में आर्यों के मन पर हावी था। धीरे-धीरे वह स्वयं इतना कर्म-कांडमय बन गया कि उसका विरोध शुरू हो गया। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि यज्ञ भव-सागर से परलोक में ले जाने वाली नौका तो है, परन्तु वह डगमागाती हुई और बिना भरोसे की नौका है।[1] अन्यत्र यह भी कहा गया है कि यज्ञ से मिलने वाला पुण्य अल्पजीवी है। भारतीय तत्वज्ञान का आरम्भ, नासदीय सूक्त पर जो स्वतन्त्र भाष्य[2] रचे गये, उनसे होता है। यज्ञ-याग की विधियों हटकर चिन्तकों का मन अन्य विषयों की ओर लगा। धीरे-धीरे आश्रम-व्यवस्था यानी वानप्रस्थ और संन्यास धर्म की ओर हमारे तत्वचिन्तक झुके। यह मार्ग केवल ब्राह्मणों के लिए ही नहीं था। जनक जैसे क्षत्रिय भी विदेह बन सकते थे। आर्य विरक्तों के अतिरिक्त अनार्य साधु या वैरागी अवश्य रहे होंगे, जिनके उल्लेख नहीं मिलते। उदाहरणार्थ, मक्खली गोसाल ऐसे अनार्य विचारों का प्रतिनिधि था। अनार्य साहित्य में श्रमण शब्द बार-बार आता है। निगंठ (जैन) और आजीव (आजीविक) जैसे पाँच श्रमण गिनाये गये हैं। वैदिक विष्णु-सूक्त में दूसरे लोक की और यम-सूक्त में मरणोपरान्त इस लोक में लौट आने की कल्पनाओं के बीज हैं। उपनिषदों में बार-बार इस लोक की दुःखमयता और अमर जीवन की शाश्वत टोह के उल्लेख मिलते हैं।

बुद्ध की प्रतीत्यसमुत्पाद वाली कारण-सरणि, सम्भवतः इन सूत्रों से निकली हो। माध्यमिक बौद्धों का "चतुष्कोटि विनिर्मुक्त" वाला भाव मांडूक्योपनिषद् के अन्तिम अनुवाक् में ज्यों का त्यों मिलता है।[3] ओल्डेनबर्ग ने अपने जर्मन ग्रन्थ

---

१. प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपाः (मुण्डक १,२,७)

२. ऋग्वेद, दशम मण्डल, १२९

३. नान्तः प्रज्ञम् न बहिः प्रज्ञम् उभयतः प्रज्ञम्...... नाप्रज्ञम्

"फिलासफ़ी डेर उपनिषदेन उंड आनूफाउङ्गे डेर बुद्धिस्मस" में इसका विवेचन किया है।

बुद्धपूर्व साहित्य में अनात्मवाद का कोई संकेत नहीं मिलता। बृहदारण्यक उपनिषद् में कुछ अस्पष्ट संकेत हैं—'मृत्यु के पश्चात संज्ञा नहीं रहती' इत्यादि। परन्तु बौद्धों का 'अनत्ता' का सिद्धान्त इससे नहीं निकला। जीवन की क्षणभंगुरता या पाँच तत्वों का मृत्यु से पाँच तत्वों में मिल जाना, यह एक सामान्य बात हुई। अवैदिक विरक्ति-प्रधान पंथों के बारे में, सूयगदू (श्वेताम्बर जैनियों के प्राकृत धर्मग्रन्थ का दूसरा भाग) या पालि दीर्घ-निकाय के सामन्नफल सुत्त आदि से कुछ सूचना मिलती है। गिलगित में प्राप्त दीर्घ-निकाय की संस्कृत की हस्तलिखित पोथी से भी इस सूचना की पुष्टि होती है। इन जैन-बौद्ध प्राचीन सूत्रों से अनात्मवाद के मूल का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। ब्राह्मणों में जिन्हें परिव्राजक कहा गया, उन्हें ही मस्करिन, (मस्कर नामक बाँस का डंडा साथ में रखने वाले) तापस और मुण्डक कहा गया है। ये स्थान-स्थान पर नित्य विचरण करने वाले साधु थे। एक उपनिषद् का ही नाम मुण्डक पर रखा गया। सुत्तनिपात से पता चलता है कि सिर मुँडाना वैदिक और अवैदिक दोनों पंथों में सामान्य प्रथा थी। कुछ संन्यासी वस्त्रों से अपने पंथ का नाम रखते थे, यथा श्वेताम्बर अथवा गेरूय या दिगम्बर। कपड़े जिस चीज़ के बनते थे, उससे भी पंथों के नाम रखे जाते थे, यथा केशकम्बलिन। इन अवैदिक सिद्धान्तों की छानबीन करने पर पता चलता है कि जैन सूत्रों में ऐसे ३६३ पंथ और बौद्ध सूत्रों में ६२ या ६३ पंथ गिनाये गये हैं। महावीर क्रियावादी कहे गये हैं और अजित-केशकम्बलिन अक्रियावादी। अक्रियावादी चार्वाकपंथी या लोकायतिक थे। अज्ञानवाद के आचार्य संजय बेलट्ठिपुत्त थे। इन्हें ही बौद्धों ने विक्षेपवादिन्, या किसी भी सिद्धान्त को न मानने वाला कहा है। बौद्ध सूत्रों में विनयवाद को सिलब्बत परामास या शरीर-पीड़न से मुक्ति मानने वाला कहा गया है। इस प्रकार के अतिवादों से कुछ नहीं होता, ऐसा भी बौद्ध मानते हैं। संजय ने बौद्ध तर्कों का उत्तर नहीं दिया। जैनियों ने अनेकान्त के रूप में उसमें से मार्ग निकाला।

बौद्ध साहित्य में बुद्ध के समसामयिक ६ वरिष्ठ गुरुओं का बार-बार उल्लेख किया गया है। अजातशत्रु को ऐसे कई गुरु मिले थे। इनमें पहले थे निगंठ नातपुत्त। ये महावीर से भिन्न थे। पार्श्वनाथ महावीर से २५० वर्ष पहले हुए। पार्श्वनाथ ने चार नैतिक सूत्र निर्मित किए थे, महावीर ने चौथे सूत्र अपरिग्रह के दो हिस्से करके पाँच सूत्र बनाये। पार्श्वनाथ के चेले 'अचेलक' या नग्न थे। महावीर के शिष्यों ने वस्त्र पहने। यही दोनों में प्रधान अन्तर है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार श्रावस्ती में पार्श्वनाथ

और महावीर के शिष्य एकत्रित हुए। बाद में जैनियों ने पार्श्वनाथ से पहले २२ और तीर्थंकर दिखला कर इस एकता को सिद्ध किया। परन्तु पी० एल० वैद्य के अनुसार पार्श्वनाथ और महावीर ने दो विभिन्न कालखण्डों में स्वतन्त्र रूप से अपने दर्शन निकाय आरम्भ किये, जिनकी भित्ति एक-सी थी। निगंठ नाथपुत्त के जो चार संयम 'सामन्न फल सुत्त' में बताये गये हैं वे 'उदंबरिक सीहनाद सुत्त' में बताये संयमों से भिन्न हैं। पर दोनों ही पार्श्वनाथ के चार नीति-नियमों जैसे ही हैं। जैन-मत केवल नीति-नियमों का आचार-धर्म नहीं, परन्तु अनेकान्त और स्याद्वाद पर आधारित दर्शन भी है। अंगुत्तर-निकाय में और टीका निपात के बौहत्तरवें सुत्त में जैन-दर्शन के पाप-मोचन सिद्धान्त का मज़ाक उड़ाया गया है।

बुद्ध का दूसरा समकालीन था मक्खलि गोसाल। वह अचेलक या नग्न साधु था। वह पहले महावीर का शिष्य था और बाद में विरोधी होगया। उसने आजीवक पंथ चलाया। बाद के लेखक नंद वच्छ और किस संकिच्च नामक दो और पूर्व चिंतक मानते हैं। गोसाल का सिद्धान्त अब कोई नहीं मानता, परन्तु किसी ज़माने में उसका संसार-विसुद्धिमार्ग बड़ा लोकप्रिय था। वह एक प्रकार का जड़ नियतिवादी था। प्रत्येक व्यक्ति को संसार में निश्चित अवधि के लिए दुःख भोगना ही पड़ता है, ऐसी उसकी मान्यता थी।

शेष चार चिन्तक जो बुद्ध के समकालीन कहे जाते हैं, उनका महावीर या गोसाल की भाँति प्रभाव नहीं रहा। पूर्ण कस्सप अक्रियावादी थे। वे किसी भी कर्म में पुण्य या पाप मानते ही नहीं थे। अजित-केशकम्बलिन भी एक प्रकार के भौतिकवादी थे, परलोक या मानवोपरि शक्तियों में उनका विश्वास नहीं था। पकुध कच्चायन, जो शायद प्रश्नोपनिषद् में उल्लिखित ककुद कात्यायन हों, और जिनका उल्लेख श्वेताम्बर ग्रन्थ में है, अशाश्वतवादी थे। उनके अनुसार सात ऐसे तत्व हैं जो सदा रहते हैं, मिटाये नहीं जा सकते। शेष सब अनित्य हैं। चौथे चिंतक संजय बेलुट्ठिपुत्त थे। अजातशत्रु कहते हैं कि जितने गुरु उन्हें मिले उन सब में सबसे मूर्ख ये ही थे। वे विक्षेपवादी थे। वे किसी भी प्रश्न का निश्चयात्मक उत्तर नहीं देते थे। दस प्रश्न ऐसे हैं जिनका कोई उत्तर नहीं मिलता, न दिया जाता है, संजय ने उन प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया, और बौद्ध-मत में भी उन प्रश्नों को अनुत्तरित ही रहने दिया है।

बुद्ध के पूर्वकालीन और समकालीन इन छः मत-मतान्तरों पर विचार करने से यह सहज स्पष्ट हो जायगा कि बुद्ध ने नया मत क्यों चलाया और वह इतना लोकप्रिय क्यों हुआ?

१. पकुध कच्चायन और अजित केशकम्बलिन "सब्बम् अत्थि, सब्बम् नात्थि,' मानते थे। इन्हें ही शाश्वतवाद और उच्छेदवाद कहते हैं।

२. गोसाल का विश्वास यह था कि वस्तुजात का रूप पूर्वनिश्चित है और उसका कोई मूल कारण नहीं : सब्बम् पुब्बेकतहेतु और सब्बम् अहेतु-अपच्चया।

३. दूसरे चिंतकों का विचार था कि सुख-दुःख अपने ही कर्मों का फल है या फिर उसका कोई और कारण है : सुखदुक्खम्-परकतम्।

४. और एक विश्वास यह भी था कि जीवन का ध्येय है खाओ, पीओ और खूब मौज उड़ाओ या फिर आत्म-पीड़न करो : कामेसु काम सुखल्लिकानुयोगो और अत्तकिलमथानुयोगो।

इस प्रकार उस समय की दार्शनिक स्थिति यह थी कि क्या महावीर और क्या बुद्ध दोनों को ही अतिवादी विचारकों से पाला पड़ा था। महावीर ने अनेकांतवाद और शून्यवाद से एक रास्ता निकाला, बुद्ध ने प्रतीत्य-समुत्पाद से। जबकि एक ओर महावीर अपने अत्तकिलमथ अथवा आत्म-पीड़न के सिद्धान्त पर डटे रहे, कस्सप, अजित, गोसाल और संजय के विरुद्ध तब बुद्ध ने मज्झिम-पतिपदा या मध्यमार्ग का उपदेश दिया।

बुद्ध-चरित

ईसापूर्व ६२३ में बुद्ध का जन्म हुआ। उसके पिता शुद्धोदन, कोशल के अधीन सूर्यवंशी राजा थे जो शाक्य गणतंत्र के प्रमुख शासक थे। उसकी माता महामाया कपिलवस्तु से अपने मायके देवदह जा रही थी जब लुम्बिनी वन में सुपुष्पित दो शाल वृक्षों के बीच में बुद्ध का जन्म हुआ। ढाई सौ वर्ष बाद अशोक ने बुद्ध के जन्म-स्थान पर जो स्मारक बनवाया वह आज भी इस घटना का साक्षी है। असित नामक एक वृद्ध संन्यासी शुद्धोदन के महल में आये और उन्होंने नवजात शिशु को देखा। उसके सौभाग्यशाली लक्षणों को देखकर उन्होंने प्रसन्नता से कहा कि दुनिया में एक उद्धारक आ गया है। उनकी आँखों से आँसू झर पड़े, क्योंकि अतिवृद्ध होने से वह इस बालक की उपलब्धियाँ देखने जीवित नहीं रह सकेंगे। बालक का नाम गौतम रखा गया, जबकि उसे सिद्धार्थ कह कर पुकारा जाता था। शाक्य-जन बुद्ध का जन्मोत्सव मना रहे थे कि बुद्ध-जन्म के सात दिन बाद महामाया की मृत्यु हो गई। गौतम का पालन उसकी सौतेली माँ और महामाया की बहिन महाप्रजापति गौतमी ने किया। बचपन से ही गौतम एकांत प्रिय, गम्भीर और मननशील थे। यह देखकर पिता ने उनके लिए तीन ऋतुओं में विलास-योग्य तीन प्रासाद बनवा दिये, यशोधरा से उनका विवाह करा दिया। कई प्रकार के नृत्य-संगीत के

प्रबन्ध करा दिये। परन्तु होनी कुछ और ही थी। कोमल-हृदय राजपुत्र ने एक जरा-जर्जर, एक रोग-जर्जर और एक मृत व्यक्ति को देखा, और बाद में एक विरक्त संन्यासी को भी देखा। उसके मन में दुःख का कारण जानने की इच्छा उत्पन्न हुई। गौतम को यशोधरा से एक पुत्र भी हुआ। यह समाचार सुनकर गौतम ने कहा कि एक राहुल (बाधा) पैदा हुई है। शुद्धोदन ने सोचा कि चलो, इसका नाम राहुल ही रख दें। शायद इसी कारण संसार में बुद्ध का मन लगा रहेगा। परन्तु एक मध्यरात्रि को जब नर्तिकाएँ बुद्ध के मन को बहलाने का यत्न कर रहीं थीं, गौतम का मन उचाट हो गया। वह अपनी पत्नी और बच्चे को सोता हुआ छोड़कर, जिससे किसी को पता न चले ऐसे चुपचाप, घोड़े पर बैठकर जंगल की ओर चला गया। वहाँ उसने अपने राजसी परिधान छोड़ दिये, तलवार से अपने लम्बे बाल काट डाले और वह विरक्त बन गया।

सबसे पहले वह एक गुरु आडार कालाम के पास गया, फिर दूसरे गुरु उद्दक रामपुत्र के पास। उसने उनसे जो कुछ सीखना था, वह सीख लिया फिर भी उसकी सत्य-ज्ञान की प्यास अनबुझी रही। वह अन्त में बोधगया के पास एक सुरम्य प्रदेश में पहुँचा, जहाँ चारों ओर घने जंगल थे, रुपहली रेती के बीच से झरने बहते थे। गौतम ने इस सामान्य विश्वास से कि शरीर-यातना से मन अधिक उदात्त बनता है, कई प्रकार की तपस्याएँ कीं। परन्तु उसने देख लिया कि इस मार्ग से कुछ नहीं मिलता। छः वर्ष तपश्चर्या करने पर, जब वह ३६ वर्ष का था, उसके मन में यह भाव जगा कि वह संबोधि प्राप्त करेगा। दोपहर को सुजाता ने उसे खीर दी। शाम को एक घास काटने वाले ने उसे सूखी घास की पूलियाँ सोने के लिए दीं। इन्हें शुभ शकुन मानकर एक पीपल के वृक्ष के नीचे वह जमकर बैठ गया, यह निश्चय करके कि "चाहे मेरा चर्म, मेरी नाड़ियाँ और मेरी हड्डियाँ गल जायँ, मेरा रक्त सूख जाय, मैं इस मुद्रा से नहीं उठूँगा, इसी आसन पर दृढ़ रहूँगा, जब तक कि मुझे पूर्ण ज्ञान प्राप्त न हो" (महानिद्देस, पृ० ४७६)। यह प्रतिज्ञा करने पर मार ने उसे डराने के लिए पहले झंझावात चलाए, प्रभंजन भेजे। परन्तु मार के ये अस्त्र बोधिसत्व तक न पहुँच सके, वे फूलों में परिणत हो गये। बोधिसत्व को स्वर्ग में पुनर्जन्म के प्रलोभन भी मार ने दिये। पर उनका कुछ भी प्रभाव न हुआ। मार आखिर पराजित होकर चला गया, उसकी सेना सब दिशाओं में भाग गई। उसी रात को गौतम को कारण-चक्र का पता लगा। इसका विचार पहले किसी चिन्तक ने नहीं किया था। इस विचार से बोधिसत्व बुद्ध बन गये। विनयपिटक के महावग्ग में (१,१,७) लिखा है कि **"जब उस जिज्ञासु के लिए सब बातें स्पष्ट हो गईं, मार की सेनाओं को भगाकर, वह आकाश के सूर्य की भाँति प्रदीप्त हुआ।"**

इस प्रकार चार सप्ताह उसने बोधिवृक्ष के नीचे साधना में बिताये। इसके बाद वह यात्रा पर निकला। राह में मार की लड़कियों ने उसे घेर लिया और उसे लुभाने की बड़ी कोशिश की। परन्तु भगवान बुद्ध दृढ़चित्त रहे। उन्होंने कहा कि ऐसे प्रयत्न उन पर प्रभाव डाल सकते हैं जिन्होंने अपने मन को वशीभूत नहीं किया है, परन्तु उनका बुद्ध पर कोई प्रभाव नहीं हो सकता[1]। बाद में बुद्ध को दो व्यापारी मिले, जिनके नाम थे तपुस्स और मल्लिक। उन्होंने बुद्ध को जौ और मधु का खाद्य दिया। वे बुद्ध के पहले शिष्य बने। बुद्ध के मन में पहले यह शंका हुई कि लोभ और द्वेष से भरी दुनिया में अपना यह सत्य मैं क्यों बताऊँ? परन्तु बाद में उसे आत्म-विश्वास हुआ कि कुछ लोग तो ऐसे मिलेंगे ही जिनकी दृष्टि साफ होगी। वह इसी विचार से बनारस के पास ऋषिपत्तन (सारनाथ) में मृग-वन में पहुँचे, जहाँ उन्होंने धर्मचक्र-प्रवर्तन किया। यही मध्यम-मार्ग का पाँच शिष्यों को उपदेश कहा जाता है, और संघ की स्थापना इस प्रकार से हुई।

उरुवेला का काश्यप एक अग्निपूजक जटाधारी ब्राह्मण था जो बड़ा यज्ञ कर रहा था। बुद्ध ने वहाँ एक लोकोत्तर चमत्कार दिखलाया। बुद्ध की अनुमति के बिना ब्राह्मण अग्नि प्रज्ज्वलित न कर सके। जब अग्नि जल उठी तो बहुत बड़ी बाढ़ आ गई। बुद्ध ने यज्ञ करने वालों को बचा लिया। काश्यप और उसके चेले बुद्ध के शिष्य बन गये। बुद्ध उन सबको लेकर गयाशीर्ष में गये और वहाँ से मगध की राजधानी राजगृह में। मगध के राजा बिंबिसार ने एक वंशवन संघ को विहार के रूप में दान दिया था। मगध में संजय रहते थे, जिनके कई शिष्य थे। सारिपुत्र और मौद्गल्यायन भी उन्हीं में से थे। सारिपुत्र ने एक बौद्ध भिक्षु अश्वजित के मुँह से सुना था कि:

"उन वस्तुओं के बारे में जिनका कारण है, और जो कारण है, उसके बारे में बुद्ध ने ज्ञान दिया है, और उनका दमन भी किस प्रकार किया जाए यह भी उस महान विरक्त ने बता दिया है।"[2] सारिपुत्र भी बुद्ध का शिष्य बन गया और उसके पीछे मौद्गल्यायन भी। संघ में ये दो बुद्धिमान ब्राह्मण आ जाने से उसका गौरव बढ़ा। वे भगवान बुद्ध के प्रधान शिष्य बने। उनके धातु आज भी सुरक्षित हैं और बौद्ध तीर्थों में पूजे जाते हैं।[3]

---

१. निदानकथा, पैरा १३१

२. विनय, महावग्ग (१,१०,२३)

३. नवम्बर १९५२ में ये अस्थि-अवशेष साँची में एक विशेष रूप से निर्मित स्तूप में पुनः प्रतिष्ठित किये गये। ये पहले साँची से लन्दन के एक म्यूजियम में ले जाये गये थे। ये वापिस लाये गये।

संबोधि के एक वर्ष बाद शुद्धोदन ने अपने पुत्र को कपिलवस्तु में बुलाया। शुद्धोदन ने अपने पुत्र की अगवानी की। बुद्ध अब एक साधु पुरुष हो गया था। दूसरे दिन बुद्ध ने नगर की फेरी की और भिक्षा माँगी। उसकी पत्नी यशोधरा को बुद्ध अब अधिक दिव्य पुरुष जान पड़े। वह उनके चरणों में अर्पित हो गई, और अपने पुत्र से बोली, "राहुल अपने पिता से अपना दाय माँग।" बुद्ध ने उसे भी अपना शिष्य बनाकर संघ की शरण में ले लिया। परिवार का नापित उपाली भी भिक्षु बना। श्रावस्ती के एक धनी व्यापारी अनाथपिंडिक ने पूरा जेतवन, इतनी सुवर्ण मुहरें देकर जिनसे सारी जमीन ढक जाए, खरीद लिया और वहाँ जेतवन विहार बनवा दिया। कोशल का राजा प्रसेनजित, विशाखा नामक एक धनी स्त्री और कोशल के कई अन्य प्रसिद्ध व्यक्ति बुद्ध के शिष्य बन गये। वह बाद में राजगृह गये जहाँ वे बीमार पड़ गये। जीवक नामक राज-वैद्य (कुमार भृत्य) ने उनका इलाज किया। जीवक भी बुद्ध के शिष्य हो गये।

तीन साल बाद शाक्यों और कोलियों के बीच नदी के पानी को लेकर बड़ा झगड़ा पैदा हो गया। भगवान बुद्ध ने बीच-बचाव न किया होता तो बहुत बड़ा फ़साद हो जाता। इसके बाद ही शुद्धोदन की मृत्यु हो गई। गौतमी ने अपने पुत्र से कहा कि मुझे भी संघ में ले लो। बुद्ध के प्रधान शिष्य आनन्द ने उसकी बात का समर्थन किया और वह प्रथम भिक्षुणी बनी। इस प्रकार भारत में पहली बार एक स्त्री के लिए भी घर छोड़ कर आध्यात्मिक मुक्ति प्राप्त करने का मार्ग खुल गया। कई वर्ष बीत गए। बुद्ध और उनके शिष्य देश-भर भ्रमण करते रहे। पुराने अन्ध-विश्वास, जीव-हिंसा और परस्पर-विद्वेष के विरुद्ध शान्ति, मैत्री, करुणा, अहिंसा का प्रचार करते रहे। बुद्ध के चमत्कारिक प्रभाव को देख कर कई ब्राह्मणों ने और अन्य संप्रदाय-वादियों ने बुद्ध के विरुद्ध कई षड्यन्त्र रचे। चिंचा नाम की एक वेश्या को बुद्ध को प्रलोभन में डालने के यत्न में गहरी सज़ा मिली। एक दूसरी सुन्दरी ने कहा कि वह भी बुद्ध से प्रेम करती है। उसका भी वही हाल हुआ।

जब बुद्ध ७२ वर्ष के हुए तो अजातशत्रु ने मगध के राजा अपने पिता बिंबिसार की हत्या करा दी। यह नया राजा संघ के एक भिक्षु देवदत्त का चेला था। दोनों ने मिल कर बुद्ध के प्राण लेने के यत्न किये। परन्तु नतीजा उल्टा ही निकला। देवदत्त ने एक बहुत बड़ा पत्थर बुद्ध पर बड़ी ऊँचाई से गिराने का यत्न किया। पर ज़रा सी चोट ही उन्हें लगी। अन्त में उन पर एक पागल हाथी छोड़ा गया। उसने भी बुद्ध के आगे झुककर प्रणाम किया। देवदत्त ने इन सब प्रयत्नों में

निराश हो संघ में फूट डालने की कोशिश की। नया संघ भी बनाया। पर अन्त में देवदत्त मुँह से खून गिरने के कारण मर गया। वह और षड्यन्त्र न कर सका।

भगवान बुद्ध की मृत्यु के दो वर्ष पूर्व उसके संघ को एक बड़े दुर्भाग्य का सामना करना पड़ा। कोशल के राजा प्रसेनजित का एक शाक्य रानी से पुत्र था, जिसका नाम विडूडभ था। अपनी माता के घर उसका नीच कुल में उत्पन्न होने के कारण अपमान किया गया। उसने गुस्से में प्रतिज्ञा की कि मैं शाक्यों से बदला लेकर रहूँगा। अपने पिता की मृत्यु के बाद उसने पूरी शाक्य जाति को तलवार के घाट उतार दिया। जब वृद्ध बुद्ध ने यह समाचार सुने होंगे तो उनके दुःख का ठिकाना न रहा होगा। फिर भी वे जगह-जगह घूमते रहे और शान्ति, विश्वबन्धुत्व, प्रेम और पवित्रता का उपदेश देते रहे। आम्रपाली नामक नर्तिका ने अपना आम्र-वन संघ को दे दिया।

अस्सी वर्ष की आयु में बुद्ध को लगा कि अब उनका अन्त निकट आ गया है। उन्होंने आनन्द को समझाया कि अब बुद्ध-वाणी ही उनकी निर्देश-दायिनी रहेगी। शाक्यों के क़त्ले-आम के बाद एक ही सप्ताह में सारिपुत्र और मौद्गल्यायन मर गये। तब बुद्ध पावा में थे। चुन्द नाम के एक लुहार ने उन्हें चावल, रोटी और सूकरमद्दव खाने के लिए बुलाया। 'सूकरमद्दव' शब्द के अर्थ पर बहुत से मतभेद हैं, कुछ लोग इसे सूअर का नरम मांस मानते हैं, कुछ लोग एक प्रकार की खाद्य बनस्पति। वह जो भी हो, बुद्ध को वह खाद्य-वस्तु पची नहीं, और उन्हें पेचिश हो गई। उसी बीमारी में वे कुशीनगर पहुँचे। वहाँ दो शालवृक्षों के नीचे उन्होंने आनन्द से एक वस्त्र बिछाने के लिए कहा। दो शाल-वृक्षों के बीच में ही वे जनमे थे, उसी स्थान पर वे मरे। वे एक सिंह की भाँति लेटे रहे, उन्होंने हजारों भिक्षुओं को उपदेश दिया। उनके अन्तिम शब्द थे: "अब, भिक्षुओ, मुझे तुम्हें और कुछ नहीं कहना है। केवल यही कहना है कि जो कुछ बना हुआ है, वह क्षय होगा। निर्वाण के लिए अपने आप उत्साह से यत्न करो।" बड़े राजसी सम्मान से उनका अन्तिम संस्कार हुआ। बुद्ध की अस्थियों को लेकर जो झगड़ा शिष्यों में हुआ, वह द्रोण नामक एक ब्राह्मण ने शान्त किया। भारत के विभिन्न भागों में आठ स्तूप बनाये गये। वहाँ उनके धातु रखे गये। वैशाखी पूर्णिमा की रात्रि को बुद्ध का महापरिनिर्वाण हुआ। वैशाखी पूर्णिमा को ही उनका जन्म हुआ था। वैशाखी पूर्णिमा को ही उन्हें सम्बोधि प्राप्त हुई थी। अतः यह तीन प्रकार से पवित्र दिवस माना जाता है।

दूसरा अध्याय

चार बौद्ध परिषदें

प्रथम परिषद

बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद संघ की प्रथम परिषद राजगृह में बुलाई गई। वहाँ धम्म और विनय निश्चित हुए। अभिधम्म उनका भाग नहीं था। महाकस्सप इस परिषद के सभापति थे, उपालि और आनन्द ने उसमें प्रमुख भाग लिया। चुल्लवग्ग के ११वें खंधक के अनुसार जो परम्परा बताई जाती है, वही दीपवंस और महावंस में भी मिलती है। उसके अनुसार कुशीनगर में बुद्ध-परिनिर्वाण के समय महाकस्सप वहाँ उपस्थित नहीं थे। वह पावा से कुशीनगर आ रहे थे कि राह में बुद्ध की मृत्यु का समाचार उन्हें एक आजीवक पंथ के नग्न साधु ने दिया। सुभद्द नामक एक थेर ने भिक्खुओं को शोक करने से रोका, और कहा—"अच्छा ही हुआ बुद्ध न रहे। गुरु के न होने पर विद्यार्थियों को जैसे मनचाहा काम करने की छुट्टी मिलती है, वैसा ही अब हुआ है।" यह सुनकर महाकस्सप धम्म के भविष्य के विषय में चिन्तित हो उठे। उन्होंने निश्चय किया कि उन पर भगवान बुद्ध का जो उत्तरदायित्व आ पड़ा है, उसे पूरा करने के लिए बौद्ध संघ की सभा बुलाई जाय। तिब्बती दुल्वा और युआन-च्वांग के वर्णनों से यह जान पड़ता है कि बुद्ध के निर्वाण के बाद धम्म भी लुप्त हो जाएगा, ऐसी आशंका केवल सुभद्द के ही नहीं, वरन् सभी के मन में छा रही थी। कुछ विचार के बाद राजगृह संघ का सभा-स्थल चुना गया। यह कहा जाता है कि सप्तपर्णी गुहा के पास संघ की बैठक हुई, किन्तु तिब्बती दुल्वा के अनुसार न्यग्रोध गुहा के पास संघ की बैठक हुई। लोकोत्तरवाद के अनुसार वेभार अथवा वैंभार पर्वत के उत्तर में, और अश्वघोष के अनुसार गृध्रकूट पर्वत की इन्द्रशाल गुहा में संघ की बैठक हुई। पालि वृत्तान्तों से यह भी पता चलता है कि गुहा के बाहर अजातशत्रु ने एक मण्डप बनवा दिया था। अभी तक इस गुहा का निश्चित पता नहीं लगता। परन्तु प्रथम परिषद राजगृह में हुई यह निश्चित है। वहाँ सब सुविधाएँ थीं। चुल्लवग्ग में यद्यपि अजातशत्रु का नामोल्लेख नहीं

मिलता, फिर भी तिब्बती दुल्वा, महावंस और समन्त-पासादिका के अनुसार वहाँ का सब प्रबन्ध अजातशत्रु ने ही करवाया था। वर्षा ऋतु के दूसरे मास में संघ की प्रथम सभा जुटी। चार सौ निन्यानवें भिक्खु इस सभा में आए थे। इस अवसर पर तथा बुद्ध के परिनिर्वाण के स्थान पर जितने भिक्खु उपस्थित थे उन सबका मत लेकर यह संख्या निश्चित की गई थी। युआन-च्वांग भिक्खुओं की संख्या एक हज़ार बतलाता है। परन्तु यह अत्युक्ति भी हो सकती है। क्योंकि यह चीनी यात्री इस घटना के बहुत वर्षों बाद भारत में आया था। पहले आनन्द को इस परिषद् में नहीं लिया गया था। बाद में सब भिक्खुओं के आग्रह पर उसे सम्मिलित किया गया। परिषद् में सम्मिलित होने से पहले आनन्द को उन आक्षेपों का उत्तर देना पड़ा जो उस पर लगाए गए थे।

आनन्द पर जो आक्षेप लगाए गए थे, वे इस प्रकार से थे :—

(१) वह बुद्ध की मृत्यु के शोक से इतना अभिभूत हो गया था कि वह छोटे-छोटे उपनियम निश्चित न कर सका।

(२) बुद्ध का चीवर सीते समय वह उस पर पैर रखकर चला क्योंकि इस कार्य में उसका कोई और सहायक न था।

(३) उसने भगवान के शरीर को पहले स्त्रियों द्वारा अभिवादन करने की अनुमति दी, क्योंकि वह उन्हें रोकना नहीं चाहता था। यह उसने स्त्रियों को महत्त्व देने के लिए भी किया।

(४) उसने भगवान से अपने कल्प-अध्ययन को चलाए रखने की प्रार्थना नहीं की। इस विस्मृति में वह किसी बुरी शक्ति के प्रभाव में आ गया।

(५) महाप्रजापति गौतमी के कारण उसने स्त्रियों को संघ में आने दिया।

तिब्बती दुल्वा के अनुसार दो और आक्षेप आनन्द पर किए गए :—

(६) बुद्ध के तीन बार माँगने पर भी आनन्द ने उन्हें पीने का पानी नहीं दिया।

(७) उसने दुश्चरित्र स्त्रियों-पुरुषों को भी बुद्ध के गुप्तांगों का दर्शन करने दिया। इन दो अन्तिम आक्षेपों का उत्तर देते हुए आनन्द ने यह कहा कि नदी का पानी गँदला था और गुह्यांग दर्शन से पापियों की वासनाओं से मुक्ति हो जाती है। संघ इन उत्तरों से सन्तुष्ट हो गया।

इसी प्रथम परिषद् में चन्न को ब्रह्मदण्ड की सजा दी गई। चन्न बुद्ध का सारथी था। परन्तु उसने संघ के बड़े-छोटे सभी सदस्यों का अपमान किया था। उसका पूरा सामाजिक बहिष्कार किया गया। जब उसे सज़ा सुनाई गई तो चन्न पश्चात्ताप-दग्ध हो गया। वह अर्हत हो गया। तब वह सज़ा से मुक्त हो गया।

संघ की प्रथम बैठक हुई ही नहीं, ऐसी प्रो० ओल्डेनबर्ग की मान्यता है। परन्तु उसका कोई आधार नहीं। इस प्रथम बैठक के चार परिणाम निकले—(१) उपालि के नेतृत्व में विनय की निश्चिति; (२) आनन्द के नेतृत्व में धम्म के पाठ का निश्चय; (३) आनन्द पर आक्षेप और उनके उत्तर; (४) चन्न को सज़ा और उसका परिताप।

दूसरी परिषद

बुद्ध के निर्वाण के एक शतक बाद वैशाली में दूसरी परिषद हुई। चुल्लवग्ग में लिखा है कि वज्जी के भिक्षु दस बातें (दस वत्थूनि) ऐसी करते थे जिन्हें काकण्डक पुत्र यश धर्म-सम्मत नहीं मानता था। वह उन्हें अनैतिक और अधर्मपूर्ण मानता था। वज्जी के भिक्षुओं ने यश को 'पटिसारणीय कम्म' का दण्ड देने का आदेश दिया। यश को अपना पक्ष-समर्थन करना पड़ा। जनसाधारण के सामने उसने अपनी बात अद्भुत वक्तृत्व-कौशल से रखी। इस पर वज्जियों ने "उपेक्खणीय कम्म" नामक दण्ड उसे सुनाया, जिसका अर्थ था यश का संघ से निष्कासन।

उपर्युक्त दस वस्तुएँ चुल्लवग्ग में इस प्रकार से दी गई हैं :—

(१) सिंगिलोण कप्प—अर्थात् एक खाली सींग में नमक ले जाना। यह पाचित्तिय ३८ के विरुद्ध कर्म था, जिसके अनुसार खाद्य संग्रह नहीं करना चाहिए।

(२) द्वांगुल कप्प—जब छाया दो ऊंगल चौड़ी हो तब भोजन करना। यह पाचित्तिय ३७ के विरुद्ध कर्म था, जिसके अनुसार मध्याह्न के बाद भोजन निषिद्ध था।

(३) गामन्तर कप्प—एक ही दिन में दूसरे गाँव में जाकर दुबारा भोजन करना। यह पाचित्तिय ३५ के विरुद्ध कर्म था, जिसके अनुसार अतिभोजन निषिद्ध था।

(४) आवास कप्प—एक ही सीमा में अनेक स्थानों पर उपोसथ विधि करना। यह महावग्ग के नियमों के विरुद्ध था।

(५) अनुमति कप्प—किसी कर्म को करने के बाद उसके लिए अनुमति प्राप्त कर लेना। यह भी भिक्षु-शासन के विरुद्ध था।

(६) आचिण्ण कप्प—रूढ़ियों को ही शास्त्र मान लेना। यह भी उपर्युक्त कोटि का कर्म था।

(७) अमथित कप्प—भोजन के बाद छाछ पीना। यह पाचित्तिय ३५ के विरुद्ध था, जिसके अनुसार अतिभोजन निषिद्ध था।

(८) जलोगिम्पातुम्—ताड़ी पीना। यह पाचित्तिय ५१ के विरुद्ध था, जिसके अनुसार मादक पेय निषिद्ध था।

(९) अदसकम्-निशिदानम्—जिसके किनारे न हों ऐसे कम्बल या रजाई का उपयोग करना। यह पाचित्तिय ८९ के विरुद्ध था, जिसके अनुसार बिना किनारे की चादर निषिद्ध थी।

(१०) जातरूपरजतम्—सोने और चाँदी का स्वीकार करना। यह निस्सग्गिय पाचित्तिय के १८वें नियम के अनुसार निषिद्ध था।

भदंत यश ने ये सब व्यवहार अधर्मशील बतलाए। उन्हें संघ बहिष्कृत कर दिया गया। वहाँ से वे कौशाम्बी गए और उन्होंने पश्चिम प्रदेश के अवन्ती और दक्षिण प्रदेश के भिक्षुओं को बुलवाया, जिससे कि वे मिलकर इस मामले को तय करें, अधर्म प्रसार को रोकें, और विनय की रक्षा करें।

आगे चलकर वह अहोगंगा पर्वत पर पहुँचे जहाँ सम्भूत साणवासी रहते थे। उन्होंने अभिवादनपूर्वक इस विषय पर विचार करने के लिए उनसे कहा। उन्होंने अपनी स्वीकृति दे दी। इसी बीच पश्चिम से ६०, तथा अवन्ती और दक्षिण से ८८ अर्हत वहाँ और आ गए। सब का यह विचार हुआ कि सोरेय्य में जो अर्हत रेवत सहजाति रहते हैं, उनकी राय ली जाय। वे सब वहाँ पहुँचे। रेवत ने एक-एक कर इन दस विषयों को निषिद्ध बतलाया। उधर वज्जी के भिक्खु भी चुप नहीं थे। वे भी रेवत सहजाति के पास पहुँचे। उन्होंने बड़े-बड़े उपहार रेवत को देने चाहे, जो उसने मना कर दिए। रेवत के शिष्य उत्तर को वज्जियों ने किसी तरह राज़ी कर लिया, परन्तु वह भी उनका समर्थन न कर सका। सात सौ भिक्षुओं की एक सभा हुई पर कोई निश्चय न हो सका। पूर्व और पश्चिम के चार-चार भिक्षुओं की एक समिति बनाई गई। भिक्षु अजित स्थान-नियन्त्रक बनाए गए। सब्बकामी सभा-पति बनाए गए। एक-एक करके दसों बातें सामने रखी गईं। सभी अधर्मपूर्ण बताई गईं। संघ की पूरी सभा ने भी यही निर्णय दिया। वज्जी के भिक्षुओं का आचरण अधर्मयुक्त घोषित हुआ।

उपर्युक्त वृत्तान्त चुल्लवग्ग में दिया गया है। महावग्ग और दीपवंस में भिक्षु-संख्या बहुत बढ़ा-चढ़ा कर दी गई है। दीपवंस और समन्त-पासादिक के अनुसार यह सभा अजातशत्रु के वंशज कालाशोक के समय में हुई। कालाशोक पहले वज्जियों के पक्ष में था। बाद में उसने थेर-संघ की बात मान ली। दीपवंस के अनुसार वैशाली के दस हज़ार भिक्षुओं को अलग से एक महासंगीति हुई। महावंस के अनुसार ७०० थेर भिक्खुओं ने धम्म का संकलन किया। बुद्धघोष के अनुसार अन्तिम निर्णय के बाद ७०० भिक्षुओं ने विनय और धम्म का पाठ किया, और एक नया संस्करण तैयार किया जिससे पिटक, निकाय, अंग और धर्मस्कंध बने।

चीनी और तिब्बती स्रोतों के अनुसार, गौण विवरणों में चाहे कुछ मतभेद हो, किन्तु द्वितीय परिषद की कथा सर्वमान्य है। इस परिषद में बुद्ध-धर्म में फूट पड़ गई और महासंघिक अलग हो गए।

तीसरी परिषद

तीसरी परिषद पाटलिपुत्र में प्रियदर्शी अशोक के निर्देशन में हुई। बौद्ध-धर्म में कई पंथ और सम्प्रदाय उठ खड़े हुए थे, उनमें एकरूपता लाना आवश्यक था। केर्न के अनुसार यह तीसरी सभा केवल स्थविरवादियों या विभज्यवादियों की सभा थी। तिस्स मोग्गलिपुत्त ने अशोक को बुद्ध-धर्म में दीक्षित किया था। उसे धर्म के अनुयायियों में अधर्म का प्रवेश देखकर बड़ा दुःख हुआ। उसने इस संघ से सब धर्मद्रोहियों को निष्कासित कर दिया, और अभिधम्म, कथावत्थु का प्रतिपादन किया। तिस्स मोग्गलिपुत्त मेधावी ब्राह्मण थे, सोलह वर्ष की आयु में वे तीनों वेद पढ़ चुके थे। थेरसिग्गव ने उन्हें बौद्ध-धर्म की दीक्षा दी और वे अर्हत पद तक पहुँचे। इन्हीं के प्रभाव से सम्राट अशोक ने अपने पुत्र महिंद और पुत्री संघमित्ता को संघ में प्रविष्ट कराया। वे दोनों श्रीलंका तक गए और उन्होंने सारे द्वीप को बौद्ध बनाया। अशोक के बौद्ध-धर्म स्वीकार करने के बाद विहारों की समृद्धि खूब बढ़ गई। जो बौद्ध-धर्म से निष्कासित हुए थे, वे फिर संघ में लौटने के लिए उत्सुक हो गए। वे अपनी ही बातें अपने ढंग से कहते और करते थे और उन्हें बौद्ध-मत कहकर चलाना चाहते थे। थेर मोग्गलिपुत्त को इससे बड़ा दुःख हुआ और वे अहोगंगा पर्वत पर सात वर्ष तक एकांत में जाकर रहे। संघ में झूठे भिक्षु और धर्मद्रोही इतने बढ़ गए थे कि सात वर्ष तक कोई उपोसथ या पवारणा विधि ही नहीं हुई। अशोक ने आदेश दिया कि उपोसथ मनाया जाए। जिस मन्त्री को यह काम दिया गया था, उसने अशोक की आज्ञा को ठीक तरह से न समझ कर, बड़ी भारी गलती यह की कि जिन भिक्षुओं ने अशोक की इस आज्ञा को मानने से इन्कार कर दिया, उसने उन भिक्षुओं के सिर कटवा डाले। अशोक को जब ये समाचार मिले, वे बड़े दुखी हुए और पश्चात्ताप से उन्होंने क्षमा माँगी। इस विषय पर बौद्धों में दो मत हो गए कि सम्राट ने उचित किया या अनुचित। भिक्षुओं ने कहा कि केवल थेर तिस्स मोग्गलिपुत्त ही इसका निर्णय कर सकते हैं। बड़ी मिन्नतों के बाद थेर तिस्स नाव द्वारा पाटलिपुत्र आए। सम्राट स्वयम् उनकी अगवानी करने पहुँचे। उन्हें बड़े सम्मानपूर्वक आराम से रखा गया। उन्हें एक चमत्कार दिखाने के लिए कहा गया। वैसा करने पर सम्राट का सद्धर्म में विश्वास बढ़ गया। अशोक ने पूछा कि क्या भिक्षुओं के वध के कारण उससे कोई अधर्म हुआ है? थेर ने उत्तर दिया—"बुरे हेतु के बिना कोई अधर्म नहीं हो सकता।" सम्राट का सन्देह

मिट गया। एक सप्ताह तक थेर ने सम्राट को सद्धर्म की शिक्षा दी। इसके बाद सम्राट ने सभी भिक्षुओं की एक सभा बुलाई। सब को अपने-अपने मत प्रतिपादन का अवसर दिया गया। सच्चा मत कौन सा है, यह पूछने पर सब ने विभज्जवाद को मान्यता दी। संघ ने उपोसथ व्रत किया। इससे सब की पाप-वासना और अकुसल-धम्मों से निवृत्ति हो गई। तत्पश्चात् थेर तिस्स ने तीनों पिटकों में पारंगत एक हज़ार भिक्षुओं को चुना जिससे कि वे बौद्ध-धर्म के सिद्धान्त निश्चित कर सकें। नौ महीने तक यह कार्य चलता रहा, और इस प्रकार त्रिपिटक-संकलन का कार्य पूरा हुआ। इसी परिषद् में कथावस्तु-प्रकरण का भी निपटारा हो गया।

तीसरी परिषद् की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि बुद्ध-धर्म के प्रचारक संसार के विभिन्न देशों में भेजे गए। यह बताया जा चुका है कि महिंद और संघमित्ता श्रीलंका में गए और इसी प्रकार अशोक के शिलालेखों से पता चलता है कि कई और बौद्ध-धर्म-प्रचारक एशिया, अफ्रीका और यूरोप में भेजे गए।

चौथी परिषद्

शक या तुरुष्क वंश के शक्तिशाली राजा कनिष्क के तत्त्वावधान में चौथी परिषद् हुई। कनिष्क का साम्राज्य काबुल, गंधार, सिन्ध, उत्तर-पश्चिमी भारत, कश्मीर और मध्यदेश तक फैला था। उत्तर भारतीय बौद्ध उसे अशोक के समान आदर देते थे। सिक्कों की साक्षी से पता चलता है कि कनिष्क पहले कोई ईरानी धर्म मानता था, बाद में वह बौद्ध हो गया। चौथी परिषद् उसने १०० ईस्वी में बुलाई। कुछ लोगों के अनुसार यह परिषद् जालन्धर में, और दूसरों के अनुसार काश्मीर में हुई। दक्षिण के बौद्ध इस परिषद् को मानते ही नहीं। सिंहली ग्रन्थों में इसका कहीं उल्लेख नहीं है। इस परिषद् में बौद्धों के अट्ठारह मत सच्चे माने गए। युआन-च्वांग लिखता है कि कनिष्क हर रोज़ एक नए बौद्ध भिक्षु को बुलाता और यह अनुभव करता कि हर एक का मत दूसरे से भिन्न है। तब उसने पार्श्व से पूछा कि इन मतों में सच्चा कौन सा है? उन्होंने संघ की सभा बुलाने की सलाह दी। कनिष्क ने एक ऐसा विहार बनवाया जिसमें पाँच सौ भिक्षु रह सकें और भिक्षुओं को पिटकों पर भाष्य लिखने के लिए कहा। सुत्त-पिटक, विनय-विभाषा और अभिधम्म-विभाषा में से प्रत्येक में एक लाख श्लोक हैं। इस परिषद् का मुख्य कार्य इन भाष्यों की रचना ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस परिषद् में सर्वास्तिवाद मत के भिक्षु अधिक थे। महायान के कोई प्रतिनिधि सम्मिलित नहीं हुए। क्योंकि यह मत नागार्जुन के बाद बढ़ा। राजतरंगिणी के अनुसार नागार्जुन तुरुष्क राजा के पश्चात् हुए। युआन-च्वांग लिखता है कि ये भाष्य रचे जाने के बाद ताम्रपत्रों पर लिखे गए और

पत्थर की पेटियों में रखे गए, जो इस कार्य के लिए बनाए गए स्तूप में रख दी गईं। केर्न ने लिखा है कि तीसरी परिषद् के साथ बौद्ध मतवादों के पुराने झगड़े समाप्त हो गए, परन्तु इससे नई महत्त्वाकांक्षाएँ पैदा होने में कोई रुकावट नहीं हुई। युआन-च्वांग या तिब्बती स्रोतों से यह पता नहीं चलता कि ये भाष्य किस भाषा में लिखे गए। यह अनुमान किया जाता है कि सारा कार्य संस्कृत में हुआ होगा। केर्न के अनुसार और कोई भाषा ऐसी थी ही नहीं जो चीनी लोग भी जानते हों। इस प्रकार से त्रिपिटक के संस्कृत पाठ ही तब प्रचलित रहे होंगे। चौथी परिषद् का यही बड़ा कार्य था कि बौद्ध दर्शन संस्कृत में सूत्रबद्ध हुआ।

परिशिष्ट १

श्रीलंका में बौद्ध-परिषद

महावंस तथा अन्य सिंहली परम्परा के अनुसार श्रीलंका में तीन परिषदें हुईं। प्रथम परिषद् राजा देवानां पिय तिस्स के राज्य-काल में (२४७ से २०७ ईसा पूर्व) अरिट्ठ थेर के सभापतित्व में हुई। थेर महिंद के लंका में आने पर यह परिषद हुई। जनश्रुति है कि साठ हजार भिक्षु इसमें आए। महिंद के प्रथम सिंहली शिष्य अरिट्ठ थे। उन्होंने सद्धर्म सूत्रों का पाठ किया। यह परिषद अनुराधपुर में थूपाराम में हुई।

दूसरी परिषद् राजा वट्टगामणि अभय (१०१-७७ ईसा पूर्व) के समय हुई। थेरवाद निकाय के बौद्ध इसे चौथी परिषद मानते हैं। सिंहली परम्परा के अनुसार इस परिषद् के अन्त में न केवल त्रिपिटक परन्तु अट्ठकथाएँ भी तालपत्र पर लिखी गईं। ये पाठ सौ बार पढ़े और शुद्ध किए गए। महाथेर रक्खित की अध्यक्षता में ५०० विद्वान भिक्षु इस कार्य में सम्मिलित हुए। इसे अलु-विहार अथवा आलोक-विहार परिषद कहते हैं। इस परिषद को राजा के एक मन्त्री द्वारा सहायता मिलती थी।

१८६५ ईस्वी में, सिंहल में, रत्नपुर में हिक्कदुवे सिरी सुमंगल की अध्यक्षता में एक अन्य परिषद् हुई। पाँच महीने तक वह चलती रही। इद्दमलगोद बसनायक नीलमे ने उसे संरक्षण दिया।

परिशिष्ट २

थाईलैंड (स्याम) में परिषद्

थाई भिक्खु सोमदेज फ्रा वनराट (भदन्त वनरतन) ने राम प्रथम के समय

में यानी बौद्ध संवत २३३२ (१७८९ ईस्वी) में जो संगीतिवंस[1] या प्रार्थनाओं का इतिहास लिखा है, उसमें नौ परिषदों का उल्लेख है। इनमें से पहली तीन भारत में हुई, चौथी से सातवीं तक श्रीलंका में और आठवीं और नौवीं थाईलैंड में हुई। सिंहली स्रोतों में प्रथम पाँच परिषदों का उल्लेख है। थाई-स्रोतों के अनुसार वर्णित छठी से नौवीं तक की परिषदें सही अर्थ में परिषदें नहीं कही जा सकतीं।

छठी परिषद श्रीलंका में राजा महानाम के राज्य-काल में बौद्ध संवत् ९१६ में हुई। इस समय भदन्त बुद्धघोष ने सिंहली भाषा से मागधी (पालि) में भाष्यों के अनुवाद किए। सातवीं परिषद भी श्रीलंका में ही हुई। राजा पराक्रमबाहु के राज्यकाल में, बौद्ध संवत् १५८७ में, यह परिषद राजमहल में, एक वर्ष तक होती रही। इसने महाकस्सप की अध्यक्षता में महाथेरों के त्रिपिटक भाष्य को पुनर्शोधित किया।

थाईलैंड में आठवीं और नौवीं परिषद की बैठक हुई। चिंगमाई में राजा श्री धर्मचक्रवर्ती तिलक राजाधिराज ने यह परिषद बौद्ध-धर्म को सुस्थिर करने के लिए बुलाई। २००० से २०२६ ईसापूर्व के बीच महाबोधि आराम में यह परिषद हुई। थाईलैंड के सब विद्वान भिक्खु इसमें आए। नौवीं परिषद बैंगकाक में बौद्ध संवत् २३३१ में हुई। पुरानी राजधानी अयुधिया (अयोध्या) आग से जल गई और कई ग्रन्थ और त्रिपिटक की हस्तलिखित प्रतियाँ नष्ट हो गईं। बौद्ध संघ में अव्यवस्था-सी मच गई। अनैतिकता फैल गई। राजाश्रय में २१८ वृद्ध और ३२ विद्वान जमा हुए और एक वर्ष तक त्रिपिटक का पारायण करते रहे। कई नए बौद्ध मन्दिर और विहार बनाए गए।

परिशिष्ट ३

बर्मा में परिषद

मांडले में १८७१ ईस्वी में राजा मिन दान मिन के आश्रय में २४०० विद्वान भिक्षु इस संगम में सम्मिलित हुए। जागराभिवंस, नरिंदाभिधज और सुमंगलसामि एक के बाद एक अध्यक्षता करते रहे। त्रिपिटक की विविध प्रतियों को मिला कर पाठ निश्चित किया गया और वे ७२९ संगमरमर की शिलाओं पर उत्कीर्ण किए गए। यह कार्य राजमहल में पाँच महीने चलता रहा।

मई १९५४ में रंगून में छठी महान बौद्ध परिषद शुरू हुई। इसमें संसार के अनेक देशों के भिक्खु जमा हुए। अभिधज महारथ गुरु भदन्त रेवत सभापति बने।

---

१. बैंगकाक की नैशनल लाइब्रेरी में इस ग्रन्थ की दो प्रतियाँ सुरक्षित हैं। यह ग्रन्थ राजा राम षष्ठ के आदेश से बौद्ध संवत् २४६६ (१९२३ ईस्वी) में प्रकाशित किया गया।

बर्मा भर से ५०० भिक्षु बुलाए गए थे, जिन्होंने त्रिपिटक का पुनः शोधन किया। मूल पाठ निश्चित किए गए। वैशाख, १९५६ तक यानी बुद्ध के महापरिनिर्वाण की २५००वीं पुण्य-तिथि तक यह परिषद् त्रिपिटक-शोध का अपना कार्य करती रही। इस छठी परिषद् के समारम्भ के अवसर पर दुनिया के हर कोने से संदेश आए। भारत से राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद तथा प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने जो संदेश भेजे थे, वे नीचे दिए जाते हैं :—

"रंगून में वैशाखी पूर्णिमा को आरम्भ होने वाले चट्ट संगायन को अपनी शुभकामनाएँ भेजते हुए, बुद्ध के परिनिब्बान के बाद प्रायः ढाई हज़ार वर्षों के बीच में ऐसे जो जो संगायन हुए हैं, उनका स्वाभाविक रूप से मुझे स्मरण हो आता है। पहले तीन संगायन क्रमशः राजगृह, वैशाली और पाटलिपुत्र में हुए। ये तीनों स्थान बौद्ध इतिहास में प्रसिद्ध हैं और तथागत के पदचिन्हों से पावन बने हैं। बाद में दोनों संगायन श्रीलंका और बर्मा में हुए। इन देशों ने बुद्ध के उपदेश पाए और आज तक उन्हें अपने जीवन और अपनी संस्कृति में कायम रखा। यह एक बहुत अच्छा विचार है कि अब मूल ग्रन्थों को सम्पादित और संशोधित करके न केवल बर्मी भाषा और बर्मी लिपि में अनुवादित किया जा रहा है, परन्तु साथ ही हिन्दी और अंग्रेज़ी भाषाओं और लिपियों में भी ये अनुवाद कराए जा रहे हैं।

इस संगायन के साथ-साथ यदि एक बड़ा बौद्ध विश्वविद्यालय स्थापित करने का कार्यक्रम हो, तो उसके द्वारा ज्ञान-प्रसार में और भी सहायता होगी। बुद्ध के उपदेशों को पुनर्जीवित करने में तो मदद मिलेगी ही, साथ ही आज के युग में मानव-जाति के आध्यात्मिक और नैतिक अभ्युदय की जो आवश्यकता है वह भी पूरी होगी। यह अभ्युदय केवल भौतिक आवश्यकताओं को अधिक से अधिक पूरा करने से सिद्ध नहीं होगा। परन्तु उसमें वह आध्यात्मिक और नैतिक ज्योति जगानी होगी जिसके आधार पर लोभ, द्वेष और भ्रान्ति-जन्य समस्याओं का समाधान हो सकेगा। ये समस्याएँ ही आज के सब संघर्षों के मूल में हैं और वे मानव-जाति को सर्वनाश की ओर ले जा रही हैं।

हम आशा करें कि इस संगायन द्वारा न केवल उन देशों में जहाँ बुद्ध-धर्म का पालन नहीं हो रहा है वहाँ बुद्ध-धर्म के प्रति प्रेम बढ़ेगा, परन्तु उन लोगों के जीवन में भी, जो कि सौभाग्य से इस धर्म का आज भी पालन कर रहे हैं, श्रद्धा और आदर पुनर्जागरित करने में सहायता मिलेगी। आज की भटकी हुई मानव-जाति में यह संगायन पुनः शान्ति और सद्भावना का संदेश प्रचारित करे।"

—राजेन्द्र प्रसाद

"एक साल पहले या शायद ज्यादह अरसा हुआ हो, बर्मा के प्रधान मन्त्री ने मुझ से कहा था कि एक बड़ी सभा या बुद्ध-धर्म का संगायन बुलाया जा रहा है और वह बर्मा में होगा। मेरा मन पुराने सब संगायनों की ओर गया, राजगृह में मगध के सम्राट अजातशत्रु के ज़माने में पहला संगायन हुआ था तब से लगा कर मांडले में १८७१ में जो संगायन हुआ उस तक। बुद्ध मत के इतिहास में ये संगायन महान पथ-चिन्ह हैं।

अब मैं इस महान धर्म के छठे संगायन का स्वागत करता हूँ। यह एक बड़े ऐतिहासिक महत्त्व के दिन शुरू हो रहा है—बुद्ध की ढाई हज़ारवीं बर्सी पर। वह पूर्णिमा का चाँद जो बुद्ध के जन्म के दिन, संबोधि के और परिनिब्बान के दिन अपनी पूरी आभा से चमका था, वही अब इस शुभ दिन पर भी चमकेगा, मानव-इतिहास के ढाई हज़ार बरस बाद।

दुनिया के सब देशों का यह संगायन बुद्ध के सिद्धान्तों और उपदेशों पर विचार करेगा, और बौद्ध-धर्म के मानने वालों के लिए शायद नए सिरे से उन्हें ग्रथित करेगा। परन्तु बुद्ध इन सब नियमों और सिद्धान्तों से भी बढ़ कर हैं, उन से बड़े हैं, और युग-युगों से उनके अमर संदेश ने मानवता को स्पन्दित किया है। शायद पुराने इतिहास में कभी भी बुद्ध के शान्ति के संदेश की इतनी ज़रूरत नहीं थी, जितनी कि आज की पीड़ित और भटकी हुई मानव-जाति को है। यह बड़ी परिषद उनके शांति के संदेश को फिर से फैलाए और हमारी पीढ़ी को कुछ हद तक दिलासा देने में मदद करे।

बुद्ध की स्मृति में मैं अपनी श्रद्धा अर्पित करता हूँ और रंगून के बड़े संगायन को अपनी आदरपूर्वक शुभकामनाएँ भेजता हूँ। यह संगायन इस मंगलमय समारोह के अवसर पर जुट रहा है, जब कि दुनिया को शान्ति की बड़ी ज़रूरत है।"

—जवाहरलाल नेहरू

तीसरा अध्याय

अशोक और बौद्ध-धर्म का विस्तार

अशोक बौद्ध-धर्म के सबसे बड़े राजाश्रयदाता थे। बौद्ध साहित्य के अनुसार अशोक अपनी जवानी में क्रोधपूर्ण स्वभाव के कारण चंड अशोक कहलाते थे। तब वह विदिशा के राज्यपाल नियुक्त हुए थे। वहीं के एक धनी व्यापारी की लड़की से उन्होंने विवाह किया। जब उन्हें पता चला कि उनके पिता बिन्दुसार मृत्यु-शय्या पर हैं, तब वे पाटलिपुत्र पहुँचे और अपने भाई को छोड़ उन्होंने सबका वध किया। चार वर्ष तक जनता अशोक से इस तरह नाराज़ थी कि राज्याभिषेक जनता के क्रोध की शान्ति के बाद ही हो सका। अशोक के १२वें शिलालेख से पता चलता है कि उन्होंने कलिंग पर चढ़ाई की, और हज़ारों को मार दिया। इस घटना का उन्हें परिताप हुआ। उन्होंने निश्चय किया कि अब कोई सैनिक अभियान नहीं करेंगे, बल्कि धर्मविजय करेंगे। भाबरा शिलालेख में सात ऐसे अंश मिलते हैं, जो कि पालि साहित्य में भी पाए जाते हैं। अशोक चाहते थे कि ये अंश जनसाधारण तक पहुँचें। अपने राज्यकाल के बीसवें वर्ष वे लुम्बिनी वन के उद्यान में पहुँचे, और उन्होंने एक स्तम्भ लगवाया जिस पर एक उत्कीर्णलेख है। इस यात्रा के उपलक्ष्य में वहाँ रहने वाले लोगों को अशोक ने कर देने से मुक्त कर दिया। वह सारनाथ और बोध गया भी गये। सारनाथ में एक खण्डित स्तम्भ मिला है जिससे जान पड़ता है कि जो भी बौद्ध संघ की एकता को तोड़ना चाहे, उन्हें जाति-बहिष्कृत करने का आदेश अशोक ने दिया था। पालि सुत्त, सिगालोवाद सुत्त (दीघनिकाय) में अशोक के धम्म-विषयक विचार ग्रथित हैं। वह अन्य सब धर्म-पंथों के प्रति सहिष्णुता का उपदेश देते हैं, श्रमण, ब्राह्मण, आजीविक, जैन आदि के प्रति वह एक-सा व्यवहार करना चाहते हैं। यह भी सुपरिचित है कि आजीविकों के लिए उन्होंने गुफाएँ दान में दीं थीं। कई प्राणियों की हिंसा उन्होंने निषिद्ध मानी। जीव को जीव पर जीना आवश्यक नहीं। यहाँ तक कि पशुओं को बधिया बनाना और और उन्हें नाल ठोकना भी, कुछ विशेष बौद्ध पर्व-दिनों पर निषिद्ध कर दिया गया था।

अशोक ने अपने साम्राज्य में विभिन्न श्रेणियों के धर्मप्रचारक नियुक्त किये। वह स्वयं धार्मिक यात्राएँ करते थे। स्थान-स्थान पर उन्होंने शिलालेख उत्कीर्ण कराये। वृक्षारोपण किया, कुएँ खुदवाये, मनुष्यों और पशुओं के लिए चिकित्सालय खुलवाये, न केवल अपने देश में परन्तु पड़ोसियों के देश में भी यथा चोल, पाण्ड्य आदि देशों में। विदेशों में भी उन्होंने धर्म-प्रचारक भेजे : उत्तर में यवनों के देश में, गान्धार, काश्मीर, हिमाचल-प्रदेश में, पश्चिम में अपरान्तक में, दक्षिण में बनवासी और मैसूर में, श्रीलंका और सुवर्ण-भूमि (मलाया, सुमात्रा) में। तेरहवें शिलालेख यह भी जाना जाता है कि सद्धर्म के प्रचारक दूर देशों में जैसे सीरिया के राजा एंटिओकस (अंतियोका) द्वितीय, तथा अन्य चार राजाओं के राज्य में भेजे गए। उदाहरणार्थ, मिस्र के टालैमी (तुरमेय), मैसेदोनिया के एंटिगोनस (अन्तकिनि), इपिरस के अलैक्ज़ैण्डर (अलिकसुंदर), सिरैनिया के मागाओं के पास और उत्तरी अफ्रीका में भी ये धर्म-प्रचारक भेजे गए। इस सन्दर्भ में उसने यवन, काम्बोज, पाण्ड्य, चोल, आन्ध्र, पुलिन्द, श्रीलंका आदि के नामों का उल्लेख किया है। दूसरे शिलालेख में यह कहा गया है कि प्रायः इन सब देशों में अशोक ने अस्पताल खुलवाये, कुएँ और तालाब खुदवाये, और वृक्ष तथा औषधियों की वनस्पतियाँ सब के सुख और कल्याण के लिए रोपीं। बुद्ध-धर्म के व्यापक प्रचार और प्रसार में अशोक का कार्य महत्त्वपूर्ण है। उन्हीं के कार्य को कनिष्क ने आगे बढ़ाया और धर्म-प्रचारक मध्य एशिया, चीन, जापान, तिब्बत, बर्मा, थाइलैण्ड, कम्बोडिया आदि देशों में भेजे।

भारत

परिनिर्वाण के बाद प्रथम और द्वितीय शती में बौद्ध-धर्म अन्य संन्यास मार्गों से अलग नहीं किया जा सकता था। मौर्य-काल में बौद्ध-धर्म, विस्तार की बड़ी सम्भावनाओं के साथ, एक महत्त्वपूर्ण धर्म बनकर आगे आया। इस आरम्भिक काल में भी बौद्ध-धर्म का क्षेत्र मगध और कोसल तक ही सीमित था। मथुरा और उज्जयिनी में कुछ छोटी-छोटी मण्डलियाँ बौद्धों की थीं। बुद्ध के सौ वर्ष बाद वैशाली में जो दूसरा संगायन बुलाया गया उसमें सुदूर स्थानों से यथा पाथेय, अवन्ती, कौशाम्बी, संकाश्य और कन्नौज से बौद्ध मण्डलियों को बुलाया गया। मौर्यकाल के आरम्भ में मथुरा बौद्धों का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया था।

इस काल-खण्ड में बौद्ध सम्प्रदाय का इतिहास स्थिर नहीं था। बौद्ध-धर्म के क्रमशः विकास के कारण और दूर-दूर रहने वाले विभिन्न मतों को मानने वाले लोगों के बीच में सीधा सम्बन्ध न होने के कारण, संघ की एकता टूटती जा रही थी। स्थानिक प्रभाव ज़ोर पकड़ रहे थे, और उन्हें अलग-अलग ढंग से आकार दे रहे थे।

अशोक के राज्यकाल में ही, संघ में गम्भीर दरारें शुरू हो गई थीं और इसी कारण से शिलालेखों में बार-बार यह उल्लेख है कि "संघ में फूट न हो"।

शुङ्गों के आने पर बौद्ध-धर्म को राजाश्रय मिलना बन्द हो गया। बौद्ध ग्रन्थों में पुष्यमित्र शुङ्ग को बौद्धों का पीछा करने वाला माना गया है। परन्तु इससे कोई असर जनता पर नहीं हुआ। जनता के बौद्ध-धर्म के प्रति अगाध प्रेम के कारण ही शुङ्ग-कण्व काल में बौद्ध-धर्म फूला-फला। इस काल में बौद्ध-स्मारकों पर अंकित कितने ही लोगों द्वारा दिए गए व्यक्तिगत दान से उपर्युक्त बात का समर्थन होता है। भरहुत-स्तूप, कार्ले की गुफाएँ, साँची का स्तूप, शुङ्ग-कण्व काल के ही हैं। बौद्ध-धर्म मठों तक ही सीमित न रहकर अब जनसाधारण का धर्म बन गया था। उसमें मूर्ति-पूजक धर्मों की भाँति उपासना-तत्त्व घुसने लगे।

इस समय उत्तर में ग्रीकों ने बौद्ध-धर्म अपनाया। मिनान्दर राजा बौद्ध-धर्म का बड़ा प्रचारक था। शाकल[1] में अपनी राजधानी कायम करने पर, उसने कई धर्म-कार्य किए। मिनान्दर के ही समय से भारत में जो ग्रीक थे उन्होंने बौद्ध-धर्म को अपना लिया। पालि स्रोतों से जान पड़ता है कि ग्रीकों ने धर्म-प्रचार में भी योगदान दिया। यवन देश के बौद्ध-धर्म अपनाने के बाद मोग्गलिपुत्त तिस्स वहाँ गए और एक ग्रीक थेर धर्मरक्षित को प्रचार कार्य के लिए चुना। धर्मरक्षित को बाद में अपरान्तक देश में भेजा गया जहाँ उसने हज़ारों स्त्री-पुरुषों और सामन्तों को बौद्ध-धर्म की दीक्षा दी। भारत में ग्रीकों ने बौद्ध कला की एक नई शैली चलाई जिसका विकास पंजाब और उत्तर-पश्चिमी भारत में हुआ।

अशोक के राज्यकाल में बौद्ध-धर्म भारत में इस तेज़ी से फैला कि उसके अट्ठारह पंथ बने। यह भेद सैद्धान्तिक उतने नहीं थे, जितने भौगोलिक थे। बौद्ध-धर्म के विकास के साथ-साथ अलग-अलग प्रदेशों में पंथ बने। उन्हें संगठित करने वाली या एकरूपता देने वाली कोई व्यवस्था न होने से पुराने उपदेशों को उन्होंने अपने-अपने तरीके से आगे बढ़ाया। कई पंथ-भेद तो मिट भी गए। बुद्ध के निर्वाण के बाद दूसरी सदी में महासंघिक ने आठ विभिन्न निकाय चलाए। इनमें एक व्यावहारिक, लोकोत्तरवाद, अपरशैल, और उत्तरशैल प्रमुख थे। एक शती बाद स्थविरवाद मानने वालों में फूट पड़नी शुरू हुई। पहली फूट के कारण दो निकाय निकले—सर्वास्तिवाद तथा मूल-स्थविरवाद (जिसे हैमावत भी कहते हैं)। वैशाली में अपने आरम्भ से, महासंघिक पूर्व की ओर सीमित रहा, जहाँ से वह विशेषतः दक्षिण की

१. मिलिन्द पन्ह के आरम्भ में उल्लिखित शागला

ओर फैला। इस मत के मानने वाले उत्तर में अधिक नहीं रहे होंगे, क्योंकि उनका उल्लेख केवल दो उत्कीर्णलेखों में है। महासंघिक का अपना साहित्य विकसित हुआ और वस्तुतः उसने प्राचीन बौद्ध-धर्म की सब से अधिकृत परम्परा रखी। क्योंकि वह अपने आपको महाकाश्यप से चला हुआ धर्म मानता है। इसी महाकाश्यप ने पहला बौद्ध संघ बुलाया, जिसमें बौद्ध-धर्म के सूत्र पहली बार परम्परा के अनुसार पढ़े गये। धान्यकटक प्रदेश के साहित्य में महासंघिक की सभी शाखाओं का उल्लेख यह बतलाता है कि वह प्रदेश सातवाहनों के और उनके वंशजों के राजाश्रय में, कृष्णा घाटी में, महासंघिकों का सब से बड़ा अखाड़ा रहा होगा। यह मत तीसरी या चौथी शती तक पनपते रहे। स्थविरवाद नामक दूसरे दल में से जो निकाय निकले, उन्होंने भी साहित्य और उत्कीर्णलेखों में अपना निश्चित स्थान बना लिया। वे शुंग काल से कुषाण काल तक यानी २०० ईसापूर्व से २०० ईस्वी तक पनपते रहे। सर्वास्तिवाद और उसकी अन्य शाखाएँ उत्तर में पनपती रहीं। सर्वास्तिवाद निकाय मथुरा से नगर (हार) और तक्षशिला से काश्मीर तक के समूचे प्रदेश में प्रचलित था।

कनिष्क का राज्य-काल भी बौद्ध-धर्म के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। परम्परा से वह न केवल धर्म का एक बड़ा आश्रयदाता रहा, परन्तु बौद्ध-धर्म को आगे रूप देने वाले महान शासकों में से एक बना। उसी के राज्य-काल में प्रख्यात भारतीय-यूनानी बौद्धकला-शाखा विकसित हुई। भारत से बौद्ध भिक्षु बुद्ध-धर्म को मध्येशिया और चीन ले गए। एक नया बौद्ध-धर्म का रूप, जिसका कि नाम महायान था, और जिसके बहुत दूरगामी परिणाम घटित हुए, इसी समय विकसित हुआ। कनिष्क ने बौद्ध-धर्म के विकास में बहुत योग दिया होगा।

गुप्तवंश के समय में बौद्ध-धर्म को एक नई प्रेरणा मिली। यद्यपि गुप्त सम्राट भागवत थे, ब्राह्मण-धर्म के मानने वाले थे, फिर भी बौद्ध-धर्म के प्रति उनकी पूरी सहानुभूति थी। ऐसे कई महत्त्वपूर्ण उत्कीर्णलेख मिलते हैं, कौशाम्बी, साँची बोध-गया और मथुरा प्रदेशों में, ४वीं शती से छठी शती के अन्त तक, जिनमें कई व्यक्तिगत अनुदान देने वालों के नाम हैं। इसी काल में भारत में आए चीनी यात्रियों के कई वृत्तान्त मिलते हैं जिनसे इस देश में बौद्ध-धर्म की स्थिति का अता-पता चलता है। साथ ही, बौद्ध-कला के कई अवशेष मथुरा, सारनाथ, नालन्दा, अजन्ता, बाग और धान्यकूट में पाए जाते हैं, जो कि गुप्त-काल में बौद्ध-धर्म के विकास और समृद्धि के विषय में मूक होकर भी बहुत मुखर हैं। फाहियान चन्द्रगुप्त द्वितीय के राज्यकाल में भारत में आया। उसने बौद्ध-धर्म की समृद्ध दशा

के बारे में साक्ष्य दिया है, विशेषतः उड्डियान, गन्धार, मथुरा, कन्नौज, कोशल मगध और ताम्रलिप्ति के विषय में। नालन्दा विश्वविद्यालय की संस्था की स्थापना भी गुप्त राजाओं के राजाश्रय से ही सम्भव हो सकी थी।

सातवीं शती के मध्य से हमें कई ऐसे वृत्तान्त मिलते हैं जिनसे भारत में बौद्ध-धर्म की स्थिति का स्पष्ट चित्र मिल जाता है। जहाँ तक उसकी सीमा का प्रश्न है, वह सबसे अधिक ऊँचाई पर पहुँच चुका था। साथ ही उसके अधःपतन का भी आरम्भ हो चुका था। परन्तु बौद्ध शिक्षण के कुछ बड़े केन्द्र, यथा नालन्दा और वलभी में, ज्ञान का प्रकाश निरन्तर जल रहा था। सम्राट हर्षवर्धन ने अपने राज्यकाल के अन्तिम दिनों में महायान बौद्ध-धर्म स्वीकार कर लिया था। पश्चिम में वलभी के मैत्रक वंश के राजा छठी शती के मध्य से बौद्ध-धर्म के आश्रयदाता बन गए थे। कई बौद्ध भग्नावशेष वलभी में खोजे गए हैं, जो कि बौद्ध-धर्म के अस्तित्व का साक्ष्य, उस प्रदेश में दसवीं शती तक देते हैं।

हर्ष के राज्य के बाद जो शती बीती उसमें ऐसी अराजक अवस्था फैली जो कि बौद्ध-धर्म जैसे मठप्रधान धर्म के विकास के लिए उपयुक्त नहीं थी। राजाश्रय पर ही ऐसे धर्म का विकास अवलम्बित रहता है। बौद्ध-धर्म काश्मीर में प्रचलित रहा, विशेषतः वहाँ की स्वात घाटी में। वलभी आदि कुछ स्थानों में बौद्ध-धर्म प्रचलित था, परन्तु उसकी दशा अच्छी नहीं थी। फिर भी, जब बौद्ध-धर्म धीरे-धीरे भारत के अन्य भागों से विलुप्त हो रहा था, तब पूर्वी भारत में पाल-वंश के राजाश्रय में उसका दूसरा बड़ा पुनरुत्थान हो रहा था। इस राजवंश के बहुत से शासक पक्के बौद्ध थे। नालन्दा विहार को उन्होंने बड़े अनुदान दिए, और विक्रमशीला (विक्रमशिला), ओदन्तपुरी और सोमपुरी के नए विहार स्थापित किए।

इस प्रकार से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गुप्तों के विकास से पहले कुछ पुराने अध्ययन-केन्द्र उपेक्षित हो चुके थे, फिर भी कुछ नये केन्द्र भी इसी काल में बने। यह नये केन्द्र बहुत से नहीं थे, परन्तु आरम्भिक गुप्तकाल में काश्मीर बौद्ध अध्ययन का सबसे बड़ा केन्द्र था। बाद में नालन्दा की स्थापना के पश्चात यह अध्ययन-केन्द्र धीरे-धीरे पूर्वी भारत की ओर बदलता गया। नालन्दा करीब तीन शती तक समूचे बौद्ध जगत पर छाया रहा, छठी से नौवीं शती तक। महान पाल राजाओं के राजाश्रय के बावजूद, नालन्दा से बढ़ कर दो और संस्थाएं बन गईं—विक्रमशिला और ओदन्त-पुरी—जो कि पालों के समय में स्थापित हुईं। पूर्वी भारत में कई नयी संस्थाएँ बनी थीं—विक्रमशिला, ओदन्तपुरी, जगद्दल, विक्रमपुरी इत्यादि। उन्होंने नौवीं से बारहवीं शती तक बौद्ध-संस्कृति विषयक सारा कार्य अपने में केन्द्रित-सा कर लिया था।

उत्तरी देश

मध्य एशिया और चीन

मध्य एशिया में बौद्ध-धर्म कब शुरू हुआ, इसकी निश्चित तारीख नहीं मिलती, फिर भी यह प्रायः निश्चित है कि घुमन्तू टोलियाँ, जैसे शक और कुषाण जातियाँ और भारतीय व्यापारी अपने साथ भारतीय संस्कृति के और बौद्ध-धर्म के कई तत्त्व पूर्वी तुर्किस्तान के कई राज्यों तक ले गए। यह सब ईस्वी सन् के एक शती पूर्व तक होता रहा। अब इस बात का स्पष्ट साक्ष्य मिला है कि इस प्रदेश के दक्षिण के हिस्से में कुछ छोटे भारतीय उपनिवेश स्थापित हो चुके थे—खोतान से लबनोर प्रदेश तक। एक भारतीय उपभाषा, जो उत्तर-पश्चिम की बोली के समान थी, इन प्रदेशों की सरकारी भाषा थी। भारतीय उपनिवेश बसाने वाले प्रथम यात्री बौद्ध-धर्म को इस प्रदेश में ले गए।

प्राचीन खोतान की परम्परा के अनुसार अशोक के एक पुत्र कुस्तन ने यह राज्य परिनिर्वाण के २३४ वर्ष पश्चात यानी ईसापूर्व २४० में स्थापित किया। उसके प्रपौत्र विजयसम्भव ने खोतान में बौद्ध-धर्म स्थापित किया। एक बौद्ध विद्वान् जिसका नाम आर्य वैरोचन था, भारत से आया और वह राजा का प्रधान उपदेशक बना। खोतान में पहला विहार २११ ईसापूर्व में स्थापित हुआ। परम्परा आगे यह भी बताती है कि एक भारतीय राजवंश खोतान में ५६ पीढ़ियों तक राज करता रहा। तब बौद्ध-धर्म इस प्रदेश का प्रधान धर्म बना रहा। अपने समृद्धिकाल में, बौद्ध-धर्म के खोतान में करीब चार हज़ार केन्द्र थे, जिनमें विहार, चैत्य, मन्दिर आदि सभी थे। चीनी यात्री, जैसे फाहियान, सोङ्-युन और युआन-च्वांग आदि, खोतान में बौद्ध-धर्म के आठवीं शती तक फलने-फूलने के प्रमाण देते हैं। खोतान दक्षिण के प्रदेशों में बौद्ध-धर्म के प्रसार का मुख्य क्षेत्र बन गया, यथा निय, कालमदन (चेर्चेन), क्रोराइना (लूलन) और कोक्कुक (काशगर)।

चीनी तुर्किस्तान के उत्तरी हिस्से में चार महत्त्वपूर्ण राज्य थे, जिनके नाम थे भरुक (अक्सु), कुच, अग्निदेश (कर-शहर) और काओ-चंग (तुरफान)। कुच इन चार प्रदेशों में सबसे अधिक शक्तिमान था और उसने दूसरे उत्तरी राज्यों में और चीन में बौद्ध-धर्म के प्रसार में महत्त्वपूर्ण भाग लिया। कुच में बौद्ध-धर्म ईसा की प्रथम शती में फैला। तीसरी शती के चीनी वृत्तान्तों से पता चलता है कि उस काल-खण्ड में करीब एक हज़ार स्तूप और मन्दिर कुच में थे। कुच के बौद्ध-भिक्षु चीन गए और उन्होंने बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद का बड़ा काम किया। पुरातत्वविषयक शोध से

पता चलता है कि बौद्ध-धर्म आठवीं शती तक उत्तर में एक विकासशील धर्म था। इन प्रदेशों के पतन के बाद बौद्ध-धर्म ११वीं शती तक राजाश्रय पाता रहा। राजाश्रय देने वाले थे उइगुर तुर्क, जिनकी राजधानी तुरफान प्रदेश में थी।

चीन में बौद्ध-धर्म पूर्वी तुर्किस्तान की घुमन्तू जातियों ने ईसा पूर्व प्रथम शती के अन्त में फैलाया। एक शताब्दी के भीतर वह ऐसा धर्म बन गया जिसे सरकारी रूप से सहनीय धर्म मान लिया गया। बौद्ध विद्वान ईसा की प्रथम शती के अन्त से चीन में आने लगे, और उनका कार्य वहाँ अधिक ज़ोरों से होने लगा। परन्तु समूचे हन काल (६५—२२० ईस्वी) में यद्यपि कई विद्वान चीन में आए, चीनियों के बीच कार्य करते रहे, और उन्होंने चीनी भाषाओं में कई बौद्ध ग्रन्थों को अनूदित किया, फिर भी बौद्ध-धर्म को स्थानीय धार्मिक मतवादों से बहुत संघर्ष करना पड़ा। कन्फ्यूशियन मत को धर्म का रूप देने का यत्न हन-काल में किया गया, चूँकि परम्परा से उस मतवाद का राज-दरबार में और सामन्त-वर्ग पर बड़ा प्रभाव था और ये वर्ग बौद्ध-धर्म को बर्बर मानते थे। ताओ मत धर्म के रूप में बहुत मज़बूती से जड़ पकड़ चुका था, परन्तु उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि बौद्ध-धर्म से अधिक कमज़ोर थी। इस कारण से बौद्ध-धर्म देशज धर्मों से अधिक प्रभाव जल्दी जमा सका।

कन्फ्यूशियस के धर्म की तुलना में बौद्ध-धर्म अधिक सुविकसित धर्म था, और ताओ मत से उसका तत्त्व-ज्ञान अधिक गहन था, इसलिए उसने जल्दी से चीनी लोगों को आकर्षित कर लिया। चीनी भद्रवर्ग भी बौद्ध-धर्म के पक्ष में प्रतिपादन करने लगे। इस प्रकार से माऊ-त्सिउ ने, जो कि हन-काल (१७० से २२५ ईस्वी) के अन्तिम वर्षों में हुआ, एक वार्तिकभाष्य लिखा जिसमें उसने बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों की कन्फ्यूशियस और लाओत्से के सिद्धान्तों से तुलना की, और प्रथम मत की महत्ता प्रतिपादित की।

माऊ-त्सिउ जैसे लोगों के लेखन से शिक्षित चीनियों के मन में भी बौद्ध-धर्म के प्रति आश्वासन का भाव जागा। चीन में आये भारतीय बौद्धों और उनके शिष्यों के द्वारा जो पवित्र जीवन बिताया जा रहा था, वह भी चीनियों को इस नये धर्म के प्रति आकर्षित किए बिना न रह सका। इस नये धर्म के विकास में विदेशी राजवंशों का राजाश्रय भी उपयोगी सिद्ध हुआ। वेई राजवंश, ईसा की चौथी शती में प्रबल हुआ। उसका मूल विदेश में था। वे चीन में बौद्ध-धर्म के बड़े आश्रयदाता थे, और उस देश में बौद्ध-कला के सब बड़े कामों के आरम्भकर्ता थे। इस राजवंश के प्रथम सम्राट ने बौद्ध-धर्म को एक राज-धर्म बनाया।

इस समय के बाद तो बौद्ध-धर्म ११वीं शती तक चीन में फलता-फूलता रहा।

एक के बाद एक भारत से बौद्ध आचार्य आए और उन्होंने इस सद्धर्म-चूड़ को बराबर प्रज्वलित रखा। चौथी शती से चीनी भिक्षु स्वयं भारत में आने लगे और बौद्ध-धर्म का गहरा अध्ययन करने लगे। बहुत-सा बौद्ध साहित्य, जो कि भारतीय मूल ग्रन्थों से भारतीय और चीनी आचार्यों ने अनुवादित किया था, चीनियों को अनुवाद के रूप में बौद्ध-धर्म पढ़ने-समझने में सहायक होता रहा। कुछ अनुवादों का बड़ा साहित्यिक महत्त्व था और वे चीनी साहित्य में श्रेष्ठ ग्रन्थों (क्लासिक्स) के रूप में माने गए।

बौद्ध-धर्म का चीनी जीवन और विचारों पर प्रभाव बड़ा भारी था। कुछ देवता-विषयक धार्मिक विश्वासों के अतिरिक्त, बौद्ध-धर्म ने चीन में पुनर्जन्म, कार्य-कारण सिद्धान्त, और इह कर्म का फल अन्यत्र भोगना आदि विश्वासों को फैलाया। विशेषतः यथार्थ के विषय में यह धारणा कि प्रकृति के प्रत्येक कण-कण में वह व्याप्त है, और चिर-भंगुरता का सिद्धान्त, बौद्ध-दर्शन के ये ऐसे दो तत्त्व हैं जिनका चीनी कवियों और कलाकारों पर बड़ा असर पड़ा और चीन की सौंदर्य-विषयक दृष्टि इन सिद्धान्तों ने निर्णीत की। बौद्ध-धर्म ने चीनियों में एक गहरी धार्मिक भावना और गहन विश्वास निर्मित किए, जिससे चीनी कला की महान कृतियाँ निर्मित हुईं, जैसी युन-काङ्, हुङ्-मेन, तुन-हुआङ् आदि स्थानों में मिलती हैं।

कोरिया और जापान

सुदूरपूर्व में एक महत्त्वपूर्ण बौद्ध-केन्द्र कोरिया है। ईसा की चौथी शती के आरम्भ से बौद्ध-धर्म से उसका परिचय हुआ। उन दिनों कोरिया प्रायद्वीप के तीन भाग थे, कोगुर्यु उत्तर में, पाक-चे दक्षिण-पश्चिम में और सिला दक्षिण-पूर्व में। इन तीन भागों में बौद्ध-धर्म का इतिहास एक-सा नहीं है। बौद्ध-धर्म सबसे पहले कोगुर्यु में एक चीनी भिक्षु ३७२ ईस्वी में लाये। बारह साल बाद बौद्ध-धर्म पाकचे पहुँचा, एक मध्य-एशियायी भिक्खु मारानन्द के सहारे। सिला में बौद्ध-धर्म सबसे अन्त में पहुँचा। कोगुर्यु में बौद्ध-धर्म पहुँचने के तीन बरस बाद वह सिला में पहुँचा।

कोरिया के बौद्ध-धर्म की सबसे बड़ी विशेषता इस बात में है कि उसने चीन और जापान के बीच एक श्रृंखला का कार्य किया। यद्यपि बौद्ध-धर्म को कोरिया में आरम्भ से ही राजाश्रय मिलता रहा, फिर भी उसके सिद्धान्तों में कोई महत्त्वपूर्ण विकास नहीं हुआ था।

कोरिया का बौद्ध-धर्म ईसा की ११वीं शती में अपनी परम सत्ता पर था। वह कोरिया के वांग राजवंश का समय था। इस काल से पहले, बौद्ध-धर्म सिला राजवंश के प्रभाव में फैल रहा था। इस समय, कई प्रसिद्ध विद्वान बौद्ध सिद्धान्तों

का अध्ययन करने के लिए चीन पहुँचे। इनमें युआन त्सो (६१३–६८३ ईस्वी), जो फासियान शाखा का था, युआन हिआओ (६१७-६७० ईस्वी) और यी सिआङ् (६२५–७०२ ईस्वी), जो दोनों होउआ येन शाखा के थे, प्रसिद्ध हैं। ग्यारहवीं सदी के बाद बौद्ध-धर्म, जो कि अब तक सिल्ल राजवंश से सम्बद्ध धनवान वर्ग का धर्म था, जन-साधारण का धर्म बन गया, विशेष रूप से यि ति'एन, प'ऊ चाओ और अन्य भिक्खुओं के प्रयत्नों से। यि ति' एन, नामक विद्वान जो चीनी त्रिपिटक की सूचियों के सम्पादन के लिए प्रसिद्ध था—इस चीनी त्रिपिटक को यि ति'एन लु कहते हैं—चीन में बौद्ध-धर्म पढ़ता रहा और उसके बाद उसने कोरिया में होउआ येन और ति'इएन त' आई शाखाओं के सिद्धान्तों का प्रचार किया। उसने कोरिया की भाषा में बौद्ध-धर्म पर लेख भी लिखे। फिर भी, पु'चाओ ने कोरिया में ज़ेन बौद्ध-धर्म का प्रचार शुरू किया, जो कि बाद में, इतिहास में इतना महत्त्वपूर्ण योगदान देने वाला सिद्ध हुआ। मंगोल साम्राज्य का युआन राजवंश जब वांग राजवंश पर आधिपत्य प्राप्त कर चुका, तब कोरिया में बौद्ध-धर्म पर लामावाद का बहुत प्रभाव पड़ा। मंगोल साम्राज्य के पतन के बाद, चोसेन (कोरिया) के ही राजवंश ने कन्फ्यूशियस के मत को अपनी संस्कृति के प्रमुख सिद्धान्तों के नाते स्वीकार कर लिया और इस प्रकार से बौद्ध-धर्म को अपने आदरपूर्ण स्थान से च्युत कर दिया। यद्यपि उसका कोरिया में राजाश्रय नष्ट हो गया फिर भी जनता के धर्म के नाते वह फलता-फूलता रहा।

आधुनिक कोरिया का बौद्ध-धर्म, वस्तुतः ज़ेन बौद्ध-धर्म है। अमिताभ बुद्ध या मैत्रेय बोधिसत्व में विश्वास से वह धर्म रंजित है।

जापान को महायान बौद्ध-धर्म का देश कहते हैं। यह बौद्ध-धर्म का रूप आरम्भ में चीन में विकसित हुआ, वहाँ से कोरिया और फिर जापान पहुँचा। उसके बाद बौद्ध-धर्म चीनी और जापानी दोनों प्रकार के भिक्खुओं के प्रयत्नों से विकसित हुआ। जापानी विद्वान सामान्यतः यह मानते हैं कि बौद्ध-धर्म ने अपना पहला रूप वहाँ ५५२ ईस्वी में दिखलाया और वह कुदर (पकचे) से आया, जो कि कोरिया का एक अंग था।

हमारी दृष्टि से, जापानी बौद्ध-धर्म का निम्न ऐतिहासिक विभाजन किया जा सकता है—

१. आयात का काल। छठी से सातवीं शताब्दी ईस्वी। (असुक और नर काल)

२. राष्ट्रीयकरण का काल। नौवीं से चौदहवीं शताब्दी ईस्वी। (हीआन और कमकुर काल)

३. परम्परा-निर्वाह का काल। पन्द्रहवीं से बीसवीं शताब्दी ईस्वी। (मुरोमशी, मोमोयम, और एदो काल, और आधुनिक काल)

(१) आयात का काल—बौद्ध-धर्म का पहला रूप, जापान में अपने आपको शिंतोवाद के अनुकूल बनाने के नाते व्यक्त हुआ। शिंतोवाद जापान का देशज धर्म-पन्थ था। इस कार्य के लिए, बौद्ध भिक्षुओं ने पितर-पूजा को मान लिया और बुद्ध की प्रतिमा के साथ-साथ वे शिंतो मत के देवताओं की भी पूजा इस बहाने करने लगे, कि वे सब देवता बुद्ध के ही विभिन्न अवतार हैं। इस प्रकार से बौद्ध-धर्म धीरे-धीरे जन-साधारण में स्थापित हो गया। उसने शिंतोवाद को पूरी तरह से छोड़ नहीं दिया।

इसका एक बड़ा लाभ यह था कि जब बौद्ध-धर्म ने पहले जापान में अपना रूप दिखाया, तब वह चीन की बहुत विकसित संस्कृति के साथ-साथ आया। इसके अधिकतर सांस्कृतिक रूप के कारण बौद्ध-धर्म धनी सामन्तवर्ग ने स्वीकार कर लिया, और यही वर्ग उस समय जापान का बौद्धिक वर्ग था। एक बार भद्र-वर्ग के इसे स्वीकार कर लेने पर सारे देश में बौद्ध-धर्म बहुत जल्दी से फैल गया। प्राचीन जापान के कई सम्राट बौद्ध बने और उन्होंने अपने जीवन के आदर्श के रूप में बौद्ध-धर्म के कई सिद्धान्त मान लिए। राजपुत्र शोकोतु ने (५७४–६२१ ईस्वी), जो सम्राज्ञी सुइको का रीजेंट था, बौद्ध-धर्म को बड़ी देन दी। होर्यु जी मठ स्थापित करके उसने तीनों पिटकों पर टीकाएँ लिखवाईं। वस्तुतः जापान ने बौद्ध-धर्म के लिए वही किया, जो कि सम्राट अशोक ने भारत में बौद्ध-धर्म के लिए किया, या कि कौंस्टेंटाइन ने ईसाई धर्म के लिए रोमन साम्राज्य में किया।

उन दिनों चीन से जो बौद्ध-धर्म के पन्थ लाये गए वे छः थे—कुश (अभिधर्म कोश शाखा), सानरोन (माध्यमिकों की तीन टीका वाली शाखा), जोजित्सु (सत्यसिद्धि-शास्त्र शाखा), केगौन (अवतंसक शाखा), होस्सो (धर्म-लक्षण शाखा), और रित्सु (विनय शाखा)। यह बेहतर होगा कि इन्हें धार्मिक पन्थ कहने के बजाय बौद्ध संस्थाएँ कहा जाय।

(२) राष्ट्रीयकरण का काल अथवा जापानी बौद्ध-धर्म का दूसरा काल दो नए पंथों की स्थापना से शुरू हुआ—तेन्दाई और शिंगोन। ये पंथ क्रमशः साईचो (७६७–८२२ ईस्वी) और कुकई (७७४–८३५ ईस्वी) ने स्थापित किए। उनका उद्देश्य था बौद्ध सिद्धान्तों का राष्ट्रीयकरण जिससे कि बौद्ध-धर्म जनसाधारण का धर्म बन सके। उसी समय, उनका उद्देश्य था बौद्ध मठों में भिक्षुओं को अनुशासित रखना, जो कि दैनन्दिन ऐहिक जीवन से दूर रहते थे। इन दो पन्थों

का प्रमुख गुण यह था कि उन्होंने केवल आध्यात्मिक मोक्ष पर ही ज़ोर नहीं दिया, परन्तु साथ ही इस जीवन और जगत के सिद्धान्तों की परिपूर्ति पर ज़ोर दिया।

तेन्दाई और शिंगोन भिक्षुओं के प्रयत्नों से बौद्ध-धर्म का राष्ट्रीयकरण हो सका और धीरे-धीरे वह लोकप्रिय बनने लगा। फिर भी कई समस्याएँ सुलझाने को बाकी रह गई थीं। यह सिद्धान्त अभी भी इतने ऊँचे और केवल विद्वानों के समझने लायक थे। उन्हें जनसाधारण तक पहुँचाना था। जनसाधारण तो अन्ध-विश्वासों में डूबा हुआ था। सो इन सिद्धान्तों के साथ जब तक चमत्कार नहीं जुड़ते तब तक वे जनग्राह्य कैसे बनते? साथ ही बौद्ध-धर्म के प्रसार के साथ-साथ ज्यों-ज्यों परिस्थितियाँ बदलीं, उससे कई लोगों को यह प्रेरणा मिली कि वे इस दुनिया को छोड़ कर पारलौकिक मामलों में आध्यात्मिक शान्ति खोजें।

एक नई बौद्ध विचारधारा दसवीं शती में चल पड़ी। वह थी अमिताभ बुद्ध में विश्वास। कई लोग इस धर्म के अनुयायी बनाए गए। वे केवल अमिताभ बुद्ध का नाम-जाप करते—इस आशा से कि उनके पवित्र देश में उनका पुनर्जन्म होगा। इस आन्दोलन के पीछे-पीछे कई स्वतन्त्र नये पन्थ चल पड़े जो कि अमिताभ में विश्वास करने पर ज़ोर देते थे। वे नये पन्थ, जो कि १२वीं और १३वीं शती में चल पड़े, ये थे—युजु-नेनबुत्सु, र्योनिन (१०७२–११३८ ईस्वी) द्वारा स्थापित; जो दो, होनेन (११३३–१२१२ ईस्वी) द्वारा स्थापित; जो दो-शिन, शिनरान (११७३–१२६२ ईस्वी) द्वारा स्थापित; और जि, इप्पेन (१२३९–१२८९ ईस्वी) द्वारा स्थापित। इन सब पन्थों में यह बात समान थी कि मुमुक्षुओं के लक्षण सामान्य थे, और विचार और आचार को शुद्ध करने के और सरल बनाने के रास्ते एक-से बताए गये थे। इन कारणों से, कई साधारण लोग उन पन्थों का अनुयायित्व कर सके। विशेषतः किसानों और सिपाहियों में से कई अनुयायी बने।

कमकुर काल में, जब कि ये पंथ अस्तित्व में आये, जापान में सामन्त-शाही का विकास हुआ। इसी कालखण्ड में दो नये पंथ सामने आये। एक था ज़ेन, जिसे ईसई (११४१–१२१५ ईस्वी) और दोगेन (१२००–१२५३ ईस्वी) ने स्थापित किया, और दूसरा था निचिरेन जिसे निचिरेन (१२२२–१२८२ ईस्वी) ने स्थापित किया था। इन दो पंथों में भी वे सब विशेषताएँ आ गईं जो कि पवित्र देश में विश्वास करने वाले ऊपर उल्लेख किए हुए पंथों में थीं, यद्यपि दोनों के सिद्धान्तों में विचित्र विरोधाभास था। एक का विश्वास था कि दूसरों की शक्ति में श्रद्धा रखने से मुक्ति मिलेगी। यह था 'शुद्ध देश वाले बौद्ध-धर्म' का मूलभूत दर्शन। दूसरे का अपने स्वयम् के प्रयत्न से मुक्ति पाने के सिद्धान्त में विश्वास था,

जिस पर ज़ेन और निचिरेन सिद्धान्त आधारित थे। ज़ेन बौद्ध-धर्म के अनुयायी अधिकतर योद्धा वर्ग में से थे, और उन्होंने जापान की संस्कृति पर काफी प्रभाव डाला।

इन नए पंथों के विकास से बौद्ध-धर्म पूरी तरह से जनसाधारण द्वारा स्वीकृत हो गया। इस प्रक्रिया की बहुत सी मंज़िलें इतनी स्पष्टतः अंकित हैं कि राष्ट्रीयकरण और जनसाधारणीकरण शब्दों से जापानी बौद्ध-धर्म के इतिहास में युगान्तकारी मोड़ ध्वनित होते हैं। इसी कारण से, आधुनिक जापानी विद्वान कमकुर काल की ओर विशेष रूप से ध्यान दिलाते हैं, जब कि बौद्ध-धर्म पूरी तरह से जापान में छा गया।

(३) परम्परा-निर्वाह का काल—कमकुर काल के बाद जापानी बौद्ध-धर्म में कोई महत्त्वपूर्ण विकास नहीं हुआ। केवल बहुविध शाखाएँ विस्तृत हुईं।

ईदो काल (१६०३-१८६७ ईस्वी) में बौद्ध-धर्म जापान का राष्ट्रीय धर्म बन गया। इसका श्रेय तोकुगव शोगुनते के राजाश्रय को है। इस विकास का प्रधान कारण यह था कि सरकार आशा करती थी कि इस प्रकार से जापानी जनता पर ईसाई धर्म के बढ़ते हुए प्रभाव को रोका जा सके। इस काल में, बौद्ध-धर्म इतना लोकप्रिय बना कि इस युग के अन्त में बौद्ध-धर्म विषयक कार्यक्रम ने विद्वत्तापूर्ण अध्ययन का रूप ले लिया। इसी से आज के बौद्ध अध्ययन और शोध की नींव पड़ी।

१८६८ ईस्वी में मेईजि के पुनर्स्थापन के बाद बौद्ध-धर्म का त्राता जैसे खो गया। उसको मिलने वाला जनाश्रय भी कम हुआ। राष्ट्रीयतावादी शिंतो धर्म की ओर से विरोध होता रहा। भिक्षु और जनसाधारण दोनों ने इस खतरे को कम किया। आगे चल कर सरकार ने नये विधान में पूरी धार्मिक स्वतन्त्रता दे दी। साथ ही कई भिक्षु जिन्होंने बौद्ध-धर्म के नये सिद्धान्त वैज्ञानिक ढंग से खोज निकाले थे, वे पुराने सिद्धान्तों में नया अर्थ पाने लगे। कुछ बौद्ध मिशनरी अमरीका, हवाई द्वीप तथा अन्य देशों में नये रूप से बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिए गये।

तिब्बत (मध्य) और लद्दाख

जहाँ-जहाँ बौद्ध-धर्म के उपदेश पहुँचे, जनता के हृदय में एक नई ऐतिहासिक चेतना वे जगाते रहे। इसका बहुत अच्छा उदाहरण तिब्बत है। जैसे भारतीय इतिहास लिखित रूप में महान बौद्ध सम्राट अशोक के समय से लिखा जाने लगा, उसी प्रकार से तिब्बत का इतिहास भी तिब्बत के सबसे गुणवान राजा स्रोङ्-बत्सन-स्गम-पो (जन्म ६१७ ईस्वी) के समय से लिखा हुआ मिलता है। इस राजा

ने तिब्बती बोली के लिए वर्णमाला देकर एक लिखित रूप दिया, जिससे कि भारत से उसके देश में बौद्ध-धर्म आ सका। तिब्बत के आस-पास की बौद्ध दुनिया से सांस्कृतिक सम्पर्क उस राजा के दो शताब्दी पहले से शुरू हुए होंगे। ये आस-पास के प्रदेश थे : भारत, खोतान, मंगोलिया, चीन और बर्मा। एक सम्भवनीय तिब्बती दन्तकथा के अनुसार, कुछ बौद्ध प्रचारक भारत से आये और उन्होंने तिब्बती राजा, थो थो-री को बौद्ध-ग्रन्थ भेंट रूप में दिए, परन्तु इन भारतीय प्रचारकों को निराश हो कर लौट जाना पड़ा, क्योंकि इस तिब्बती राजा के दरबार में कोई भी लिपि का ज्ञान नहीं रखता था। अल्प वय में ही बहुत मेधावी छोटे राजकुमार स्रोङ्-बस्तन को बड़ी लज्जा और हीन-भावना का अनुभव हुआ होगा, और उसमें अपने लोगों के पिछड़ेपन को दूर करने की बड़ी चाह जागी होगी, क्योंकि जब वह राजगद्दी पर बैठा तो उसने निश्चयपूर्वक अपनी सैनिक शक्ति इतनी बढ़ाई कि नेपाल के राजा अंशुवर्मन जो दक्षिण में थे और उत्तर में चीन के सशक्त सम्राट ताईत्सुङ् ने यह अधिक अच्छा समझा कि इस तिब्बती राजा के साथ सुलह कर लें, और उसकी चाह को उन्होंने इस तरह आदर दिया कि दोनों ने अपनी राजकन्याओं का विवाह उस राजा के साथ करा दिया। यह दो रानियाँ, नेपाल की भृकुटी और चीन की वेन-चेङ्, अपने साथ अपने घरों में अक्षोभ्य, मैत्रेय और शाक्यमुनि की प्रतिमाएँ लाईं। इस प्रकार इस तिब्बती राजा की इच्छा पूरी हुई कि बौद्ध-धर्म का तिब्बत में प्रचार करके अपनी जनता को सभ्यता की अग्रपंक्ति में वह लाए। वस्तुतः इन विवाहों का निश्चय होने से पहले ही राजा ने ऐसी कई बातें की थीं कि जिससे उसे ऐसे ऊँचे विवाह-सम्बन्ध प्राप्त हो सकें। उसने अपने दरबार के एक होशियार तिब्बती को चुना। इसका नाम था थोन-मि सम् भो-ट, और उसके साथ सोलह और मुमुक्षुओं को चुना, जिन्हें दक्षिण भारत में प्रमुख बौद्ध विद्यापीठों में उसने भेजा, भारतीय शिलालेख-पठन, ध्वनिशास्त्र तथा व्याकरण का अध्ययन करने के लिए, और इन विद्याओं में पारंगत होने पर तिब्बती भाषा के लिए एक लिपि उन्होंने खोज निकाली, और उस भाषा का व्याकरण भी स्थिर किया। थोन-मी ने अपने आप को सौंपा हुआ काम इतनी अच्छी तरह से किया कि तिब्बती लिपि तथा व्याकरण पर उसने आठ स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे और कुछ संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद भी तिब्बती में किए। उसे सदा तिब्बती साहित्य के पिता के नाम से याद किया जाता है। उसके जीवन-काल में स्रोङ्-बत्सन ने ऐसे नियम प्रचलित किए जो कि बौद्ध-धर्म के दस कुशलकर्मों के समान थे। ल्हासा में रमोचे और जोखङ् में उसने प्रसिद्ध मन्दिर बनाए, और पोटाला नामक ग्यारह मंजिल वाला महल निर्मित किया। आज भी

उस बड़े महल का एक हिस्सा खंडहर के रूप में बाकी है, जो कि शायद सबसे निचला हिस्सा और उसका मूल छोटा रूप रहा होगा। बौद्ध-धर्म अपने सारे सांस्कृतिक विकास और सरंजाम के साथ तिब्बत में लाया गया। उसने धीरे-धीरे पुराने वृक्ष तथा नाग इत्यादि की पूजा करने वालों के फोऊन विश्वासों का स्थान ग्रहण कर लिया। तिब्बत के इतिहास में एक नये बौद्ध युग का आरम्भ करने का श्रेय तिब्बत के प्रथम महान सम्राट स्रोङ्-बत्सन-स्गम पो को दिया जाना चाहिए। वह इस्लाम के संस्थापक मुहम्मद का, कन्नौज के सम्राट हर्ष का और चीन के तीर्थ-यात्री विद्वान युआन-च्वांग का समकालीन था।

यद्यपि बौद्ध-धर्म तिब्बत में ऐसी सौभाग्यशाली परिस्थितियों में आया, फिर भी वह उतनी आसानी से या जल्दी से जैसा कि स्रोङ्-बत्सन ने सोचा था एक विदेशी भूमि में गहरी जड़ें न जमा सका। देशज फाऊन विश्वासों से इस नये बौद्ध-धर्म को कम से कम तीन शती तक निरन्तर कठिन संघर्ष करना पड़ा। उसे पुराने अन्धविश्वासों को दूर करना पड़ा, नये समझौते करने पड़े, अनन्त काल से जो विचित्र रिवाज और परम्पराएँ चली आ रहीं थीं उनके अनुकूल अपने आपको ढालना पड़ा, उसमें कई बार पराजय और निर्वासन भी सहना पड़ा। यह सब कुछ ग्यारहवीं शती में अतिश के आविर्भाव तक चलता रहा, जब बौद्ध-धर्म, अन्ततः, सच्चे अर्थ में तिब्बत का राष्ट्रीय धर्म बन गया।

स्रोङ् बत्सन के बाद, उसके पाँचवे वंशज के समय में बौद्ध-धर्म की प्रतिष्ठा पुनः राज्य-धर्म के नाते हुई। उसका नाम था स्त्री-स्रोङ्-ल्दे-बत्सन (७५५–७९७ ईस्वी)। अपने शक्तिशाली फाओन अफसरों के विरोध के बावजूद, उसने नालन्दा विश्वविद्यालय के शान्तरक्षित को तिब्बत बुलाया, और भारतीय बौद्ध-धर्म के सच्चे सिद्धान्तों को अपने लोगों में फैलाने और व्यवस्थित रूप से धर्म-परिवर्तन कराने का काम बढ़ाया। शान्तरक्षित द्वारा दस कुशल धर्मों और कारण-परम्परा के चक्र विषयक सिद्धान्तों पर दिए गए बहुत प्रभावशाली उपदेशों का कोई असर न हुआ। कुछ प्राकृतिक विपत्तियाँ जैसे झंझावात और महारोग इस समय देश भर में फैले, उन्हें विरोधकों ने यह रूप दिया कि बौद्ध-धर्म की विकृत शिक्षा के कारण यह प्रकोप हो रहे हैं, और राजा को अन्त में कुछ समय के लिए उसे तिब्बत छोड़ कर जाने का आदेश देना पड़ा, क्योंकि तिब्बती जनता उससे नाराज़ और उसकी विरोधी हो गई थी। भारतीय उपदेशक इतना बुद्धिमान था कि वह जान गया कि केवल तंत्रवाद की विचित्र चमत्कारमय पद्धतियों में विश्वास करने वाला ही जनसाधारण पर अपना कुछ प्रभाव डाल सकता था। जनता आदिम जादू-टोने और अद्भुत सहसा-घटितों

पर इतना विश्वास करती थी। इस प्रकार से उसने यह सिफारिश की कि पद्मसम्भव, जो तन्त्रवाद के प्रबल समर्थक थे, उन्हें स्वात घाटी के उग्यान से बुलाया जाय और इस प्रकार से विरोधियों को उन्हीं की भाषा में उत्तर दिया जाय। इसके बाद तो बौद्ध-धर्म के पुनर्स्थापन के लिए शांतरक्षित वहाँ लौटकर चले ही आएँगे। अभी भी तिब्बती जितने आदर से पद्मसम्भव (गुरु रिम्पोचे) को देखते हैं, उससे पता चलता है कि इस काम में कहाँ तक उसे सफलता मिली। ख्री-स्रोङ्-ल्दे-बत्सन के राज्य की अन्य घटनाओं में उसकी चीनी सेना पर विजय, जो कि पोटाला के सम्मुख एक स्तम्भलेख पर अंकित है, और ब्सम-यास् में तिब्बती बौद्ध विहार की स्थापना उल्लेखनीय है। यह विहार बिहार के उद्यन्तपुरी विहार के नमूने पर था। दूसरा काम था ल्दुद्कर महल में अनुवादित बौद्ध-कृतियों की सूची का निर्माण, और तिब्बत में शान्तरक्षित के लौट आने पर अनुवादित कार्य को पुनर्व्यवस्थित करना। वहाँ आकर ईसा की आठवीं शती में शान्तरक्षित की मृत्यु हुई। धर्म-प्रचारक के नाते उसका जीवन बड़ा लम्बा और विख्यात रहा। शान्तरक्षित की मृत्यु के बाद उसने बौद्ध-धर्म के रचनात्मक पक्ष पर जो बल दिया था, वह कम होकर बौद्ध-दर्शन की विध्वंसात्मक परम्पराएँ चल पड़ीं जिनका उपदेश चीनी भिक्षुओं ने दिया और तिब्बत में बहुत अरसे तक उनका ज़ोर भी रहा। उनकी चुनौती का सामना करने के लिए राजा ने शान्तरक्षित के सुयोग्य शिष्य और भाष्यकार, कमलशील को नालंदा से बुलाया। दोनों पक्षों के बीच में राजा के सामने बहस होती रही, और कमलशील आखिर जीत गए। चीनी दार्शनिक भिक्खु के पक्षधरों की भावनाएँ हार जाने पर इतनी कड़वी हो उठीं कि भारतीय भिक्षु का खून कर दिया गया। उसका मृत शरीर मसाले से बाँधकर ल्हासा के उत्तर में एक विहार में अभी भी सुरक्षित रखा है। राजा ख्री-स्रोङ्-ल्दे बत्सन, जिसकी शक्ति और विद्वत्ता के कारण उसे तिब्बती मंजुश्री का अवतार मानते थे, शोक-विह्वल होकर जल्दी ही मर गये। उसके शक्तिशाली बौद्ध साम्राज्य का दाय मिला उसके बहुत संवेदनशील और आदर्शवादी पुत्र मु-ने-बत्सन-पो को। करुणा और समता के बौद्ध सिद्धान्त इस कल्पनाशील राजपुत्र के हृदय को इस प्रकार छू गए थे, कि ज्योंही वह गद्दी पर बैठा, उसने अपनी प्रजा में सम्पत्ति का समान भाव से वितरण शुरू कर दिया। उसका आयोजन इतनी सफलता से न चल सका, क्योंकि श्रम की महत्ता को उतना महत्त्व नहीं दिया गया था, और विषमताएँ उसमें अनिवार्य रूप से घुस गईं। उसका जनता के लिए अप्रिय राज्यकाल अधिक समय तक न चल सका। उसी के रिश्तेदारों ने उसे ज़हर दे दिया और उसी के भाई ख्री-ल्दे-स्रोङ्-बत्सन

को गद्दी पर बैठाया। उसने भारतीय ग्रन्थों को तिब्बती में अनुवादित करने में नये सिरे से प्रोत्साहन दिया, और पहला संस्कृत कोश जिसका नाम था महाव्युत्पत्ति (८१४ ईस्वी) प्रकाशित हुआ।

खी-स्दे-स्रोङ्-बत्सन ने अपने छोटे पुत्र का नाम रल-प-चेन (८१६-८३८ ईस्वी) रखा। वह उसका वंशज बना बड़े भाई ग्लङ्-दर-म के स्थान पर। रल-प-चेन को वहाँ के देशवासी तिब्बती बौद्ध-धर्म के सुवर्ण युग का तीसरा सबसे बड़ा धर्म-संरक्षक मानते हैं। उसकी बौद्ध-धर्म के प्रति श्रद्धा इतनी विलक्षण थी कि उसने अपने छोटे पुत्र को भिक्षुओं की प्रतिज्ञाएँ दिलवाईं, दीक्षा दी, बौद्ध-भिक्षुओं को कई प्रकार की सुख-सुविधाएँ और शासनिक अधिकार दिए और उसके लम्बे बालों को कटवा कर बौद्ध पुजारियों द्वारा उपदेश देते समय चटाई की भाँति प्रयुक्त करने की भी अनुमति दी। रल-प्-चेन ने अपने साम्राज्य की सीमाएँ बढ़ाईं और उसी के राजाश्रय में तिब्बत का पहला इतिहास भी लिखा गया।

तिब्बत में एकछत्र राज्य, और बौद्ध-धर्म की प्रतिष्ठा, जिससे कि अब तक उसकी सुख-सुविधा में इतनी वृद्धि हुई थी, एकदम कम हो गई, जब एक दिन रल-प-चेन का खून उसके उपेक्षित बड़े भाई ग्लङ्-दर-म के अनुयायियों ने कर दिया। उसके बाद ग्लङ्-दर-म बौद्ध-धर्म का कट्टर दुश्मन बनकर गद्दी पर बैठा। बौद्ध प्रतिमाएँ गाड़ दी गईं, विहार बंद कर दिए गए, धार्मिक उत्सवों पर प्रतिबन्ध लगा दिया और भिक्षुओं को फिर से गृहस्थ बनना पड़ा, नहीं तो उन्हें देश निकाला दिया जाता। इन ज़्यादतियों का चारों ओर गहरा विरोध स्वाभाविक था। और इसका बदला लिया गया जब एक दिन एक भिक्षु चुपचाप राजा के पास तक घोड़े पर चढ़ कर गया और खासा सीधा निशाना साध कर उसने उसे मार डाला (८४१ ईस्वी)।

ग्लङ्-दर-म ने बौद्ध-धर्म को ऐसी निर्भयता से दबाया कि जनता में उसकी बड़ी ही तीव्र प्रतिक्रिया हुई। तिब्बत की राजनीति में यह काल बड़े ही निश्चयात्मक ढंग का है। इससे तिब्बत में एकच्छत्रीय राज्य का अन्त हो गया। देश-निकाला जिन भिक्षुओं को मिला था वे मध्य-तिब्बत को लौट आए और पहले से भी ज़्यादा शक्तिमान हो गए। ग्लङ्-दर-म के कमज़ोर वंशजों का अपने अधीन राज्यों पर से कब्जा कम हो गया था, और इससे विखण्डन शुरू हो गया। अन्त में ल्हासा के अन्तिम राजा के पुत्र, द्पाल्-ह्खोर-बत्सन (९०६-२३ ईस्वी) ने राजधानी से विदा माँगी और वे पश्चिमी तिब्बत की ओर गए, जहाँ उन्होंने अपने आपको एक स्वतन्त्र राजा के नाते प्रस्थापित किया। वह लद्दाख, स्पुरङ् और गुगे के तीन प्रदेशों

को अपने अधिकार में लाए और बाद में उन्होंने अपने तीनों पुत्रों में बाँट दिया। इन तीन राजवंशों के वंशजों में कई विख्यात राजा हुए, जिन्होंने बौद्ध-धर्म का दीपक पश्चिमी तिब्बत में बराबर जलाए रखा। विद्वान भिक्षुओं को उन्होंने राजाश्रय दिया। कई तिब्बती विद्वानों को काश्मीर में भेजा। बौद्ध-धर्म के नवीनतम सिद्धान्तों को समझने के लिए और कई महत्त्वपूर्ण संस्कृत बौद्ध-ग्रन्थों के तिब्बती में अनुवाद करवाए। इनमें सबसे विख्यात था ह् खोर-ल्दे (जिसे कि ज्ञानप्रभ भी कहते हैं)। उसने अपने छोटे भाई के लिए राज्य-त्याग कर दिया और स्वयम् भिक्षु बन गया और अपने दो बच्चों को भी भिक्षु बना लिया। बिहार के विक्रमशीला विहार के महान आचार्य अतिश (जिन्हें दीपंकर श्रीज्ञान भी कहा जाता है) को तिब्बत में बौद्ध-धर्म के अध्यापक के नाते लाने का भी श्रेय उन्हें ही है। ईसा की ग्यारहवीं शती में भारत से अन्तिम महान आध्यात्मिक प्रेरणा अतिश लाए, जिसका परिणाम यह हुआ कि बौद्ध-धर्म ने तिब्बत की भूमि में गहरी जड़ें जमाईं और वहाँ से बढ़ कर वह धीरे-धीरे एक देशज, धार्मिक दार्शनिक विचारधारा के रूप में फला-फूला। तिब्बती राजाओं के वंशजों ने पश्चिमी तिब्बत में राज चलाया। कई प्रकार की राजनैतिक उथल-पुथल के चलते हुए भी शक्तिशाली स्रोङ्-बत्सन-स्गम-पो के सीधे वंशजों का राज्य अभी भी लद्दाख में चल रहा है।

तिब्बत में अतिश का जीवन और कार्य इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसे इतनी जल्दी से वर्णित नहीं किया जा सकता। उसका विचार अन्य अध्याय में विस्तार से किया जाएगा। जब से वह तिब्बत में आए, तिब्बत में बौद्ध-धर्म के कई देशज सम्प्रदाय और निकाय चल पड़े। इनकी अपेक्षा से, आरम्भिक मिश्रित और असंशोधित बौद्ध-धर्म का रूप र् ञिङ्-म-प अथवा पुराना मतवाद माना गया, जिनकी चार उपशाखाएँ थीं। इस निकाय के मानने वाले पद्मसम्भव को अपना मत-प्रतिष्ठाता और गुरु मानते हैं। वे दैवी और दानवी दोनों प्रकार की शक्तियों की तुष्टि में विश्वास करते हैं और वे अपनी लाल टोपियों के कारण प्रसिद्ध हैं। अतिश के सुधरे हुए उपदेश, जो कि मैत्रेय और असंग द्वारा स्थापित योगाचार परम्परा पर निर्भर थे, आगे चलकर उसके तिब्बती शिष्य ह् ब्रोम्-स्तोन् के ब्काह-ग्दम्स-प शाखा के स्थापन का कारण बने। इस निकाय में हीनयान और महायान दोनों के उपदेशों का संश्लिष्ट रूप था। इसमें भिक्षुओं के लिए ब्रह्मचर्य अनिवार्य था, और जादू-टोने का भी प्राधान्य था। महान तिब्बती सुधारक त्सोन्-ख-प ने द्गे-लुग्स प (मूलतः द्गाह-ल्दन-प) नामक सम्प्रदाय चलाया, जिससे बकह-ग्दम्स-प का बहुत सा अभिचार कम किया गया और अब यही तिब्बती बौद्ध-धर्म को प्रमुखतः

अधिशासित करता है। आध्यात्मिक तथा ऐहिक दोनों रूपों में इस सिद्धान्त का आधिपत्य अब तिब्बत में सर्वमान्य है, और इसी का परिणाम है कि दलाई लामा जैसी संस्था वहाँ है—धर्मपीठ पर यह मुख्य गुरु वंश-परम्परा से चलते हैं। वर्तमान दलाई लामा इस धर्म-प्रधान राज्य के चौदहवें वंशज हैं।

दो और निकाय, जो कि ब्कह्-ग्दम्स-प से सम्बद्ध हैं, परन्तु जिनका दृष्टिकोण कम साधुत्ववादी या शुद्धिवादी है, वे ११वीं शती के उत्तरार्द्ध में स्थापित किए गए। उनके नाम थे ब्कह-र्ग्यु-दप और स-स्क्य-प।

ब्कह-र्ग्युद-प (मौखिक परम्परा) तिब्बती लामा मर-प द्वारा स्थापित की गई। यह अतिश का मित्र था और नालन्दा विश्वविद्यालय के तान्त्रिक नारो प का शिष्य। इस परम्परा की समानता ध्यान-निकाय से है, जो कि चीन और जापान के सभी उत्तरी बौद्धों का वर्तमान मत है, और उसके प्रधान प्रतिनिधियों में मि-ल-रस-प हुए, जो तिब्बत के बड़े सन्त कवियों में माने जाते हैं, और जिन्हें गुह्यशास्त्रों की शिक्षा स्वयम् मर-प ने दी। ब्कह-र्ग्युद-प की आगे चलकर कई और शाखाएँ हुईं जिनमें से दो यानी कर्म-प और ह्ब्रुग-प का विशेष उल्लेख किया जा सकता है। कर्म-प के तीसरे प्रमुख रङ्-ब्युङ्-र्दो-र्जे कहलाए। उन्हें कर्म-बक्-सी नामक पंथ के दूसरे प्रमुख के आध्यात्मिक वंशज के नाते घोषित किया गया। वह दो वर्ष पहले मर चुके थे। तब से आध्यात्मिक वंश-परम्परा का रिवाज चल पड़ा। इस प्रकार से दलाई लामा, पंचेन लामा और अन्य लामाओं के चुनाव में, कोई सर्वमान्य अवतार गद्दी पर बैठता है। यह आवश्यक नहीं है कि वह पहले लामा का पुत्र, वंशज या शिष्य ही हो। कर्म-प सिक्किम में बहुत ज़ोर पर है और नेपाल में उसके अनुयायी कार्मिक कहलाते हैं। दूसरा प्रधान उप-सम्प्रदाय है ह्ब्रुग-प (अथवा गर्जन करने वाला)। उसके सिद्धान्त भूटान में इतने ज़ोरों से फैले कि उस देश ने ही बौद्ध नाम अपना लिया।

दूसरा सम्प्रदाय, स-स्क्य-प कहलाता है। उसका नाम 'भूरी मिट्टी' इसलिए रखा गया कि १०७१ ईस्वी में जब पहला मठ बनाया गया तो वहाँ की ज़मीन भूरी थी। वहीं आजकल का स-स्क्य बना हुआ है। स-स्क्य-प शाखा पुराने रिङ्म-प शाखा से मिलती-जुलती थी, ब्ह्-र्ग्युद-प शाखा से कम। और इस सम्प्रदाय के भिक्षु बुद्ध-धर्म का पालन भी पूरी तरह से नहीं करते थे। वे नागार्जुन के माध्यमिक दर्शन के आधार पर पुराने और नये के बीच में सामंजस्य स्थापित करना चाहते थे। महान त्सोन्-ख-प के उदय से पहले वे एक शक्तिशाली श्रेणीबद्ध श्रेष्ठ संगठन में परिणत हो चुके थे।

ईस्वी सन् की १३वीं शती में जब वे मंगोल सम्राटों के सम्पर्क में आए तब विद्या के गहरे प्रेमी होने के नाते वे कट्टर धर्मपरिवर्तन कराने वाले भी बने। स-स्क्य श्रेष्ठों में एक प्रसिद्ध व्यक्ति था ह्-फग्स-प, जो कि मंगोलिया के राजपुत्र खुब्लाई का आध्यात्मिक गुरु बना। राजपुत्र खुब्लाई जब चीन का प्रथम मंगोल सम्राट बना तो उसने मध्य-तिब्बत की सार्वभौम सत्ता स-स्क्य के प्रधान पुजारी को सौंप दी। इस घटना का काल था १२७०। इस प्रकार से तिब्बत में धर्मप्रधान राज्य का एक नया युग शुरू हुआ। स-स्क्य-प ने बहुत से प्रसिद्ध तिब्बती विद्वान पैदा किये, जिनमें प्रसिद्ध बु-स्तोन (१२९०-१३६४ ईस्वी) सबसे बड़ा माना जाता है। वह न केवल प्रमुख मौलिक बौद्ध भाष्यों का विख्यात भाष्यकार था और एक अधिकारिक इतिहासकार था, परन्तु वह अब तक के उपलब्ध बौद्ध-ग्रंथों के तिब्बती अनुवादों को संकलित करने वाला भी था। उसने व्यवस्थित रूप से उन अनुवादों को दो बड़े हिस्सों में बाँटा, क्कह-ह्ग्युर् (बुद्ध के शब्द) जो सौ खण्डों में थे, और ब्-स्तन-ह्ग्युर् (टीकाएँ) जो २२५ खण्डों में थे। यहीं हमें तिब्बती बौद्ध-धर्म सूत्रों के रूप में मिलते हैं। तारानाथ नामक तिब्बती इतिहासकार (१५७३ ईस्वी में जन्मा) जो-नङ् नामक सम्प्रदाय का मानने वाला था। यह स-स्क्य-प की उपशाखा थी। त्सोङ्-ख-प नामक महान सुधारक के अभ्युदय के साथ-साथ तिब्बती बौद्ध-धर्म का आधुनिक काल शुरू हुआ, ऐसा कहा जा सकता है। यह त्सोङ्-ख-प अमूदो प्रान्त में १३५८ ईस्वी में जन्मा। संगठन और सर्व-ग्राहक बुद्धि की अद्भुत शक्ति उसमें थी। उसने सब अन्यापदेश और अन्धविश्वास दूर करने शुरू किए और बौद्ध-भिक्षुओं का एक मज़बूत संगठन बनाया, जो कि गहरी विद्या, अनुशासन और ब्रह्मचर्य पर आधारित था। इसी संगठन को दृगे-लुग्स्-प (पुण्यदानों का सम्प्रदाय या जनसाधारण की भाषा में पीली टोपी वालों का सम्प्रदाय) कहते हैं। १४०८ में, उसने ऐसे स्थान पर गंदेन मठ की स्थापना की जो ल्हासा से बहुत दूर नहीं है, जहाँ वह कुछ वर्षों तक काम करता रहा और १४१९ ईस्वी में मर गया। दो और बड़े मठ, देपुङ् और सेरा, जो ल्हासा के पास हैं, और ताशी-ल्हुन्पो, जो त्सांग प्रान्त में हैं, ऐसे धार्मिक केन्द्र हैं कि उनमें सर्वोच्च धार्मिक शक्ति और प्रतिष्ठा समाई हुई है। वे सब उनके शिष्यों द्वारा अगले पचास वर्षों में स्थापित किए गए। ये विद्या-केन्द्र मंगोलिया और साइबेरिया में धर्म प्रसार का काम इतनी योग्यतापूर्वक और उत्साह से चलाते रहे कि आरम्भ के स-स्क्य-पाओं की शक्ति जब आन्तरिक झगड़ों और परस्पर स्पर्द्धा से कम हो गई, तब दृगे-लुग्स्-प को मंगोल सामन्त अपना आध्यात्मिक गुरु मानने लगे और उनका पक्ष लेने लगे। यही आध्यात्मिक गुरु धीरे-धीरे तिब्बत के ऐहिक शासक भी बन गए।

ईस्वी सन् की १३वीं शती में जब वे मंगोल सम्राटों के सम्पर्क में आए तब विद्या के गहरे प्रेमी होने के नाते वे कट्टर धर्मपरिवर्तन कराने वाले भी बने। स-स्क्य श्रेष्ठों में एक प्रसिद्ध व्यक्ति था ह्-फग्स-प, जो कि मंगोलिया के राजपुत्र खुब्लाई का आध्यात्मिक गुरु बना। राजपुत्र खुब्लाई जब चीन का प्रथम मंगोल सम्राट बना तो उसने मध्य-तिब्बत की सार्वभौम सत्ता स-स्क्य के प्रधान पुजारी को सौंप दी। इस घटना का काल था १२७०। इस प्रकार से तिब्बत में धर्मप्रधान राज्य का एक नया युग शुरू हुआ। स-स्क्य-प ने बहुत से प्रसिद्ध तिब्बती विद्वान पैदा किये, जिनमें प्रसिद्ध बु-स्तोन (१२९०-१३६४ ईस्वी) सबसे बड़ा माना जाता है। वह न केवल प्रमुख मौलिक बौद्ध भाष्यों का विख्यात भाष्यकार था और एक अधिकारिक इतिहासकार था, परन्तु वह अ
को संकलित करने वाला भी था
हिस्सों में बाँटा, क्वह-ह्ग्युर् (
ह्ग्युर् (टीकाएँ) जो २२५ खण्
में मिलते हैं। तारानाथ नामक
नङ् नामक सम्प्रदाय का मानने
ख-प नामक महान सुधारक के
काल शुरू हुआ, ऐसा कहा जा
ईस्वी में जन्मा। संगठन और स
सब अन्यापदेश और अन्धविश्व
मज़बूत संगठन बनाया, जो कि
था। इसी संगठन को द्गे-लु
भाषा में पीली टोपी वालों का
गंदेन मठ की स्थापना की जो ल्ह
करता रहा और १४१९ ईस्वी में
ल्हासा के पास हैं, और ताशी-
उनमें सर्वोच्च धार्मिक शक्ति और
अगले पचास वर्षों में स्थापित
में धर्म प्रसार का काम इतनी
स-स्क्य-पाओं की शक्ति जब अ
तब द्गे-लुग्स्-प को मंगोल साम
पक्ष लेने लगे। यही आध्यात्मिक

मूल संघ

(बुद्ध-परिनिर्वाण के सौ वर्ष बाद)

महासंघिक

...पुत्रीय ...निर्वाण के ...र्ष बाद)

हैमवतीक

गोकुलिक (= कुक्कुलिक)

(बुद्ध परिनिर्वाण के २०० वर्ष बाद)

एकव्यावहारिक (= लोकोत्तरवादिन)

चैत्यिक

बहुश्रुतीय

प्रज्ञप्तिवादिन

(बुद्ध-परिनिर्वाण के बाद दूसरी शती के अन्त में या तीसरी शती के आरम्भ में)

भद्रयानीय

साम्मितीय

षण्णागरिक

अशोक का साम्राज्य
चट्टानों पर शिलालेख
स्तम्भों पर शिलालेख
काम्बोज
काश्मीर
श्रीनगर
कालसी
मेरठ
मथुरा
कपिलवस्तु
रामपुरवा
पाटलिपुत्र
चम्पा
अंग
कौशाम्बी
काशी
सारनाथ
प्रयाग
मगध
उज्जयिनी
सांची
विदिशा
सौराष्ट्र
गिरनार
भोज
पुलिन्द
सोपारा
ताप्ती नदी
नर्मदा नदी
विन्ध्य पर्वतमाला
पिटनिक
गोदावरी नदी
आन्ध्र
भीमा नदी
कृष्णा नदी
मास्की
तुंगभद्रा नदी
वनवासी
महिशा
श्रवणबेलगोला
कावेरी नदी
पाण्ड्य
ताम्रपर्णी
(श्री लंका)
तोसाली [धौली]
जुगाडा
समापा
महानदी
ब्रह्मपुत्र नदी
सिन्धु नदी
यमुना नदी
गोमती नदी
सोन नदी

मूल संघ
स्थविरवादिन
(बुद्ध-परिनिर्वाण के सौ वर्ष बाद)
महासंघिक
स्थविरवादिन
वात्सिपुत्रीय
(बुद्ध-परिनिर्वाण के
२०० वर्ष बाद)
हैमवतीक
गोकुलिक
(= कुक्कुलिक)
(बुद्ध परिनिर्वाण के
२०० वर्ष बाद)
एकव्यावहारिक
(= लोकोत्तरवादिन)
चैत्यिक
बहुश्रुतीय
प्रज्ञप्तिवादिन
(बुद्ध-परिनिर्वाण के बाद दूसरी शती के
अन्त में या तीसरी शती के आरम्भ में)
धर्मोत्तरीय
भद्रयानीय
साम्मितीय
सण्णागरिक
पूर्वशैलिक
अपरशैलिक
(= उत्तरशैलिक)
(ईसा की प्रथम शती)
राजगिरिक
सिद्धार्थिक
(ईसा की तीसरी
या चौथी शती)
सर्वास्तिवादिन
सौत्रान्तिक
(= संक्रान्तिवादिन)
(करीब १५० ईसापूर्व)
(सब श्रीलंका से)
(बुद्ध-परिनिर्वाण के बाद
तीसरी शती के मध्य में)
विभज्यवादिन
काश्यपीय
(= सुवर्षक)
थेरवादिन
महीशासक
(बुद्ध-परिनिर्वाण की तीसरी शती के बाद)
धर्मगुप्तिक
(बुद्ध-परिनिर्वाण की तीसरी शती के बाद)
महाविहारवासिन
अभयगिरिवासिन
(सब श्रीलंका से)
जेतवनीय

जब उनके तीसरे सर्वोच्च सत्तावान ब्-सोद्-नम्स-र्ग्यम्त्सो (१५४६-१५८७ ईस्वी) से वह मिला, तो अलतान खान को विश्वास हो गया कि वे दोनों ही पहले जन्म में हफग्स्-प और उसके शिष्य महान सम्राट कूब्लाई खान थे और पहले को उन्होंने एकदम पहचान लिया कि वही सच्चा ताले (यानी दलाई, तिब्बती में र्ग्य-म्त्सो) अर्थात् 'समुद्र' था। तब से, सभी परमश्रेष्ठ दलाई लामा कहलाए जाने लगे। इनमें सबसे विख्यात था महान पाँचवाँ दलाई लामा (१६१५-१६८० ईस्वी) जिसे कि मंगोल सरदार गुसरी खान ने सारे देश की सार्वभौम सत्ता दे दी थी। गुसरी खान ने अन्ततः त्साङ् और तिब्बत के अन्य प्रदेशों से सारे विरोधकों को नष्ट कर दिया। प्रायः सत्तर वर्षों के बाद के कालखण्ड में जब कि स-स्क्य के बड़े पुजारी तिब्बत के एक छोटे हिस्से पर राज करते रहे, दलाई लामा का सहसा सारे तिब्बत पर सम्पूर्ण और दैवी सार्वभौमत्व मान लिया जाना एक ऐसी घटना है जो तिब्बत के इतिहास में एक मोड़ की तरह मानी जा सकती है। इस सुयोग्य और बहुत देशों में प्रवास किए हुए दलाई लामा के शासन काल में संस्कृत के व्याकरण, आयुर्वेद और अन्य विषयों पर ग्रन्थ अनूदित किए जाते रहे। उसका प्रधान मन्त्री था सङ्स-रग्यस्-रग्य-म्त्सो। उसने कई वर्षों तक दलाई लामा की मृत्यु के समाचार गुप्त रखे। जनहित को ध्यान में रख कर उसने ऐसा किया और उस दलाई लामा के नाम पर वह राज्य का शासन-कार्य इतनी अच्छी तरह से चलाता रहा कि तिब्बत ने जो राजनीतिज्ञ पैदा किए उनमें उसे सबसे होशियार और सुयोग्य माना जाता है। सातवें दलाई लामा (१७०८-१७५८ ईस्वी) की ख्याति उसकी विद्वत्ता, सहिष्णुता और विरक्ति के लिए थी। उसके राज्यकाल में कपुचिन और जेसुइट मिशनरी ल्हासा में आए। परन्तु इस काल में भारत के साथ धार्मिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध जैसे भुला दिए गए, चूँकि विदेशियों का आधिपत्य बढ़ा और भारत से ही पुरानी राज्य-व्यवस्था विलुप्त हो गई। इसके बाद तिब्बत के इतिहास में ऐसा कालखण्ड आया, जिसमें तिब्बत जैसे सबसे अलग कट गया और वहाँ राजनैतिक षडयंत्र होते रहे और अल्पजीवी दलाई लामा एक के बाद एक प्रमुख बनते गए। इस बड़ी निद्रा के युग के बाद हम आज के एशिया के पुनर्जागरण के युग में आते हैं, जब भारत ने स्वतन्त्रता पाई और बौद्ध-धर्म के प्राचीन आदर्शों का पुनर्मूल्यांकन हुआ। बौद्ध-धर्म के ये ही आदर्श करीब तेरह शताब्दियों तक के उत्थान-पतन से भरे इतिहास में तिब्बत को जीवित और चैतन्य रखे हुए हैं।

नेपाल

बौद्ध-धर्म संस्थापक शाक्यमुनि के घर के नाते नेपाल की संसार के बौद्ध-

देशों में अद्वितीय स्थिति है। गौतम, जो कि एक शाक्य राजा के पुत्र थे, ईसा ५४४ वर्ष पूर्व लुम्बिनी में जनमे। लुम्बिनी कपिलवस्तु नामक नेपाली नगर से १५ मील दूर है। बहुत बचपन में ही, उसने सत्य की खोज में अपने पिता का राज्य छोड़ दिया। बोध-गया में सम्बोधि की प्राप्ति के बाद, सारनाथ में उसने अपना प्रथम धर्मचक्र-प्रवर्तन किया, और बाद में वह अपने घर लौट गया। उसका पुत्र राहुल उसका शिष्य बना। नेपाल के बारे में इस संक्षिप्त उल्लेख में यही कहा जा सकता है कि ईसापूर्व तीसरी शती में, अशोक जब राजपुत्र थे, तभी उसने नेपाल की कई जातियों में से एक का विद्रोह सफलता-पूर्वक दबाया और वहाँ शाँति और सुव्यवस्था स्थापित की। उसने लुम्बिनी में बाद में जाकर बुद्ध के पवित्र जन्म स्थान की स्मृति-रक्षा में एक लेख युक्त स्तम्भ निर्मित किया। यह बौद्ध-धर्म के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इसके बाद उसकी पुत्री, चारुमती ने एक नेपाली सरदार के साथ विवाह किया, ऐसा भी कहा जाता है। नेपाल में उसने कई स्तूप और मठ निर्मित किए, जिनमें से कई अभी बाकी हैं। ईस्वी सन् के आरम्भिक शतकों में, मूल-सर्वास्तिवाद निकाय के भिक्षुओं के लिए जो अनुशासन के नियम लागू हुए थे, उनमें उस प्रदेश की कठोर जलवायु को देखते हुए कुछ बातों की छूट दी गई थी। ऐसा लगता है कि इस देश में बौद्ध-मठ विषयक जीवन व्यापक प्रमाण पर विद्यमान था। ईसा की चौथी शती के महान बौद्ध दार्शनिक आचार्य वसुबन्धु ने भी अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिए नेपाल-यात्रा की थी।

नेपाल को वास्तविक महत्त्व ७वीं शती के राजा अंशुवर्मन के समय से प्राप्त हुआ। वह बौद्ध-धर्म का पक्का समर्थक और प्रचारक था। उसने अपनी पुत्री का विवाह तिब्बत के प्रथम शक्तिमान राजा स्रोङ्-बत्सन-स्गम-पो से करा दिया, और उसके राजाश्रय में तिब्बती में संस्कृत बौद्ध-ग्रन्थों का अनुवाद कराने का काम शुरू कराने वाले व्यक्तियों में, नेपाली पण्डित शीलमन्जु का उल्लेख प्रमुखतः करना चाहिए। शाँतरक्षित के काल में, यानी ईसा की आठवीं और नौवीं शताब्दी में इन दो देशों में सांस्कृतिक मित्रता का गठबन्धन और मज़बूत हुआ। बाद की शतियों में जब मुसलमानों ने बिहार और बंगाल पर आक्रमण किया, तब उस प्रदेश के समृद्ध बौद्ध-मठों का बड़े पैमाने पर नाश किया गया। बौद्ध भिक्षुओं को नेपाल में सुरक्षा और शरण मिली। वे अपने साथ में बहुत से मूल्यवान हस्तलिखित ग्रन्थ ले गए, जिनमें से कुछ तिब्बत के मठों में भी जा पहुँचे, जहाँ आज तक वे सुरक्षित रखे हुए हैं। बीच की शताब्दियों में नेपाल के पश्चिमी तिब्बत से सांस्कृतिक और

राजनैतिक सम्बन्ध दृढ़तर होते गए। परन्तु इतिहास के इस काल-खण्ड की पूरी तरह से शोध अभी तक नहीं हुई है। कई सदियों तक नेपाल मध्य-हिमालय की पर्वत-श्रेणियों के दोनों ओर के देशों के बीच में सांस्कृतिक कड़ी का काम करता रहा। अभी हाल में भारत और तिब्बत के बीच में आने जाने का रास्ता नेपाल-में से कियरोङ् से होते हुए बनाया गया है।

भारत में बौद्ध-धर्म के पतन के बाद, नेपाली बौद्ध-धर्म के लोकप्रिय रूप में से कुछ मूल गुण कम होते गए, जैसे कि मठों का जीवन, जातिभेद का विरोध और सारे धार्मिक रहस्यों को कम महत्त्व देना। ये सब बातें आध्यात्मिक शक्ति के रूप में कम प्रभावशाली होती गईं। अभी हाल तक बौद्ध-धर्म के चार सम्प्रदाय, जिनकी कि कई उपशाखाएँ हैं, बहुत प्रमुख रहे हैं—(१) स्वाभाविक—दुनिया की सभी वस्तुओं में प्रवृत्ति और निवृत्ति ये दो गुण हैं; (२) ऐश्वरिक—एक स्वयंभू, सम्पूर्ण, अनन्त परमात्मा है; (३) कार्मिक—एक सचेतन नैतिक प्रभाव है, जिसके द्वारा मूल अविद्या के आधार पर विश्व का यह यंत्र चलता है; (४) यात्रिक—चेतन बौद्धिक कारण और युक्त प्रज्ञा दोनों ही हैं। इस प्रकार से भारत और तिब्बत में जो विभिन्न दार्शनिक विचारधाराएँ हिन्दू और बौद्ध दोनों धर्मों के प्रभाव में चलीं, उनका सम्पूर्ण सामंजस्य नेपाल में मिलता है। अभी हाल में बौद्ध-ग्रन्थों के अध्ययन का महत्त्वपूर्ण कार्य धर्मोदय सभा ने शुरू किया है। नेपाली में पालि-ग्रन्थों के कई अनुवाद छपे हैं।

इस प्रकार से नेपाल, जो कि हिमालय की कुछ बहुत ऊँची चोटियों की छाया में है, बड़ी आध्यात्मिक प्रेरणा का स्रोत माना जाता है। उसने स्वतन्त्रता और सहिष्णुता को सर्वोपरि माना है।

दक्षिण के देश

श्रीलंका

सिंहली परम्परा के अनुसार सम्राट अशोक (२७३—से २३६ ई० पू०) ने धर्म प्रचारकों को सर्वत्र भेजा। उन्होंने बुद्ध के उपदेश भारत के भीतर और बाहर फैलाए। उन्होंने अपने पुत्र (या भाई) थेर महेन्द्र को चार और व्यक्तियों के साथ श्रीलंका भेजा, और वहाँ उन्होंने बौद्ध-धर्म के सिद्धान्त देवानाम्पियतिस्स (२४७—२०७ ईसापूर्व) और उसके अनुचरों को सुनाए। श्रीलंका के राजा और जनता इस नये उपदेश से बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने बौद्ध-धर्म अपना लिया। उसकी वहाँ

उन्नति विलक्षण रूप से हुई। लाखों स्त्री-पुरुषों ने इस नये धर्म को अपनाया और हज़ारों संघ में शामिल हुए, भिक्षु बने। सब जगह मठ और विहार बनाए गये और उनकी व्यवस्था के लिए काफी दान दिए गये। रानी अनुला और अन्य कई स्त्रियों ने पब्बज्जा ग्रहण करने की अपनी इच्छा प्रदर्शित की। परन्तु कोई भिक्षु स्त्रियों को दीक्षा नहीं दे सकता था। अतः सम्राट अशोक के पास सन्देश भेजा गया कि कुछ प्रसिद्ध भिक्षुणियाँ उनकी सहायता के लिए भेजें। इस प्रकार से संघमित्रा, जो महेन्द्र की बहिन थी, और जिसे दीक्षा मिल चुकी थी, सिंहल भेजी गई।

सिंहल में बौद्ध-धर्म के आरम्भिक इतिहास की दो बड़ी घटनाएँ ऐसी हैं कि उनका गहरा असर रहा है, और बौद्ध-धर्म के लाखों मानने वालों में उनके स्मरण से अभी भी पवित्र उत्साह जागता है। उस बोधिवृक्ष की शाखा को श्रीलंका में लगाना, जिसके नीचे बुद्ध को संबोधिज्ञान प्राप्त हुआ, अशोक की बहुत अच्छी कल्पना थी। सद्यः दीक्षित बौद्ध जनसाधारण के लिए यह एक प्रेरणा थी। दूसरी घटना थी ५०० वर्ष बाद भारत से बुद्ध के दाँत का लाया जाना।

इस प्रकार से, बहुत थोड़े समय में समूचा सिंहल बौद्ध-धर्म का एक गढ़-सा बन गया। लंका की यह स्थिति दो हज़ार वर्षों बाद अभी तक वैसी ही है।

महान स्तूप दुट्ठगामणी (१०१-७७ ईसापूर्व अनुमानित) के राज्य काल में बनाया गया, और भारत के विहारों में आए बौद्ध-भिक्षुओं की एक बड़ी संगीति के आगे बौद्ध-धर्म के लिए अर्पित किया गया। महावंस में उन अभ्यागतों की नामावली और अन्य विवरण दिए गए हैं।

वट्टगामणी (२९-१७ ईस्वी पूर्व अनुमानित) का राज्यकाल श्रीलंका में बौद्ध-धर्म के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। अब तक बौद्ध-धर्म के पवित्र ग्रन्थ, महेन्द्र द्वारा मूलरूप में पठित, याद किये जाते थे और मौखिक परम्परा से रक्षित किये जाते थे। अब व्यवस्था की गई कि उन्हें लिखा जाये। इसके लिए पाँच सौ पाठ करने वाले और लिखने वाले रखे गए। पालि त्रिपिटक, जो आज भी पवित्र धर्मशास्त्र की तरह सुरक्षित हैं, वह उनके ही परिश्रम का परिणाम था वर्ना भारत से तो वह कभी का विलुप्त हो गया, और उसके कोई चिन्ह भी शेष न रहे।

श्रीलंका में बौद्ध-धर्म के प्रभाव को अतिरंजित नहीं किया जा सकता। वस्तुतः सिंहल की सारी संस्कृति और सभ्यता भारत से ली गई है। श्रीलंका की साहित्यिक भाषा पालि बनी और अभी भी वह सम्मानपूर्वक मानी जाती है। सिंहली साहित्य भारतीय साहित्य की उपशाखा है, और सिंहल की स्थापत्य-कला, शिल्प और चित्र भारत से लिये गये हैं। सिंहल की लिपि भी भारत से आयी।

दूसरी ओर, बौद्ध जगत श्रीलंका का बहुत ऋणी है। जैसे ऊपर उल्लेख किया गया है कि पालि धर्मग्रन्थ अपने मूलरूप में इसी द्वीप में सुरक्षित रखे गये, और श्रीलंका के बौद्ध-धर्म का बड़ा प्रभाव वर्मा, कम्बोडिया, स्याम और लाओस पर रहा। इन्हीं देशों में थेरवाद बौद्ध-धर्म आज भी फल-फूल रहा है। बौद्ध-धर्म के सम्बन्ध में श्रीलंका निष्क्रिय ग्राहक नहीं रहा, उसने विविध भाष्यों के रूप में बौद्ध-धर्म को विकसित करने में भी भाग लिया।

बर्मा

श्रीलंका के इतिहास-वृत्तान्तों के अनुसार, दो बौद्ध-भिक्षु, 'सोण' और 'उत्तर', सम्राट अशोक द्वारा बौद्ध-धर्म का उपदेश देने के लिए सुवर्ण भूमि में भेजे गए थे। सुवर्ण भूमि को साधारणतः बर्मा माना जाता है। फिर भी कोई ऐसा विश्वसनीय साक्ष्य नहीं है कि अशोक द्वारा ही ये 'सोण' और 'उत्तर' भेजे गए थे। सुवर्ण भूमि कौनसी रही होगी, इसके बारे में भी कई मत हैं। कुछ लोग उसे स्याम भी मानते हैं, अथवा पूरे हिन्द-चीन के लिए यह शब्द प्रयुक्त करते हैं।

उत्तर और सोण की कहानी यदि छोड़ दें तो पाँचवीं शती से पहले वहाँ बौद्ध-धर्म पनपा होगा ऐसा कोई प्रमाण नहीं है। बर्मा और भारत की निकटता को ध्यान में रखते हुए और ईस्वी सम्वत् से पहले भी दो कठिन स्थल-मार्ग भारत और बर्मा के बीच रहे होंगे, यदि ऐसा मानकर चलें, तो यह अनुमान किया जा सकता है कि पाँचवीं शती से पहले बौद्ध-धर्म, भारत से बर्मा में गया होगा। परन्तु इस समय से आगे ऐसे निश्चित वृत्तान्त मिलते हैं कि जिनसे न केवल थेरवाद बौद्ध-धर्म का अस्तित्व, परन्तु उसकी विकसित अवस्था भी जानी जा सकती है। प्युस के पुराने राज्य को श्री-क्षेत्र कहा जाता है और उसकी राजधानी कहीं प्रोम के निकट रही होगी। उसके भग्नावशेष आधुनिक ह्मावज़ा में मिलते हैं।

ह्मावज़ा के स्थापत्य-अवशेष आधुनिक प्रोम से पाँच मील दूर हैं; और चीनी वर्णनों से इस बात में कोई सन्देह नहीं रहता कि पालि धर्म-सूत्रों सहित थेरवाद बौद्ध-धर्म इस प्रोम के आस-पास के प्रदेश में पाँचवीं शती के उत्तरकाल में भारतीय धर्म-प्रचारकों द्वारा प्रसारित किया गया होगा। वे भारत के दक्षिण और उत्तर समुद्र के किनारे से शायद वहाँ आए होंगे। साथ ही साथ हमें मूलसर्वास्तिवाद के और महायान वाद के चिन्ह भी मिलते हैं, जो कि पूर्वी भारत से आए होंगे।

इस अनुमान के लिए भी विपुल प्रमाण हैं कि बौद्ध-धर्म का थेरवादी रूप हिन्दू मोन या तलैंगों में फैला। ये पेगू में या हंसावती में बस गए थे। थातोन (सुद्धम्मवती) और अन्य अड़ौस-पड़ौस के प्रदेशों को तब सामूहिक रूप से रामञ्ञ-

देस कहा जाता था। ईसा की ग्यारहवीं शती से कुछ पहले थातोन इस धर्म का बड़ा महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन चुका था। उससे भी पहले म्राम्म ने जो कि एक तिब्बती-द्राविड़ जाति थी, पगन में एक शक्तिशाली राज्य स्थापित किया था और वही नाम सारे देश का रख दिया था। म्राम्म लोग जंगली, बेपढ़े-लिखे थे, और उनमें एक विकृत प्रकार का तंत्रवाद प्रचलित था। १०४४ ईस्वी में एक नये राजा अनवरथ (अनिरुद्ध) पगन की गद्दी पर बैठे और वे थातोन के एक थेरवादी तलैंग भिक्षु अरहन द्वारा बौद्ध बनाये गये। उसे धर्म-दर्शी भी कहा जाता है। नये राजा ने अर्हन् और थतोन के अन्य कुछ भिक्षुओं के सारे प्राचीन विकृत धर्म के विरुद्ध जैसे धर्मयुद्ध किया और थेरवाद को स्थापित किया। फिर भी धर्म-ग्रन्थों की बड़ी आवश्यकता थी। अनिरुद्ध ने मनूह के यानी थातोन के राजा के पास दूत भेजे। उसने त्रिपिटक के पूरे पाठ माँगे थे। मनूह ने मना किया तो अनिरुद्ध अपनी पूरी सेना लेकर थातोन पर चढ़ाई कर बैठे और उसे जीत लिया। वह विजयी होकर लौटे और अपने साथ न केवल राजा मनूह को बन्दी बना कर लाये, परन्तु अन्य बौद्ध-भिक्षुओं को भी। बत्तीस हाथियों पर लाद कर वह बौद्ध-ग्रन्थ और अवशेष भी लाये। विजय करने वाला विजितों की संस्कृति से पूरी तरह से बन्दी बना हो, इस बात का शायद ही इससे बड़ा कोई उदाहरण मिलेगा। पगन के बर्मी लोगों ने मोन लोगों का धर्म, भाषा, साहित्य और लिपि अपनाई। अनिरुद्ध और उसके वंशज थेरवादी बौद्ध-धर्म के बड़े मानने वाले बने और उनकी राजनैतिक सत्ता के साथ-साथ वह समूचे बर्मा पर फैल गया। ब्राह्मण धर्म के, जो कि वहाँ पहले फैला था, के स्थान पर धीरे-धीरे बौद्ध-धर्म फैलने लगा। वही धर्म आज भी पूरे बर्मा में बिना किसी प्रतिद्वन्द्विता के फैला हुआ है। एक नये बौद्ध के आवेश से अनिरुद्ध ने कई पगोदा या मन्दिर और विहार बनवाए। उसके वंशजों ने उसका अनुकरण किया। वह श्रीलंका से त्रिपिटक के पूरे मूल पाठ लाया और अर्हन् ने उन्हें थातोन के पास जो पाठ थे, उनके साथ मिलाया। अनिरुद्ध के पुत्र, क्यन-ज़ित्थ ने अपने पिता का पूरा अनुकरण किया और पगन में प्रसिद्ध आनन्द विहार बनाया।

११८१–८२ ईस्वी में श्रीलंका में दीक्षित कपट नामक भिक्षु द्वारा एक सिंहली भिक्षु-संघ की स्थापना बर्मा में बौद्ध-धर्म के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। श्रीलंका के भिक्षु बर्मा के भिक्षुओं को सही तौर से दीक्षित नहीं मानते थे, और यही भावना कपट और अन्य अनुयायियों की थी। सिंहल संघ और अम्म-संघ के बीच प्रतिद्वन्द्विता तीन शतियों तक चलती रही और अन्त में सिंहल संघ की विजय हुई।

मलय प्रायद्वीप

मलय प्रायद्वीप के कई हिस्सों से जो उत्कीर्ण लेख मिले हैं वे संस्कृत में लिखे हैं और चौथी तथा पाँचवीं शती में प्रचलित भारतीय वर्णमाला में हैं। इनमें से तीन निश्चित रूप से बौद्ध-धर्म से सम्बद्ध हैं और इनसे सिद्ध होता है कि इस प्रदेश में उस समय बौद्ध-धर्म का प्रचार था। परन्तु इन सब में सबसे महत्त्वपूर्ण अवशेष नाखोन श्री धम्मराट (लिगोर) में पाए गये हैं। यह प्रधानतः एक बौद्ध उपनिवेश था, जिसमें वह महान स्तूप बनाया गया, जिसकी खोज अभी होनी है। इस स्तूप के आस-पास जो पचास मन्दिर हैं वे शायद बहुत प्राचीन काल के हैं।

महायान बौद्ध-धर्म इस प्रदेश में ईसा की छठी शती में फैला। यह बात केदाह के पास पाए गए मिट्टी के एक उत्कीर्ण लेख से जानी जाती है। वह शायद छठी शती का है। उसकी लिखावट से ऐसा जाना जा सकता है। उसमें तीन संस्कृत के श्लोक हैं, जो महायान शाखा के कुछ दार्शनिक सिद्धान्तों के बारे में हैं। इन तीन श्लोकों में से दो माध्यमिक शाखा के कई पाठों के चीनी अनुवादों में पाए गए हैं, और ये तीनों सागरमतिपरिपृच्छ (नाञ्जियो १७६) के चीनी अनुवाद में भी मिलते हैं।

महायान बौद्ध-धर्म इस प्रदेश में ईसा की आठवीं शती तक पनपता रहा। शायद आगे भी बहुत दिनों तक। लिगोर में पाए गए एक उत्कीर्ण लेख के अनुसार राजा और उसके पुजारियों ने बौद्ध देवताओं के लिए तीन ईंटों के मन्दिर और पाँच स्तूप बनवाए। ये स्तूप शक सम्वत् ६९७ में (यानी ७७५ ईस्वी) बनवाये गये थे।

स्याम (थाईलैंड)

बौद्ध-धर्म स्याम में जिसे थाई देश कहते हैं, बहुत प्राचीन काल से फला-फूला। शायद ईसा की पहली या दूसरी शती में। पोंग तुक और फ्रा पाथोम के प्राचीन पुरातत्व से यही सिद्ध होता है। फ्रा पाथोम बैंगकाक के ३० मील पश्चिम में है, और पोंग तुक शायद पश्चिम में और २० मील दूर है। एक धार्मिक इमारत के कुछ खण्डहर, बुद्ध की प्रतिमाएँ, उत्कीर्ण टेरा-कोट्टा और बौद्ध-धर्म के सुनिश्चित प्रतीक यथा धर्म-चक्र, जो शायद प्रथम या द्वितीय शती के हैं, यहाँ पाये गये हैं।

इससे कुछ बाद के काल के अगणित भग्नावशेष और कुछ अच्छे मूर्तिकला के नमूने मिले हैं जिन पर गुप्तकाल का गहरा प्रभाव है। इन्हें द्वारावती वर्ग का कहा गया है। युआन-च्वांग के समय में यानी सातवीं शती के पूर्वार्द्ध में द्वारावती एक बड़ा समृद्ध राज्य था।

आठवीं या नौवीं शती में स्याम और लाओस काम्बुज के (कम्बोडिया) राजनैतिक अंग थे और वहाँ की धार्मिक स्थिति का प्रभाव इन पर भी पड़ा था। ब्राह्मण-धर्म और बौद्ध-धर्म दोनों इन देशों में साथ-साथ फूले-फले। तेरहवीं शती के मध्य में थाई लोग स्याम और लाओस के स्वामी बने और कम्बोडियों की उन पर जो राजनैतिक प्रभुता थी उसे उन्होंने समाप्त कर दिया। थाई राजाओं के प्रभाव में थेरवाद शाखा का बौद्ध-धर्म और पालि भाषा सारे स्याम और लाओस में फैली और फली-फूली। थाई राजा श्री सूर्यवंश राम महाधार्मिक राजाधिराज न केवल बौद्ध-धर्म के बड़े आश्रयदाता थे, परन्तु उन्होंने स्वयम् भी प्रव्रज्या ग्रहण की थी, और अपने राज्य में सब जगह उन्होंने बौद्ध सिद्धान्तों का प्रचार किया था। सन् १३६१ ईस्वी में उन्होंने कुछ विद्वान भिक्षुओं को एवं पण्डितों को श्रीलंका भेजा और महासामी संघराज नामक महान भिक्षु को वे आग्रहपूर्वक स्याम में लाये। उन्हीं की प्रेरणा और सक्रिय प्रयत्नों से, बौद्ध-धर्म और पालि-साहित्य को न केवल दृढ़ आधार मिला, परन्तु वह कई छोटे-छोटे हिन्दू राज्यों में फैला, जैसे आलवीराष्ट्र, ख्मेरराष्ट्र, सुवर्णग्राम, उन्मार्गसिल, योनकराष्ट्र और हरिपुञ्जय। अब इन्हें लाओस कहते हैं। इनमें से कई ऐसे हैं कि उनके अपने स्थानिक वृत्तान्त पालि में मिलते हैं। इस समय के बाद स्याम और पड़ोसी देशों में बौद्ध-धर्म खूब फूला-फला। ब्राह्मण-धर्म का ह्रास हुआ, और केवल व्रतोत्सवों में उसके कुछ चिन्ह शेष रहे।

काम्बुज (कम्बोडिया)

चीनी वृत्तान्तों से और पुरातत्व की शोध से यह सिद्ध होता है कि पाँचवीं शती के अन्त से बौद्ध-धर्म कम्बोडिया में फूला-फला, यद्यपि उसे कोई प्रमुख स्थान नहीं मिला। क्योंकि शैव-मत जैसे ब्राह्मण-धर्मों से वह कम लोकप्रिय था। महान सम्राट यशोवर्मन ने, जो नौवीं शती के अन्त में राज्य करते थे, एक सौगताश्रम स्थापित किया। वह विशेष रूप से बौद्ध-भिक्षुओं के लिए था। उसके लिए बड़े विस्तृत नियमादि बनाये गये।

राजा जयवर्मन सप्तम (११८१ से करीब १२२० ईस्वी तक) बड़े श्रद्धालु बौद्ध थे और उनकी मृत्यु के बाद उन्हें महापरम सौगत की उपाधि दी गई। उनके आलेखों से पता चलता है कि जीवन के प्रति वैशिष्ट्यपूर्ण बौद्ध दृष्टिकोण क्या था, विशेषतः दान और समस्त विश्व के प्रति करुणा के भाव क्या थे? उन्होंने धार्मिक संस्थाओं के स्थापन में बड़ी उदारता से योग दिया।

जयवर्मन सप्तम का एक संस्कृत लेख उसकी रानी की धार्मिक वृत्ति के बारे में बहुत अच्छी जानकारी देता है। यह कहा जाता है कि जब जयवर्मन सर्वप्रथम चम्पा

में गये, तब उनकी पत्नी जयराज देवी ने लम्बे समय तक चलने वाले कई प्रकार के तपस और साधना के द्वारा अपनी वैवाहिक निष्ठा व्यक्त की। तब उसकी बड़ी बहिन ने उसे बौद्ध-धर्म की प्रवज्या दिलाई। यह कहा जाता है कि उसने एक ऐसा व्रत किया कि जिससे वह अपने सामने अपने अनुपस्थित पति की प्रतिमा देख सकती थी। जब उसके पति लौटे, तब उसने अपने पवित्र और उदार कार्य और भी बढ़ाये। इनमें एक नाटक का अभिनय भी था। इस नाटक का कथानक जातकों से लिया गया था और इसमें जाति-बहिष्कृत लड़कियों में से एकत्रित की गई भिक्षुणियों ने भाग लिया था।

काम्बुज में १२वीं शती ईस्वी तक बौद्ध-धर्म फलता-फूलता रहा। यह स्मरणीय है कि इस समय तक, यद्यपि बौद्ध-धर्म समृद्ध अवस्था में था, फिर भी न तो वह राज्य-धर्म था और न इस देश में एक प्रधान धार्मिक पंथ के रूप में ही था। इसके बारे में कोई निश्चित जानकारी नहीं मिलती कि बौद्ध-धर्म को ऐसी स्थिति कब मिली। परन्तु यह परिवर्तन निस्सन्देह स्याम के थाई लोगों के प्रभाव के कारण घटित हुआ। यह पहले ही कहा जा चुका है कि वे बड़े पक्के बौद्ध थे। उन्होंने कम्बोडिया के एक बड़े हिस्से को जीत लिया था। पहले स्याम पर कम्बोडिया का प्रभाव था, किन्तु अब स्थिति उलटी हो चुकी थी, और कम्बोडियावासी थाई लोगों के प्रभाव से अपना धर्म परिवर्तित कर पूरे बौद्ध बन गये थे। अंगकोर-वाट आदि बड़े मठों के ब्राह्मण देवताओं के स्थान पर बौद्ध प्रतिमाएँ आ गई थीं। यह प्रतिमा-परिवर्तन कब हुआ होगा यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। परन्तु धीरे-धीरे बौद्ध-धर्म काम्बुज में प्रधान धर्म-पंथ बना और अब उस देश में ब्राह्मण-धर्म का शायद ही कोई चिन्ह शेष बचा हो। काम्बुज के केवल कुछ उत्सवों और त्यौहारों में ब्राह्मणत्व के चिन्ह दिखाई देते हैं।

चम्पा (वियत-नाम)

हिन्द-चीन प्रायद्वीप के पूर्वी समुद्र-किनारे के दक्षिण में जो प्रदेश था, उसे अन्नाम कहते थे। अब वह वियत-नाम कहलाता है। इसी का प्राचीन नाम था चम्पा। स्पष्टतः हिन्दू उपनिवेश निर्माताओं ने उसे यह नाम दिया था। बौद्ध-धर्म ईसा की तीसरी शती से पहले इस देश में जम गया था, यह बात इससे अनुमित होती है कि एक उत्तम अमरावती-शैली की, कांसे की एक बुद्ध प्रतिमा, इसी समय में पाई गई। एक चीनी वृत्तान्त से यह जाना जाता है कि जब चीनियों ने चम्पा की राजधानी को ६०५ ईस्वी में जीता, तब वे अपने साथ १,३५० बौद्ध-ग्रन्थ ले गए। इस महत्वपूर्ण घटना से यह जाना जा सकता कि ईसा की सातवीं सदी से पहले बौद्ध-

धर्म इस देश में बहुत समय तक फलता-फूलता रहा होगा। इ-रिंसग लिखता है कि चम्पा में बौद्ध सामान्यतः आर्यसम्मितीय शाखा के होते थे। सर्वास्तिवादी शाखा के भी कुछ अनुयायी वहाँ थे। इसका अर्थ यह हुआ कि वहाँ श्रावकयान सम्प्रदाय का प्रचार था परन्तु ईसा की आठवीं शती अथवा उसके आस-पास के उत्कीर्ण लेखों से यह जाना जाता है कि चम्पा में बौद्धों का महायान सम्प्रदाय प्रबल था, और शायद तांत्रिक रूप भी, जो बाद में महायान शाखा से निकला। कभी-कभी बौद्ध-धर्म राजाश्रय और ऊँचे अधिकारियों का आश्रय पाता रहा। एक स्थान पर एक बड़ी बौद्ध संस्था के भग्नावशेष भी मिलते हैं जिसका नाम दोंग दुआंग है। इन भग्नावशेषों में एक मन्दिर और मठ है, जिसे राजा जय इंद्रवर्मन ने ८७५ ईस्वी में बनवाया था।

महायान शाखा का बौद्ध-धर्म चम्पा में एक सजीव शक्ति के रूप में ईसा की १५ वीं शती तक चलता रहा, जब उस देश को उत्तर से आये हुए अन्नाम-वासियों ने पूरी तरह से जीत लिया। अन्नामबासी पहले तौन्-किन् में रहते थे और चीन से उन्होंने अपनी संस्कृति ली। चम्पा प्राचीन धर्म का स्थान चीनी बौद्ध-धर्म और इस्लाम ने ग्रहण किया।

इण्डोनेशिया

ईसा की ५ वीं शती के आरम्भ तक जावा द्वीप के लोगों पर बौद्ध-धर्म का बहुत कम प्रभाव था। फाहियान ने करीब ४१४ ईस्वी में जावा द्वीप की यात्रा की और उसने लिखा है कि जहाँ अन्य प्रकार के धर्म, विशेषतः ब्राह्मण धर्म इस प्रायद्वीप में फैले, वहाँ "बौद्ध-धर्म की स्थिति उल्लेखनीय नहीं थी" परन्तु भारतीय भिक्षु गुणवर्मन जैसे उत्साही धर्मप्रचारक को इस बात का श्रेय है कि फाहियान की जावा-यात्रा के बाद पच्चीस वर्षों के भीतर बौद्ध-धर्म न केवल वहाँ प्रचलित हुआ वरन् उसने बहुत बड़ा प्रभुत्व स्थापित किया।

बौद्ध-धर्म सुमात्रा के द्वीप में बहुत पहले प्रचलित हुआ, विशेषतः श्री विजय राज्य में, जिसे कि पलेम्बांग कहा जाता है। इस प्रदेश में पाये गये कुछ उत्कीर्ण लेखों से जाना जाता है कि जो राजा श्री-विजय में ६८३—६८४ ईस्वी में राज्य करता था वह बौद्ध था। प्रसिद्ध चीनी यात्री इ-त्सिंग ने ईसा की सातवीं शती के अन्तिम चरण में भारत की यात्रा की। उसने लिखा है कि श्री विजय का राजा और अड़ौस-पड़ौस के अन्य राजा भी बौद्ध-धर्म को मानते थे, और श्री विजय, बौद्ध ज्ञान का बड़ा महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। श्री विजय के बौद्ध पुजारी एक हज़ार से अधिक थे और मध्यदेश (भारत) की भाँति वे सब विषय पढ़ते थे। इ-रिंसग ने कुछ समय श्री विजय में बिताया और बौद्ध-धर्म ग्रन्थों की शिक्षा ग्रहण की। उसने दक्षिण समुद्र

के द्वीपों में बौद्ध-धर्म की लोक-प्रियता का बहुत मनोरंजक वृत्तान्त लिखा है। दक्षिण समुद्र के दस देशों के नाम देकर वह लिखता है कि इन देशों के और अन्य छोटे द्वीपों के सब लोग "बौद्ध-धर्म मानते हैं और मलयु (श्री-विजय) को छोड़ कर सवत्र हीनयान धर्म माना जाता है। मलयु में कुछ लोग महायान मानने वाले भी हैं।"

बौद्ध धर्म का एक विशाल केन्द्र होने के नाते इण्डोनेशिया का ईसा की ७ वीं से ११ वीं शती तक जो महत्त्व था वह कुछ अन्य तथ्यों से भी सिद्ध होता है। धर्मपाल नामक नालन्दा विश्वविद्यालय के एक प्रसिद्ध आचार्य सुवर्ण द्वीप में आए। सातवीं शती में इंडोनेशिया सुवर्ण-द्वीप ही कहलाता था। अतिश दीपंकर नामक प्रसिद्ध भिक्षु और विद्वान (११ वीं शती) विक्रमशीला विश्वविद्यालय के प्रमुख बने और तिब्बत में उन्होंने बौद्ध-धर्म का दूसरा काल-खंड शुरू किया। ये अपने प्रारम्भिक जीवन में चन्द्रकीर्ति नामक प्रधान स्थविर से बौद्ध-धर्म की शिक्षा लेने, सुवर्ण द्वीप में गए थे। शैलेन्द्र वंश ने महायान शाखा को प्रोत्साहन दिया। शैलेन्द्र वंश मलय प्रायद्वीप और इंडोनेशिया के एक बड़े हिस्से पर राज्य करता रहा। शैलेन्द्र राजा बौद्ध-धर्म के बड़े आश्रयदाता थे और उन्होंने जावा में बोरोबुदूर, कलसन और मेंदुत जैसे विराट स्मारक बनवाए। उत्कीर्णलेखों के साक्ष्य से पता चलता है कि शैलेन्द्र राजाओं में से एक का गुरु गौड देश (बंगाल) का था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बंगाल के पाल राजा और दक्षिण के चोल राजाओं का, शैलेन्द्र काल में, जावा पर धार्मिक विषयों में बहुत प्रभाव रहा। शैलेन्द्र राजाओं ने नालन्दा और नागपट्टिनम् में मठ स्थापित किए और पाल और चोल सम्राटों ने उनकी व्यवस्था के लिए ग्राम दान में दिए। शैलेन्द्रों के प्रभाव में, जावा और सुमात्रा में बहुत लम्बे समय तक महायान चलता रहा। संभवतः बंगाल के प्रभाव के कारण विकृत तांत्रिक प्रकार का बौद्ध-धर्म जावा और सुमात्रा दोनों में फैला। इन दोनों देशों के कुछ बाद के राजाओं का विस्तृत वृत्तान्त मिलता है। वे इन सम्प्रदायों के मानने वाले थे। दो महत्त्वपूर्ण महायान-ग्रंथ भी मिलते हैं—संग ह्यंग कमहयनन मंत्रनय और संग ह्यंग कमहयनिकन। ये दोनों जावा में महायानवाद के प्रमुख सिद्धान्तों की पूरी जानकारी देते हैं।

सुमात्रा और जावा के अलावा, मलयेशिया के अन्य द्वीपों में भी, विशेषतः बाली और बोर्नियो में भी बौद्ध-धर्म प्रचलित हुआ था, इस बात के निश्चित प्रमाण मिलते हैं। ब्राह्मण-धर्म, फिर भी अधिक प्रबल था और बौद्ध-धर्म धीरे-धीरे इन प्रदेशों से लुप्त हो गया।

चौथा अध्याय

बौद्ध-धर्म की प्रधान शाखाएँ और सम्प्रदाय

भारत

ऐसा लगता है कि बुद्ध के जीवन काल में ही ऐसे लोग थे जो उसके अधिकार को नहीं मानते थे। बुद्ध के भतीजे देवदत्त ने, ईर्ष्यावश राजा अजातशत्रु से दुरभिसंधि करके कई बार बुद्ध को मारने के यत्न किए। उसने बौद्ध संघ में फूट डालने का भी यत्न किया। उसने कहा कि बौद्ध-भिक्षुओं को अधिक कड़े नियमों का पालन करना चाहिए। बारहों महीने पेड़ों के नीचे रहना चाहिए, मांस और मत्स्य वर्जित होना चाहिए, और श्रद्धालुओं के घर निमन्त्रण पाने पर भी नहीं जाना चाहिए। ऐसे भी भिक्षु थे जैसे उपनन्द, चन्न, मेत्तिय-भुम्मजक, अथवा षडवर्गीय (पालि: चब्बग्गीय) जो विनय के नियमों को तोड़ने में सुख मानते थे। इसके अलावा कुछ लोगों में ऐसी विकृत आदत होती है कि जहाँ कोई नियम बना, वे उसका विरोध करते हैं। कुछ लोग आराम और सुख का जीवन बिताना चाहते हैं और इस कारण से वैयक्तिक स्वच्छंदता पर किसी भी प्रकार के बन्धन लगाने वाले नियमों की ओर वे ध्यान नहीं देते। उदाहरणार्थ, सुभद्र ने ज्योंही बुद्ध की मृत्यु के समाचार सुने, उसने आराम की साँस ली और कहा कि अब उसे बार-बार यह आज्ञाएँ न सुननी होंगी कि "अमुक बात करो, अमुक बात न करो।"

बुद्ध की मृत्यु के बाद किसी को भी बुद्ध के समान सर्वोच्च अधिकार प्राप्त नहीं थे। वस्तुतः उसने अपने व्यक्तिगत सेवक आनन्द से कहा कि, धर्म और विनय भविष्य में प्रधान सत्ताएँ होंगी। ऐसे सभी वचनों को जो विद्वान भिक्षु या संघ या स्वयं बुद्ध ने कहे, उन्हें बुद्ध के सुत्तों में ग्रथित वचनों से और विनय से मिलाकर देखना होगा।

जब राजगृह में पाँच सौ भिक्षुओं ने महाकाश्यप के सभापतित्व में बौद्ध ग्रन्थों की प्रथम संगीति बुलाई, तब पुराण जैसे या तिब्बती प्रमाण के अनुसार गवाम्पति जैसे लोग थे, जिन्होंने उन्हें नहीं माना। क्योंकि उनका कहना था कि जो कुछ

ग्रथित किया गया, वह मूलतः बुद्ध ने जो कुछ कहा और जिसे उन्होंने सुना था, उससे भिन्न था। ये विभिन्न पंथ या सम्प्रदाय शायद इसलिए चल पड़े कि कुछ व्यक्तियों या गुटों के प्रति व्यक्तिगत लगाव से कुछ सामान्य हित-सम्बन्ध बन गए हों, या सहवास, अध्ययन, भौगोलिक प्रदेश आदि के कारण कुछ गुट बन गए हों, या कदाचित ज्यों-ज्यों समय बीतता गया सचमुच में, प्रामाणिक मतभेद और दृढ़तर हो गए हों।

बुद्ध के वचन और उन पर भाष्य मौखिक गुरु-शिष्य परम्परा से चलते रहे। महापरिनिब्बान सुत्त में गुरु को भय था कि उसके उपदेशों का विकृतीकरण न हो, और इसलिए उसने चार पद्धतियाँ बताईं कि जिनके आधार पर उनके सूत्र सही हैं या नहीं, यह परखा जाता था। एक शतक बहुत लम्बा समय होता है, और बुद्ध की मृत्यु के एक सौ वर्ष बाद भिक्षुओं में यह मतभेद पैदा हुआ कि स्वयं बुद्ध ने क्या कहा था? उसका भाष्य क्या था? एक बार भिक्षुओं ने संघ तक यह मतभेद लाने की स्वतन्त्रता ली, और उसके पश्चात् बुद्ध-निर्वाण के बाद दूसरी, तीसरी शती में ये सम्प्रदाय अट्ठारह तक पहुँचे। वैशाली के वज्जियों ने पहला मतभेद शुरू किया। विनय (चुल्लवग्ग) में और सिंहली वृत्तान्तों में लिखा गया है कि बुद्ध के परिनिर्वाण के एक शती बाद वैशाली में दूसरा संघ बुलाया जाए, जिसमें वज्जी "दस वत्थूनि" का विचार करेंगे।

वसुमित्र तथा अन्य लेखकों के तिब्बती और चीनी अनुवादों से और ही दूसरा वृत्तान्त मिलता है। उनके अनुसार यह संघ या संगीति बुलाई गई थी, जिसका कारण था महादेव के पाँच सिद्धान्तों के प्रति भिक्षुओं में मतभेद।

महादेव मथुरा के एक ब्राह्मण का पुत्र था, और "बड़ा ही पढ़ा-लिखा और विद्वान था।" पाटलिपुत्र के कुक्कुटाराम में वह दीक्षित हुआ और तब वह राजा द्वारा प्रोत्साहित संघ का प्रधान बना। उसके पाँच सिद्धान्त थेः—

१. अर्हत् अनजाने आकर्षण के कारण पाप कर सकता है।
२. कोई अर्हत् ऐसा भी हो सकता है, जिसे अर्हत्पन का पता न हो।
३. अर्हत् को सिद्धान्त के मामले में संदेह हो सकते हैं।
४. गुरु के बिना अर्हत्पन तक नहीं पहुँचा जा सकता।
५. अट्ठमग्ग का पाठ गम्भीरता पूर्वक सद्धर्म का विचार करते हुए दुःख और आश्चर्य के सम्बोधन से शुरू होकर उसी से अन्त हो।

दूसरा संघ क्यों बुलाया गया था, इसके बारे में अलग-अलग परम्पराएँ हैं। सभी वृत्तान्तों में एक बात का उल्लेख स्पष्ट है कि बुद्ध के परिनिर्वाण की एक

शताब्दी बाद मतभेद शुरू हुए। ये मतभेद कट्टर भिक्षुओं के द्वारा बहुत कठोर नियमों को शिथिल करने और उनकी औरों के द्वारा अवहेलना के कारण शुरू हुए। जो भिक्षु नियमों से बाहर चलते थे, वे बाद में महासंघिक कहलाए, और कट्टर पुराणपंथी भिक्षु थेरवादिन (स्थविरवादिन) कहलाए। यह अधिकतर "पुराणपंथी और उदारमतवादी, उच्च-श्रेणीय और लोकतन्त्रात्मक विचारधारा" के बीच मतभेद था। इसमें कोई संदेह नहीं कि संगीति या बौद्ध परिषद से नई विचारधाराएँ विकसित हुईं।

बौद्ध परिषद का निर्णय पुराणपंथी भिक्षुओं के पक्ष में था। वज्जियों ने अधिकांश भिक्षुओं का निर्णय नहीं माना और उन्हें संघ से निष्कासित कर दिया गया। परिणाम यह हुआ कि संगीति एकदम बन्द हो गई, और जो बहुत दिनों से भय था वही फूट पैदा हो गई। संघ की एकता पर उससे बहुत आघात पहुँचा। जो भिक्षु कट्टरपंथियों के मत नहीं मानते थे, उन्होंने दूसरी संगीति बुलाई, जिसमें दस हज़ार भिक्षुओं ने भाग लिया। सचमुच में वह एक महासंगीति थी। इसी कारण से वे लोग महासंघिक कहलाए। एस० बील० ने लिखा है कि "चूँकि इस परिषद में सर्वसाधारण जन और पवित्र व्यक्तियों ने भाग लिया था, अतः इसे महासंगीति कहा जाता है।" सब भाग लेने वालों ने संगीति के नियमों का पालन स्वीकार किया। उनका विश्वास था कि उनके निर्णय महान गुरु की शिक्षा से मिलते-जुलते हुए थे, और वे थेरवादियों से भी अधिक कट्टर थे। संघ में सबसे पहली फूट यों शुरू हुई। प्राचीन बुद्ध संघ के दो निकाय बने—थेरवादी, और महासंघिक। यह खाई बढ़ती गई और ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, इन्हीं में से और कई शाखाएँ अस्तित्व में आईं।

इन विविध शाखाओं की सरणि के इतिहास में, यह देखा गया कि संघ में पहली फूट के बाद कई और खण्ड तथा विभाग होते गए, उपशाखाएँ बनती गईं। समय के अनुसार थेरवाद में से ग्यारह और महासंघिक में से सात और शाखाएँ निकलीं। यह सब एक के बाद एक बुद्ध परिनिर्वाण के तीन-चार सौ वर्षों के भीतर हुआ।

कई अधिकृत स्रोतों से—थेरवादिन, साम्मितीय, महासंघिक—परम्पराओं से और बाद में तिब्बती और चीनी अनुवादों से जाना जाता है कि इन विविध शाखाओं का आरम्भ कैसे हुआ? यद्यपि इन पारस्परिक वर्णनों में एकसूत्रता नहीं है, फिर भी उन सबके आधार पर एक फ्रांसीसी विद्वान, मस्यू आन्द्रे बैरो ने कुछ निश्चित निष्कर्ष निकाले हैं जो काफ़ी सही जान पड़ते हैं।

सभी विभिन्न मतवादों का विस्तार से वर्णन करना यहाँ सम्भव नहीं। अतः केवल कुछ महत्त्वपूर्ण शाखाओं का ही विचार यहाँ किया जाएगा :—

स्थविरवादिन अथवा थेरवादिन

पालि साहित्य में बुद्ध का सबसे प्राचीन जो उपदेश मिलता है, वह थेरवादी शाखा का है। वही बौद्ध-धर्म की सबसे पुरानी शाखा है। इस विचारधारा के अनुसार बुद्ध की प्रकृति मानवीय थी, यानी उनमें मानवीय कमजोरियाँ थीं। यद्यपि कभी-कभी उनमें अतिमानवीय गुण भी दिखाए गए हैं। उन्हें कुछ सूत्रों में देवातिदेव कहा गया है, फिर भी उदाहरणार्थ चातुमा-सुत्त में, वह अपने साथियों और अनुयायियों से असन्तुष्ट हैं, और कहते हैं कि वे मछुआहों की भाँति अनुशासनहीन व्यवहार करते हैं, ज़ोर-ज़ोर से बोलते हैं। उनमें मानवीय कमज़ोरियाँ भी दिखाई गई हैं, जैसे कि जब वह कहते हैं कि "अब मेरी अस्सी वर्ष की आयु है, और मेरी पीठ में दर्द है" ? (पिट्ठि में आगिलायति)।

बुद्ध के उपदेश इस विचारधारा के अनुसार बहुत सरल हैं। वह कहते हैं "सारे पापों से दूर रहो। सब अच्छी बातें जमा करो और मन को पवित्र करो।" यह बातें शील, समाधि और प्रज्ञा के अनुसरण से प्राप्त होंगी। इनका विवरणपूर्वक वर्णन किया गया है। शील अथवा सद्‌व्यवहार ही मानवीय जीवन में सारी प्रगति का मूलाधार है। साधारण गृहस्थ को हिंसा, चोरी, झूठ, व्यभिचार और मादक व्यसनों से बचना चाहिए। यदि वह भिक्षु हो जाए, तो उसे ब्रह्मचर्य का जीवन बिताना चाहिए। गृहस्थ के लिए आवश्यक सद्‌व्यवहार के चार बाकी नियम पालन करने चाहिएँ, और उसे पुष्पमालाएँ या अन्य किसी प्रकार के सौंदर्य-प्रसाधन का व्यवहार नहीं करना चाहिए। नरम गद्दे वाले आसन या बिस्तरे उपयोग में नहीं लाने चाहिएँ, सुवर्ण या चाँदी का उपयोग नहीं करना चाहिए, न नाच देखना चाहिए, न संगीत के जलसे या अन्य असभ्य तमाशों में जाना चाहिए, दोपहर के बाद भोजन नहीं करना चाहिए। कभी-कभी अच्छे व्यवहार का अर्थ लिया जाता है कि बुरे जीवन-व्यवहारों (दश अकुशल-कर्मपथ) से दूर रहना, उदाहरणार्थ हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मिथ्याचार, निन्दा, कठोर शब्द, अहंतापूर्ण वचन, लोभ, असूया, गलत दार्शनिक मत आदि। समाधि, अथवा मनन, ध्यान की चालीस वस्तुओं में से एक या दूसरे से प्राप्त की जा सकती है। मनन का उद्देश्य मन को पूर्णतः संतुलित रखना है, जिससे एक ही समय में एक साथ चार आर्य सत्य की प्रज्ञा हो सकती है, और प्रतीत्यसमुत्पाद के नियम का भी ज्ञान पाया जा सकता है। उसके अनुसार इस जीवन का पूर्व जीवन से और उत्तर जीवन से सम्बन्ध प्रस्थापित किया

जा सकता है। कर्म प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को आकार देता है, और सारा विश्व उससे बँधा है। अतः कर्म एक तेज़ी से चलते हुए रथ की धुरी है।

इस विचारधारा का दर्शन भी बहुत सरल है। सारे ऐहिक वस्तु जात अनित्य हैं, दुःख से भरे हैं और निःसार हैं। सभी चीज़ें नाम और रूप से बनी हुई हैं। आगे उन्हें इस प्रकार वर्णित किया गया है कि उनके पाँच स्कन्ध हैं, रूप नामक भौतिक गुण और चार अ-भौतिक गुण-वेदना, सञ्ञा (संज्ञा), संखार (संस्कार) और विञ्ञान (विज्ञान)। इनके और बारह 'आयतनानि' नामक हिस्से किए गए हैं, जो इंद्रिय-सम्वेदना के विषय हैं, और अट्ठारह धातु माने गए हैं। पहले हिस्सों में छः ज्ञानेन्द्रियां—आँख, कान, नाक, जीभ, शरीर और मन (जो कि बौद्ध दृष्टिकोण से एक इंद्रि है) हैं, और उनके द्वारा संवेद्य विषय हैं, उदाहरणार्थ भौतिक पदार्थ, ध्वनियाँ, गंध, स्वाद, स्पर्श, और धर्मायतन यानी केवल मन से संवेद्य वस्तुएँ। बाद के विभाजन में, छः चेतनाएँ थीं, जो बारह आयतनों में जोड़ दी गईं और इस प्रकार से अट्ठारह धातु बन जाते हैं। इस प्रकार से, बौद्ध-धर्म के इस प्राचीनतम निकाय के अनुसार विश्व के घटकों का अनेकवादी स्वरूप है। यह संख्या दो से पाँच फिर बारह और अन्ततः १८ तक बढ़ती जाती है। यह संख्या जैसा कि हम आगे देखेंगे, अन्य निकायों में अट्ठारह से भी ज्यादा बढ़ गई है। पालि स्रोतों के अनुसार, पाटलिपुत्र की संगीति में, इस निकाय के सिद्धान्त, विभज्यवाद निकाय के सिद्धान्तों के रूप में स्वीकृत कर लिए गए थे।

अभिधम्मट्ठ-संगह (इस निकाय के मनोवैज्ञानिक-नैतिक तत्वों के ८वीं से १२वीं शती के ग्रन्थ) में अनुरूद्धाचार्य नामक लेखक ने चार अन्तिम विभाग दिए हैं—चित्त, चैतसिक, रूप और निर्वाण। चित्त के ८९ विभिन्न विभाग दिए गए हैं (एक अन्य विभाजन के अनुसार १२५ विभाग हैं), चेतसिक के ५२, रूप के २८। निर्वाण वह सुखमय स्थिति है, जहाँ वासना, विद्वेष, भ्रम आदि से हम मुक्त हो जाते हैं, वस्तुतः यह एक वर्णनातीत अवस्था है।

जब एक व्यक्ति वस्तुओं का सही रूप जान लेता है, तब वह यह सांसारिक जीवन छोड़ने का यत्न करता है, चूँकि ऐसे जीवन में कोई तत्व शेष नहीं रहता। वह इंद्रिय-सुखों में अधिक रस लेना और आत्म-पीड़न ये दोनों अतिवाद छोड़कर मध्यम मार्ग अपनाता है, जिसे मध्यमा-प्रतिपत कहते हैं, और फिर दिव्य अष्टमार्ग के अनुसार अपने जीवन को ढालता है। अष्टमार्ग में सम्यक् दृष्टि, सम्यक् निश्चय, सम्यक् शब्द, सम्यक् कर्म, सम्यक् जीवन-पद्धति, सम्यक् यत्न, सम्यक् ध्यान, सम्यक् एकाग्रता आती है। वह यह अनुभव कर लेता है कि सांसारिक दुःख तृष्णा

के कारण हैं, और उसके लिए यह सम्भव है कि दिव्य अष्टांगमार्ग का अनुसरण करके वह इस दुःख को समाप्त कर ले। उस निर्वाण की स्थिति में पहुँच कर वह अर्हत् बन जाता है। इस निकाय के मानने वालों का आदर्श है अर्हत् का जीवन। ऐसे जीवन में (भविष्यत्) जन्म-सरणि समाप्त हो जाती है। पवित्र जीवन पूरी तरह पूर्ण हो जाता है, जिसमें जो कुछ किया जाना चाहिए, वह किया जा चुका होता है और फिर सांसारिक जीवन की ओर मुड़ना नहीं होता।

महीशासक

बहुत से बौद्ध विद्वानों में इस पंथ के विषय में पर्याप्त मतभेद है। इसका कारण यह है कि इस शाखा के दो गुट थे जो दो विभिन्न काल-खण्डों में प्रसिद्ध हुए। पालि स्रोतों के अनुसार यह पंथ वज्जीपुत्तकों के साथ स्थविरवादियों से अलग हुआ और इसी में से सर्वास्तिवादिन निकले, जबकि वसुमित्र यह कहता है कि यह पंथ सर्वास्तिवादियों से निकला था। सबसे पुरान महीशासक शायद पुराणों में मिलते हैं, जो, जैस पहले लिखा जा चुका है, राजगृह की प्रथम संगीति के निश्चयों को अपनी स्वीकृति नहीं देना चाहते थे। यह विचारधारा, ऐसा लगता है, कि श्रीलंका तक फैली। जातकट्ठकथा के आरम्भिक श्लोक में यह कहा गया है कि उसके लेखक ने महीशासक परम्परा में जनमे हुए अपने एक मित्र बुद्धदेव के आग्रह पर वह लिखी। थेरवादियों की भाँति, आरम्भिक महीशासक भी एक साथ चारों सत्यों के ज्ञान में विश्वास करते थे। उनके लिए न गत था न अगत, केवल वर्तमान और नौ असंस्कृत धर्म मात्र थे। ये नौ असंस्कृत धर्म थे—(१) प्रतिसंख्या-निरोध, ज्ञान द्वारा समाप्त करना; (२) अप्रतिसंख्या निरोध, अज्ञान द्वारा समाप्त करना, अर्थात् कारणों का स्वाभाविक रूप से समाप्त होना; (३) आकाश; (४) आनेञ्जता, स्थिरता (५) कुशल-धर्म-तथता; (६) अकुशल-धर्म-तथता और; (७) अव्यकृतधर्म-तथता; (८) मार्गांग-तथता और; (९) प्रतीत्य-समुत्पाद-तथता। इसमें से अन्तिम तो महासंघिकों की सूची में भी है।

थेरवादियों की ही तरह महासंघिकों का विश्वास था कि अर्हत् पीछे लौटकर नहीं आते। साथ ही उनका विश्वास था कि स्रोतापन्न या पहली मंजिल वाले, शायद इस तरह से लौट आते हैं। कोई देव पवित्र जीवन नहीं बिता सकता था। और न अविश्वासी को कोई चमत्कार करने की शक्ति प्राप्त हो सकती थी। अन्तरा-भव या इस जन्म और अगले जन्म के बीच में कोई स्थिति नहीं होती थी। संघ में बुद्ध भी शामिल हैं, और इस कारण से पहले को जो दान दिया जाए, वह केवल बुद्धों को दिए जाने वाले दानों से अधिक महत्त्वपूर्ण है। दिव्य अट्ठमग्ग में सं सम्यक्

वाक्, सम्यक् क्रिया, सम्यक् जीवन-पद्धति सच्चे तत्व नहीं हैं, चूंकि वे मानसिक दशाएँ नहीं हैं। दिव्य मार्ग से उन्हें निकाल दिया जाए।

यह एक मनोरंजक बात है कि बाद के महीशासकों ने इस पंथ के पहले मानने वालों से भिन्न और विरोधी मत भी रखे। सर्वास्तिवादियों की भाँति इनका भी गत, आगत और अन्तरा-भव में विश्वास था, और ये मानते थे कि स्कंध, आयतन और धातु बीजों के रूप में बसते हैं।

सर्वास्तिवादिन

जिन बौद्ध पंथों ने संस्कृत भाषा का प्रयोग अपने ग्रन्थों के लिए किया, उनमें सर्वास्तिवादिन स्थविरवादियों के निकटतम हैं। भारत में स्थविरवादियों के ह्रास के साथ, इस पंथ को महायान का विरोध करना पड़ा। अभिधम्म-कोश के प्रणेता आचार्य वसुबन्धु इस मत के बड़े मानने वाले थे। बाद में अपने बन्धु असंग के प्रभाव से वे महायानवादी बने। यह पंथ भारत में पंजाब और उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त (अब पाकिस्तान) में फूला-फला। कनिष्क (ईसा की प्रथम शती) इस पंथ के बड़े आश्रयदाता थे। उन्हीं के राज्य काल में एक संगीति बुलाई गई, जो बौद्ध-धर्म के इतिहास में प्रसिद्ध हो चुकी है। यह कहा जाता है कि इस संगीति में, जो वसुमित्र के निर्देश में बुलाई गई, सूत्र के विनय और अभिधम्म के बौद्ध पाठ तांबे के पत्रों पर खोदे गए और स्तूप के भीतर रखे गए। फिर भी, वे ताम्रपत्र आज तक प्राप्त नहीं हो सके हैं।

इस पंथ का यह विश्वास कि "सर्वम् अस्ति", सब चीज़ों का अस्तित्व है, संयुत्त-निकाय के समय तक चला आता था। उसमें यह सूत्र है: 'सब्बम् अत्थि'। इसी विश्वास के कारण इस पंथ का नाम सर्वास्तिवाद रखा गया। स्थविरवादियों के समान सर्वास्तिवादी भी बौद्ध-धर्म के वास्तववादी या यथार्थवादी हैं। वे विश्वास करते थे कि वस्तुएँ वर्तमान में ही अस्तित्व में नहीं रहतीं, परन्तु गत और अनागत में भी रहती हैं। गत और अनागत वर्तमान की परम्परा में ही होते हैं। वात्सिपुत्रीयों के समान, साम्मितीय और कुछ महासंघिक अर्हतों के प्रभुत्व के विरोध में विद्रोह करते रहे। अर्हतों को स्थविरवादियों में बहुत अद्वितीय महत्त्व प्राप्त हो चुका था। उनका विश्वास था कि अर्हत् का पतन या वापिस लौटना हो सकता है। जब कि विचित्र बात यह थी कि साथ ही साथ वे यह भी विश्वास करते थे कि स्रोतापन्न या पहली मंजिल वाला व्यक्ति लौटकर नहीं आ सकता। उन्होंने यह भी कहा कि मन से एक निरन्तर संज्ञा-प्रवाह बहता रहे तो उससे मन की समाधि प्राप्त होती है। यह पंथ, स्थविरवादियों की भाँति बुद्ध को मानवोपरि शक्तियों

को नहीं मानता था। महासंघिक मानते थे कि बुद्ध और बोधिसत्व में ऐसी शक्ति है। उनकी श्रद्धा थी कि देवताओं के लिए पवित्र जीवन सम्भव है और अविश्वासी लोगों में भी मानवोपरि शक्ति हो सकती है। वे अन्तरा-भव अथवा इस जीवन और अगले जीवन के बीच अस्तित्व में विश्वास करते थे। वे यह भी मानते थे कि बोधिसत्व पृथक्-जन थे और अर्हत् भी अपने पुराने कर्मों के प्रभाव से मुक्त नहीं थे, और उन्हें कुछ न कुछ सीखना शेष था।

वे नैरात्म्य में विश्वास करते थे। व्यक्ति में किसी भी स्थिर तत्व को वे नहीं मानते थे, यद्यपि सभी वस्तुओं की स्थायी वास्तविकता वे मानते थे। स्थविरवादियों की भाँति वे विश्व में तत्वों की अनेकता में विश्वास करते थे। उनके अनुसार ये तत्व ७५ थे। इनमें से ७२ संस्कृत थे और ३ असंस्कृत। ये तीन थे आकाश, प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध। ७२ संस्कृत धर्मों को चार खण्डों में विभाजित किया गया था। रूप ११ प्रकार का, जिसमें एक अविज्ञप्ति-रूप भी था; चित्त-४६ चित्त-संप्रयुक्त धर्म थे और १४ धर्म चित्तविप्रयुक्त थे; अन्तिम था एक नवीन प्रकार के तत्वों का वर्ग, जो न तो मानसिक कहे जा सकते थे न भौतिक। फिर भी मानसिक या भौतिक आधार के बिना वे सक्रिय नहीं हो सकते थे। ये ७५ तत्व कारण-सरणि से बँधे हुए थे, उनमें से छः हेतु थे और चार प्रत्यय। कुछ लोगों के अनुसार इस पंथ के मानने वाले हेतुवादिन कहलाते थे।

हैमावत

इस नाम से ही स्पष्ट है कि हिमालय प्रदेश में कहीं इस मत का आरम्भ हुआ। अट्ठारह निकायों पर अपनी पुस्तक में वसुमित्र कहते हैं कि हैमावत स्थविर-वादियों के वंशज थे, किन्तु भव्य और विनीतिदेव इसे महासांघिकों की ही एक शाखा मानते हैं। स्थविरवादियों की भाँति हैमावतों का विश्वास था कि बोधिसत्वों का कोई विशेष स्थान नहीं था, परन्तु उनके विरुद्ध वे कहते थे कि देवता ब्रह्मचर्य का पवित्र जीवन नहीं बिता सकते थे और अश्रद्धालु लोगों में चमत्कारिक शक्ति नहीं हो सकती थी।

वात्सिपुत्रीय

इन्हीं के साथ साम्मितीय उपशाखा भी जोड़ी जाती है। इन्हें बौद्ध मतवादियों में अलग से चीन्हा जा सकता है, क्योंकि ये पुद्गल सिद्धान्त में विश्वास करते थे। पुद्गल व्यक्ति का स्थिर-तत्व है। इस पंथ ने वे सब सूत्र खोज निकाले, जिनमें पुद्गल शब्द था, और इन्होंने यह मान लिया कि ऐसे पुद्गल के बिना, पुनर्जन्म सम्भव नहीं था। अभिधम्मकोश में वसुबन्धु ने पुस्तक के अन्त में एक विशेष अध्याय में, इस दृष्टिकोण का विरोध करने का

यत्न किया। वात्सिपुत्रीयों के अनुसार पुद्गल न स्कन्धों के समान था, न उनसे भिन्न था। स्थविरवादियों की तरह वे इसमें विश्वास करते थे कि अर्हत् का पतन हो सकता है और अविश्वासी भी चमत्कार दिखला सकते हैं। इसके उप-पंथ के साम्मितियों के अनुसार देवता पवित्र जीवन नहीं बिता सकते। ये अन्तरा-भव में भी विश्वास करते थे, और अभिधम्म के मानने वालों की तरह से, सौत्रांतिकों की प्रथम और दूसरी तन्द्रा के बीच की अवस्था में विश्वास करते थे। उस अवस्था में वितर्क का लोप हो जाता है, और विचार बना रहता है। महीशासकों के अनुसार उनका विश्वास दिव्यपंथ के पाँच तत्वों में था। यह भी कहा जाता है कि हर्ष के राज्यकाल में उसकी बहिन राज्यश्री ने इस पंथ को राजाश्रय दिया। इस मत के मानने वाले कभी अवंतिक कहलाते थे, चूंकि वे अवंती के निवासी थे।

धर्मगुप्तिक

धर्मगुप्तिक महाशासनिकों से टूट कर अलग हो गए थे। अलग होने का कारण बुद्ध और संघ को जो भेंट चढ़ाई जाये, उसके बारे में मतभेद था। इस मत के अनुसार बुद्ध को भेंट चढ़ाना और स्तूपों की श्रद्धा करना प्रधान धर्म था। उनके विनय के नियमों से यह स्पष्ट है। महासंघिकों की तरह वे भी विश्वास करते थे कि अर्हत् पाप-वासनाओं से मुक्त था और नास्तिक और अविश्वासी अतिमानुषी या चमत्कार करने की शक्ति नहीं पा सकते थे।

यह मत मध्येशिया और चीन में लोकप्रिय बना। इसका अपना सूत्र, विनय और अभिधम्म साहित्य था। इसके विशिष्ट प्रातिमोच्च के नियम चीन के मठों में पालन किये जाते थे।

काश्यपीय

काश्यपीय सर्वास्तिवादिन और धर्मगुप्तिकों से कई गौण बातों में भिन्न थे, और स्थविरवादियों के निकट थे। इसीलिए उन्हें स्थावरीय भी कहते हैं। तिब्बती स्रोतों के अनुसार वे सुवर्षक कहलाते हैं। काश्यपीयों का विश्वास था कि वह गत जिसका फल मिल चुका, वह समाप्त हो चुका है, परन्तु वह जो अभी पका नहीं है वह अभी जी रहा है। सर्वास्तिवादियों के मत में यों कुछ सुधार हुआ। वे तो गत को वर्तमान की भाँति जीवित मानते थे। काश्यपीयों के लिए कहा जाता है कि उन्होंने सर्वास्तिवादिन और विभज्यवादियों के बीच में समन्वय किया, और उनका अपना एक त्रिपिटक भी है।

सौत्रांतिक या संक्रांतिवादिन

पालि स्रोतों के अनुसार संक्रांतिवादिन शाखा काश्यपीय से निकली है और

सौत्रांतिक संक्रांतिवादिनों से, जब कि वसुमित्र के अनुसार दोनों एक-से हैं। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, यह पंथ संक्रांति में विश्वास करता था। इसका अर्थ था वस्तुएँ एक जन्म से दूसरे जन्म में रूप बदलती हैं। उसके अनुयायियों के अनुसार, एक व्यक्ति के पाँच स्कंधों में से एक सूक्ष्म स्कंध ऐसा है जो कि जन्मांतरित होता है। समूचा पुद्गल स्थानांतरित नहीं होता, जैसा कि साम्मितीय मानते थे। काश्यपीय शाखा के अनुसार यह सूक्ष्म स्कंध ही सच्चा पुद्गल है। पुद्गल भी वही सूक्ष्म चेतना है जो सारे शरीर में व्यापी रहती है। महासंघिकों का यह मत है, और यह योगाचारियों के आलय-विज्ञान से मिलता-जुलता है। यह भी संभव है कि इस शाखा ने यह सूक्ष्म चेतना का सिद्धान्त महासंघिकों से लिया और उसे योगाचार पंथ को दे दिया। उसका इस बात में भी विश्वास था कि प्रत्येक मनुष्य के भीतर बुद्ध बनने की सम्भावनाएँ हैं—यह सिद्धान्त महायान का था। ऐसे मतों के कारण यह मत श्रावकयान (जिसे कि सही अर्थ में नहीं, परन्तु अक्सर हीनयान कहा जाता है) और महायान के बीच दोनों को मिलाने वाले पुल की तरह माना जाता है।

महासंघिक

यह सर्वसामान्यतः माना जाता है कि महासंघिक महायान के पहले बीज बोने वाले थे, और इस प्रकार से उसके आरम्भकर्त्ता थे। उन्होंने इस नये मतवाद का पक्ष बड़े उत्साह से और उमंग से अपनाया, और कुछ दशाब्दियों के भीतर ही शक्ति और लोकप्रियता की दृष्टि से यह पंथ बहुत विकसित हुआ। विनय के तत्कालीन प्रचलित नियमों को उन्होंने अपने सिद्धान्तों पर घटित किया, और नये नियम भी बनाये। इस प्रकार से बौद्ध-धर्म और संघ में उन्होंने पूरी तरह से क्रान्ति कर दी। साथ ही उन्होंने सूत्रों के और विनयपाठ के अर्थ और काव्य में परिवर्तन घटित किये। उन्होंने कई ऐसे सूत्रों को ग्रथित किया और नियम-बद्ध बनाया, जो कि बुद्ध के वचन माने जाते थे। उन्होंने बहुत से सूत्रपाठ अस्वीकृत कर दिये, यद्यपि वे प्रथम संगीति में मान लिए गये थे। उन्होंने यह भी कहा कि सूत्र बुद्ध के वचन नहीं हैं, यथा परिवार, अभिधम्म, पटिसंभिदा, निद्देस और जातकों के कुछ भाग। परिवार विनय का ही एक परिशिष्ट था और शायद किसी सिंहली भिक्षु की रचना है। अभिधम्म तीसरी संगीति में संकलित हुआ। यह संगीति राजा अशोक के समय हुई थी। पटिसंभिदा, निद्देस और जातकों के कुछ भाग आज भी बुद्ध वचन नहीं माने जाते। अधिकारी विद्वानों में इस विषय में मतभेद है कि ये धर्मसूत्र माने जाएँ अथवा नहीं, क्योंकि ये सूत्र बाद के काल की रचनाएँ लगती हैं। ये सब पाठ बाद में जोड़े गए हैं और महासंघिकों के सूत्रसंग्रह

में वे नहीं हैं। इस प्रकार से धम्म और विनय के सूत्रपाठ उन्होंने नए सिरे से विकसित किए, और महाकस्सप की संगीति में जो अस्वीकृत पाठ थे, वे भी उसमें जोड़े। इस प्रकार से धर्मसूत्रों में एक दुहरा विभाजन उठ खड़ा हुआ। महासंघिकों का संकलन आचारिकवाद कहलाया। थेरवाद से इसे भिन्न करने के लिए यह नाम दिया गया।

युआन च्यांग ने लिखा है कि महासंघिकों का अपना धर्मसूत्रपाठ था, जिसे उन्होंने पाँच हिस्सों में विभाजित कर दिया था। वे हिस्से थे सूत्र, विनय, अभि-धर्म, धारणी और इतर। महासंघिकों का विनय, युआन च्यांग के अनुसार वही था जो महाकस्सप-संगीति में संकलित किया गया था। वह लिखता है कि दक्षिण में धनकटक में उसने अभिधम्म दो भिक्षुओं से सीखा। वह अपने साथ भारत से वापिस चीन में ६५७ संस्कृत ग्रन्थ ले गया और उसने चीनी सम्राट के आदेश से उनका चीनी भाषा में अनुवाद किया। उनमें पन्द्रह सूत्र, विनय और अभिधर्म पर महासंघिक ग्रंथ थे। उससे भी पहले फाहियान महासंघिकों के संपूर्ण विनय का चीनी लिप्यंतर पाटलिपुत्र से ले गए थे। नांजियो की सूची से दो महासंघिक विनय ग्रन्थों का पता लगता है—भिक्षु-विनय और भिक्षुणी-विनय—जो अब चीनी भाषा में ही बाकी हैं। महासंघिक पंथ के मूल ग्रन्थों में से अब हमें कोई मिलता है तो केवल महावस्तु अथवा महावस्तु-अवदान है। महासंघिक शाखा के लोकोत्तरवादियों के विनयपिटक का यह प्रथम ग्रंथ है। उसके अनुसार, बुद्ध लोकोत्तर हैं और वे केवल बाह्यतः ऐहिक जीवन से सम्बद्ध हैं। बुद्ध के इस रूप का महायान दर्शन के विकास में बड़ा योग रहा है। महावस्तु का मुख्य विषय है बुद्ध की जीवनी और उसी में संघ की स्थापना और प्रथम धर्मान्तरों का इतिहास दिया हुआ है। वह अंशतः संस्कृत में और अंशतः प्राकृत में, अथवा एक प्रकार की मिश्रित भाषा में जो संस्कृत से मिलती-जुलती है, लिखा गया है। यह ग्रन्थ सम्भवतः ईसापूर्व दूसरी शती और ईसा की चौथी शती में रचा गया।

उत्कीर्णलेखों से भी प्रमाण मिलते हैं कि महासंघिक सूत्र अवश्य रहे होंगे। उदाहरणार्थ अमरावती के उत्कीर्णलेखों में, विनय-धर, महाविनय-धर और संयुक्त भाणक जैसे शब्द आते हैं, और ये सब भिक्खुओं और भिक्खुणियों के लिए प्रयुक्त किए गए हैं। इसी प्रकार से नागार्जुनकोंडा के उत्कीर्णलेख में ये शब्द आते हैं: दीघ-मज्झिम-पंचमातुक-ओसक-वाचकानम्, दीघ-मज्झिम-निकाय-धरेण इत्यादि: इस सारे प्रमाण से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि महासंघिकों के धर्मसूत्र ईसा की प्रथम शती तक शायद अस्तित्व में रहे होंगे।

विनीतदेव (ईसा की आठवीं शती) के अनुसार, महासंघिकों का साहित्यिक माध्यम प्राकृत भाषा थी। बस्टन कहता है कि महासंघिकों के धर्मसूत्र प्राकृत में लिखे गए थे। कसोमा कौरौस लिखता है कि महासंघिकों का "निर्वाण विषयी सूत्र" एक विकृत उपभाषा में लिखा गया था। महावस्तु की भाषा मिश्रित संस्कृत थी, यह पहले ही कहा जा चुका है। यह एक प्रकार की प्राकृत थी। इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि इस पंथ का साहित्य प्राकृत में था।

बुद्ध-परिनिर्वाण के बाद दूसरी शती में महासंघिक पंथ की कई उपशाखाएँ हो गईं—एकव्याहारिक (इसे एकव्यवहारिक भी कहते हैं), लोकोत्तरवाद, कुक्कुटिक (गोकुलिक), बहुश्रुतीय, और प्रज्ञप्तिवाद आदि। उसके कुछ समय बाद शैल पंथ चला। चैत्यक इसलिए कहलाते थे कि वे चैत्यों को मानते थे। दोनों ने महायान-पंथ के विकास में सहायता दी। शैलों का नाम इस लिये पड़ा कि उनके कार्यक्षेत्र के आसपास पर्वत थे। श्रीलंका की गाथाओं के अनुसार, वे आंध्र देश में इतने लोकप्रिय थे कि वे अंधक कहलाते थे। फिर भी पालि भाषा में लिखा है कि "चैतियवादिन (चैत्यवादिन) और अंधक दोनों ही कुछ सिद्धान्तों के लिए प्रतीक रूप में प्रयोजित प्रादेशिक नाममात्र थे।" जिन शाखाओं में महासंघिकों का विभाजन हुआ था, उनमें चैत्यक और शैल प्रमुख थे और उनका दक्षिण में बड़ा प्रभाव था।

आरम्भ में महासंघिक अधिक प्रगति नहीं कर सके, चूंकि कट्टर पुराणपंथी थेरवादियों ने उनका बड़ा विरोध किया। उन्हें मगध में अपना सिक्का जमाये रखने के लिए बड़ा संघर्ष करना पड़ा था, परन्तु वे धीरे-धीरे शक्तिशाली बनते गये और उनका बड़ा बलवान संघ बना। यह इस बात से सिद्ध होता है, कि इस शाखा ने पाटलिपुत्र और वैशाली में अपने केन्द्र स्थापित किये और उत्तर और दक्षिण में अपना जाल फैलाया। युआन-च्वांग कहता है कि "पाटलिपुत्र के बहुत से छुटभैयों की बहुसंख्या ने महासंघिक शाखा बनाई।" इ-त्सिंग (६७१से ६६५ ईस्वी) भी लिखता है कि मगध (मध्यदेश) में उसे महासंघिक मिले, कुछ लाट में और सिन्धु देश में, और कुछ उत्तरी, दक्षिणी और पूर्वी भारत में भी। मथुरा के सिंह-शीर्ष स्तम्भ (१२० ईसापूर्व) पर जो शिलालेख है, उसके अनुसार एक बुधिल नामक गुरु को कुछ अनुदान दिया गया था जिससे कि वह महासंघिकों को शिक्षा दे। यह सब से प्राचीनतम पुरालेख-साक्ष्य है कि महासंघिक अस्तित्व में थे। वरदक पात्र, जो अफ़ग़ानिस्तान में पाया गया और जिसमें बुद्ध के धातु हैं, वह कमलगुलव ने हुविष्क के राज्यकाल में महासंघिक भिक्षुओं को दिया। अंदरह (अफ़ग़ानिस्तान) में युआन-च्वांग को तीन मठ या विहार मिले जो इसी पंथ के थे।

इससे सिद्ध होता है कि यह पंथ भारत के उत्तर-पश्चिम में भी लोकप्रिय था। बम्बई प्रदेश में कार्ले की गुफाओं में जो एक अभिलेख है उसके अनुसार महासंघिक पंथ को एक गाँव और नौ-कमरों का प्रकोष्ठ अनुदान में दिया गया। यह स्पष्ट है कि महासंघिकों का कार्ले में केन्द्र था और उनका पश्चिम के लोगों पर प्रभाव था। फिर भी वे केवल मगध तक सीमित नहीं थे, परन्तु भारत के उत्तरी और पश्चिमी प्रदेशों में फैलते गये, और उनके अनुयायी सारे देश में बिखरे थे। फिर भी यह बात दक्षिण में इस पंथ की जो उपशाखाएँ थीं, उनके बारे में सही नहीं है। अमरावती और नागार्जुनकोंडा के-उत्कीर्णलेखों में हंघी (अयिर-हघाण), चैत्यिक (चेतियवादक) महावनसेलियान (अपर महावनसेलिय), पुवसेले, राजगिरि-निवासिका (राजशैल), सिद्धथिका, बहुश्रुतीय, और महीशासक उपशाखाओं का उल्लेख है। यह अधिकतर स्थानिक उपशाखाएँ थीं। केवल अन्तिम को छोड़कर शेष सब महासंघिक पंथ की उपशाखाएँ थीं। अमरावती स्तूप बेजवाड़ा के पश्चिम में १८ मील पर स्थित है। यह स्तूप ईसापूर्व दूसरी शती में बनाया गया था, और बाहर का शिल्प वेष्टन ईसा की दूसरी शती में और अन्दर का शिल्प-वेष्टन ईसा की तीसरी शती में बनाया गया होगा ऐसा अनुमान है। अमरावती के बाद नागार्जुनकोंडा दक्षिण भारत में सब से महत्त्वपूर्ण स्थान है। नागार्जुनकोंडा के स्मारक बौद्ध धर्मानुयायी इक्ष्वाकु कुल की कुछ रानियों और राजपुत्रियों के दान से बने। ये स्मारक ईसा की तीसरी या चौथी शती के रहे होंगे। यद्यपि महाचेतिय कदाचित और भी पहले का रहा होगा। नागार्जुनकोंडा के ये भवन महासंघिक पंथ के महत्त्वपूर्ण केन्द्रों के नाते विख्यात हुए होंगे। इससे यह स्पष्ट है कि महासंघिकों का कार्य उत्तर और दक्षिण दोनों ओर फैला था। फिर भी उनका दक्षिण में अधिक प्रभाव रहा होगा, विशेषतः गुंटूर और कृष्णा प्रदेशों में, जहाँ कि चैत्यक और शैल उपशाखाओं ने बहुत ही सफलता प्राप्त की। अंधक नाम से स्पष्ट है कि शैलों को आंध्र में बड़ी लोकप्रियता मिली होगी।

महासंघिक और उसकी सब उपशाखाओं के प्रमुख सिद्धान्त कथावस्तु में, महावस्तु में, वसुमित्र, भव्य और विनीतदेव की रचनाओं में ग्रथित हैं। बहुश्रुतीय और चैत्यक महासंघिक शाखा के बाद के अंकुर थे, और वे मूल महासंघिक से अपने मतों में कुछ-कुछ भिन्न थे।

महासंघिक, थेरवादियों की ही तरह से, बौद्ध-धर्म के प्रमुख सिद्धान्त मानते थे, और इस मामले में वे एक दूसरे से भिन्न नहीं थे। ये मूल सिद्धान्त थे चार आर्य सत्य, अष्ट मार्ग, आत्मा का अनस्तित्व, कर्म-सिद्धान्त, प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त, ३७ बोधि-पक्षीय धर्म, और आध्यात्मिक विकास की क्रमिक स्थितियाँ। उनके

अनुसार अनेक बुद्ध लोकोत्तर हैं, उनके शरीर, उनकी आयु और उनकी शक्तियाँ असीम हैं, वे न तो सोते हैं, न सपने लेते हैं। वे आत्म-स्थित हैं और सतत समाधि की अवस्था में होते हैं, वे नाम से उपदेश नहीं देते, वे एकक्षणिक-चित्त हैं। जब तक परिनिर्वाण प्राप्त नहीं होता, इन बुद्धों को क्षय ज्ञान होता है और अनुत्पाद-ज्ञान होता है। संक्षेप में, इन बुद्धों से सम्बद्ध सब कुछ मानवोपरि है। महासंघिकों की बुद्ध की इस कल्पना ने महायान की बाद की त्रिकाय विचारधारा के विकास में योग दिया। उनके अनुसार, बोधिसत्व ऐहिकोपरि है, और वे साधारण व्यक्तियों की चार गर्भस्थ स्थितियों में से नहीं गुज़रते। वे सफेद हाथियों के रूप में अपनी माताओं की कुक्षि में प्रवेश करते हैं, और कोख से वे दाहिनी तरफ से जन्म लेते हैं। उन्हें कभी काम, व्यापाद, विहिंसा की भावनाओं का अनुभव नहीं होता। सभी चैतन्य मानवों के लाभ के लिए, वे अपनी मुक्त इच्छा से चाहे जिस किसी भी रूप में जन्म लेते हैं। इन सभी विचारों से बुद्धों और बोधिसत्वों को देवरूप मिला। महासंघिकों की एक शाखा, महादेव के मानने वाले, यह मानते हैं कि अर्हंतों की भी अपनी कमज़ोरियाँ होती हैं, उन्हें भी और लोग सिखा सकते हैं, उनमें कुछ अज्ञान का अंश और संदेह का अंश होता है, और वे केवल दूसरों की सहायता से ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार से, अर्हंतावस्था पवित्रता की अन्तिम अवस्था नहीं है।

महासंघिकों के कुछ अन्य विश्वास इस प्रकार के हैं :

(१) पाँच विज्ञान, सराग और विराग दोनों प्रकार के होते हैं।

(२) रूपेन्द्रिय केवल मांसल होते हैं। वे अपने आप में इंद्रियों के विज्ञान को नहीं पहचान सकते।

(३) प्रज्ञा के द्वारा दुःख की पूर्ण समाप्ति और निर्वाण सम्भव है।

(४) स्रोतापन्न पीछे मुड़कर जा सकता है, परन्तु अर्हंत नहीं। वह अपना स्वभाव चित्त और चैतसिक धर्मों से जान सकता है। सब प्रकार के पाप कर सकता है, पंचानन्तर्यानि छोड़ कर। ये पाँच महापाप हैं, मातृ-हत्या, पितृ-हत्या, अर्हंत का वध, बुद्ध का रक्तपात और संघ में फूट डालना।

(५) कुछ भी अव्याकृत नहीं है। अर्थात् वस्तुओं का स्वभाव या तो अच्छा है या बुरा, क्योंकि वह अच्छी भी न हों और बुरी भी न हों ऐसा नहीं हो सकता।

(६) मन का मूल स्वभाव पवित्र होता है, वह उपक्लेश और आगन्तुकरजस से कलंकित होकर विकृत हो जाता है।

(महासंघिकों की यह विचारधारा योगाचार के आदर्शवादी दर्शन की

पूर्वपीठिका थी जिसमें कि आलय-विज्ञान विशुद्ध चेतना का भाव माना जाता है और जो भौतिक वस्तुओं द्वारा विकृत होकर अपवित्र बनता है।)

(७) मृत्यु के बाद और पुनर्जन्म से पूर्व जीव का कोई अस्तित्व नहीं है।

इस प्रकार से महासंघिक अन्य पंथों से बहुत भिन्न थे, सैद्धान्तिक मामलों में और अनुशासन के नियमों में भी। इस विचारधारा के मानने वाले पीत चीवर पहनते थे, जिसका निचला हिस्सा बांई ओर मजबूत खिंचा रहता था।

बहुश्रुतीय

अमरावती और नागार्जुनकोंडा के शिलालेखों में बहुश्रुतीय मत का उल्लेख है। वह महासंघिक की ही एक बाद की धारा थी। उसका आरम्भ एक ऐसे आचार्य द्वारा हुआ जो बौद्ध-धर्म के सूत्रों में बहुश्रुत था।

इन बहुश्रुतियों के मूल सिद्धान्त यों थे : वे मानते थे कि बुद्ध के उपदेश अनित्यता, दुःख, शून्य, अनात्मन् और निर्वाण से सम्बद्ध हैं। वे लोकोत्तर हैं, चूंकि उनसे मुक्ति मिलती है। उसके अन्य उपदेश लौकिक हैं। इस मामले में बहुश्रुतीय बाद में आने वाले महायान आचार्यों के पूर्व उद्घोषकर्त्ता थे। उनके अनुसार निर्वाणिक कोई विशेष साधन नहीं था। इसके अतिरिक्त संघ भौतिक नियमों को मानने वाला नहीं था। महादेव के पाँच प्रमेयों को वे अपना ही मत मानते थे। कुछ सैद्धान्तिक मामलों में शैल शाखाओं में और इनमें बहुत कुछ साम्य था, और अन्य मामलों में वे सर्वास्तवादियों के निकटतम थे।

परमार्थ के अनुसार, इस उपशाखा ने बौद्ध-धर्म की दो प्रमुख विचारधाराओं-श्रावकयान और महायान को मिलाने का यत्न किया। हरिवर्मन का सत्यसिद्धिशास्त्र इस मत का प्रथम सूत्र-ग्रंथ है।

बहुश्रुतियों को "कट्टर और महायान मत के बीच का पुल" माना जाता है, क्योंकि उन्होंने दोनों के उपदेशों को मिलाने का यत्न किया। हरिवर्मन आत्म-नैरात्म्य और धर्म-नैरात्म्य में विश्वास करते थे। कट्टर विचारधाराओं के अनुयायियों की भाँति वह विश्व की अनेक-रूपता में विश्वास करते थे, उनके अनुसार उसमें ८४ तत्व थे। महायानवादियों की भाँति, उनका विश्वास था कि दो प्रकार के सत्य हैं—संवृति और परमार्थ। उनका यह भी विश्वास था कि रूढ़ सत्य के दृष्टिकोण से आत्मा अथवा विश्व का ८४ तत्वों में विभाजन तो अस्तित्व में था, परन्तु परम सत्य के दृष्टिकोण से सर्वशून्य भी था। वे बुद्धकाय और धर्मकाय के सिद्धान्तों में विश्वास करते थे। इसका स्पष्टीकरण वे यों देते थे कि शील, समाधि, प्रज्ञा, विमुक्ति, विमुक्ति-ज्ञान-दर्शन आदि से यह धर्मकाय बने हैं। यद्यपि बुद्ध के परम

मानवोपरि स्वभाव में उनका विश्वास नहीं था, फिर भी बुद्ध की विशेष शक्तियों में उनका विश्वास था, जैसे दश बलानि और चार वैशारद्य आदि। इन्हें स्थविरवादी भी मानते थे। उनका विश्वास था कि वर्तमान ही वास्तविक था, जबकि भूत और भविष्यत् का कोई अस्तित्व नहीं था!

चैत्यक

चैत्यवाद शाखा महादेव नामक उपदेशक से शुरू हुई, बुद्ध-परिनिर्वाण के बाद दूसरी शती के अन्त में। इस महादेव को महासंघिकों के आरम्भकर्त्ता महादेव से भिन्न मानना चाहिए। वह एक विद्वान और अध्यवसायी साधु था, जिसे महासंघिक संघ में दीक्षा मिली थी। वह महासंघिकों के पाँच सिद्धान्त मानता था और उसने एक नया संघ चलाया। चूँकि वह एक ऐसे पर्वत पर रहता था, जिस पर एक चैत्य था, इसलिये उसके अनुयायी चैत्यक कहलाये। साथ ही, यह नाम अमरावती और नागार्जुनकोंडा के शिलालेखों में भी उल्लिखित है। चैत्यवाद शैल मतों का मूल था।

सामान्यतः कहा जाय तो चैत्यक मूल महासंघिकों के आधारभूत सिद्धान्तों को मानते थे, किन्तु कुछ गौण बातों में उनसे भिन्न मत रखते थे। चैत्यक मत के कुछ विशेष सिद्धान्त ये थे :

(१) चैत्यों के निर्माण, अलंकरण और पूजा से बड़ा पुण्य मिलता है; चैत्यों की प्रदक्षिणा भी पुण्यदायिनी होती है।

(२) चैत्यों को फूल, मालाएँ, सुगंध आदि चढ़ाना बहुत पुण्यप्रद होता है।

(३) उपहार चढ़ाने से धार्मिक पुण्य मिल सकता है। ऐसे पुण्य अपने मित्रों और परिवार-जनों को हम उनके सुखों के लिए दे सकते हैं—यह विचार आदिम बौद्ध-धर्म के लिए अज्ञात था, परन्तु महायानवाद में प्रचलित था। इन मान्यताओं ने बौद्ध-धर्म को जन-साधारण में लोकप्रिय बनाया।

(४) बुद्ध आसक्ति, ईर्ष्या, द्वेष तथा भ्रांति से मुक्त हैं। वे जित-राग-दोस-मोह हैं और धातुवर-परिगहित हैं। वे अर्हतों से बढ़ कर हैं, चूँकि उनके पास दस बल हैं।

(५) सम्यक्-दृष्टि वाला व्यक्ति द्वेषमुक्त नहीं हो सकता, और इस कारण से वह हत्या के पाप के खतरे से मुक्त नहीं होता।

(६) निर्वाण एक "अमत धातु" अवस्था है।

इससे यह स्पष्ट होगा कि महासंघिक और उसकी उपशाखाओं के सिद्धान्तों में वे बीज हैं, जिनसे बाद का महायान विकसित हुआ।

बुद्ध और बोधिसत्व को देवता-रूप देने वाला यह प्रथम मतवाद था, जिसका अन्त में यह परिणाम हुआ कि महायान में बुद्ध और बोधिसत्व का संपूर्णतया दैवी रूप बन गया। इसी कारण से यह धर्म जनसाधारण में बहुत लोकप्रिय हुआ। उनके संभोगकाय के सिद्धान्त से त्रिकाय सिद्धान्त बना, जो कि महायान के एक प्रमुख लक्षणों में से है। चैत्यों की पूजा और भेंट चढ़ाने का जो रिवाज महासंघिक पंथों ने चला दिया, उससे बौद्ध-धर्म का यह जनप्रिय रूप विकसित हुआ। महासंघिक महायान आन्दोलन के पूर्व-घोषक माने जा सकते हैं। उन्हीं के द्वारा बौद्ध-धर्म अधिक से अधिक जनता को आकर्षित कर सका, अन्यथा वह ऐसा न कर पाता

कथा-वत्थु पर लिखे भाष्य में कुछ और पंथों का उल्लेख है : राजगिरिक, सिद्धत्थक, पुब्बसेलिय, अपरसेलिय, वाजिरिय, उत्तरापथ, वेतुल्य और हेतुवादिन। पहले चार अन्धक नाम से पहचाने जाते हैं। वाजिरिय के विषय में बहुत कम जानकारी प्राप्त होती है। उत्तरापथ उत्तर में और उत्तर-पश्चिमी देशों में था, वह अफ़ग़ानिस्तान में भी था। उन्हें "तथता" सिद्धान्त का श्रेय दिया जाता है, जो कि महायानियों की विशेषता थी। इस मत का विश्वास था कि बुद्ध की विष्ठा भी सुगंधित थी। उनका विश्वास था कि मार्ग एक ही था, और कट्टर पंथों में जैसे माना जाता था, वैसे चार मार्ग नहीं थे, और जनसाधारण भी अर्हत बन सकते थे। वेतुल्यक अथवा महाशून्यतावादियों का विश्वास था कि बुद्ध या संघ का कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं था, परन्तु वे दोनों केवल अरूप कल्पनाएँ थीं। ऐसा कहते हैं कि उन्हें यह भी मत मान्य था कि केवल सहानुभूति या करुणा से प्रेरित शरीर सम्भोग उचित है। भिक्षु या भिक्षुणी, यति या साधुनियाँ भी ऐसा काम-सम्बन्ध रख सकती हैं। यह मत शायद तंत्रवाद का प्रभाव रहा हो। जैसे कि पहले ही कहा गया है, कुछ लोग हेतुवादियों को सर्वास्तिवादियों से मिलते-जुलते मानते हैं, जब कि कथावत्थु भाष्य के अनुसार वे एक स्वतन्त्र शाखा हैं। यह मत भी उनका माना जाता है कि दुनियादार या सांसारिक मनुष्यों को परम-दृष्टि प्राप्त नहीं हो सकती, और एक व्यक्ति दूसरे को सुख दे सकता है।

ईसा की दूसरी और तीसरी शती के उत्कीर्णलेखों से पता चलता है कि निम्न निकाय अवश्य रहे होंगे : सर्वास्तिवादिन, महासंघिक, चैत्यक, साम्मितीय, धर्मोत्तरीय, भद्रयानीय, महीशासक, पूर्वशैलीय, अपरशैलीय, बहुश्रुतीय और काश्यपीय। ईसा की ७वीं शती में युआन-च्वांग और इ-त्सिंग के प्रवास-वृत्तान्तों से पता चलता है कि उस समय कई मठ और विहार थे, और कई बौद्ध सम्प्रदायों के मानने वाले उनमें रहते थे। इ-त्सिंग के वर्णन के अनुसार कुछ विशेष सम्प्रदायों के स्पष्ट उल्लेख हैं : एक तो

श्रावकयान या कट्टर मत के मानने वाले और दूसरे सुधरे हुए मतों को मानने वाले लोग भी थे। परन्तु यह भी स्पष्ट है कि, सामान्यतः बौद्ध संघ दो प्रमुख गुटों में विभाजित था : पुराना कट्टर पंथी श्रावकयान और बाद का सुधरा हुआ महायान।

माध्यमिक

महायान बौद्ध-धर्म दो विचारधाराओं में विभाजित है : माध्यमिक और योगाचार।

माध्यमिक मध्यमा-प्रतिपत पर जोर देते थे। वाराणसी के प्रथम धर्मोपदेश में बुद्ध ने मध्यम-मार्ग का उपदेश दिया। वह न तो आत्म पीड़न का मार्ग था और न इंद्रिय-सुख-विलास का। फिर भी, माध्यमिक पंथ के मानने वालों का मध्यम मार्ग वही नहीं था। यहाँ पर मध्यम मार्ग का अर्थ है अस्तित्व और अनस्तित्व, चिरंतनता और अचिरंतनता, आत्म और अनात्म आदि के विषय में दोनों ही मतों को न मानना। संक्षेप में, उसके अनुसार संसार न तो वास्तविक है, न अवास्तविक है, वरन् केवल एक सापेक्षता मात्र है। फिर भी, यह मानना चाहिए कि वाराणसी में जिस मध्यम मार्ग का प्रचार किया गया उसका एक नैतिक अर्थ था। माध्यमिकों के विचार अध्यात्म-शास्त्र-विषयक अधिक हैं।

माध्यमिक मत आचार्य नागार्जुन अथवा आर्य नागार्जुन ने शुरू किया। इनका समय ईसा की दूसरी शती था। उनके बाद कई माध्यमिक विचारकों की एक जगमगाती नक्षत्रमालिका आती है, उदाहरणार्थ आर्यदेव (ईसा की तीसरी शती), बुद्धपालित (ईसा की पाँचवीं शती), भावविवेक (ईसा की पाँचवीं शती), चंद्रकीर्ति (ईसा की छठी शती), और शांतिदेव (ईसा की सातवीं शती)। नागार्जुन ने कई ग्रंथ लिखे। इनमें माध्यमिक-कारिका उनका सर्वोत्तम ग्रंथ माना जाता है। इसमें माध्यमिक मतवाद का दर्शन व्यवस्थित रूप से सन्निहित है। इसमें यह कहा गया है कि शून्यता ही परम है। संसार और निर्वाण या शून्यता में कोई अन्तर नहीं है। शून्यता या परम सत्ता उपनिषदों के निर्गुण ब्रह्म के समान है। ग्रंथारंभ में मंगलाचरण में नागार्जुन अपने दर्शन के मूल तत्वों को संक्षेप में देते हैं। उन्होंने आठ नकारों द्वारा प्रतीत्यसमुत्पाद समझाया है। इसमें न तो आरम्भ है, न अन्त है; न चिरता है न अचिरता; न एकता है न अनेकता; न अन्दर आना है, न बाहर जाना। सारतः केवल अनारम्भ मात्र है, जो शून्यता का पर्यायवाची है। अन्यत्र भी वह लिखते हैं कि प्रतीत्यसमुत्पाद ही शून्यता है। शून्यता आरम्भ का उल्लेख करते हुए भी मुख्यतः वह मध्यम-मार्ग है जो कि अस्तित्व और अनस्तित्व के दो परस्पर विरोधी छोरों से दूर है। शून्यता वस्तुओं का सापेक्ष अस्तित्व है, या एक प्रकार की सापेक्षता है।

प्रो० राधाकृष्णन के शब्दों में "शून्यता का अर्थ माध्यमिकों के अनुसार सम्पूर्ण और परम अस्तित्वहीनता नहीं है, परन्तु सापेक्ष सत्ता है।" माध्यमिकों के तत्व ज्ञान में शून्यता को प्रधानता है, अतः उसे शून्यवाद कहते हैं। माध्यमिक-कारिका में आगे चल कर दो प्रकार के सत्यों का उल्लेख है : संवृति और परमार्थ। संवृति का अर्थ वह अज्ञान अथवा भ्रांति है जो वस्तु-जगत को घेरे हुए है और मिथ्याभास पैदा करती है। परमार्थ का अर्थ है कि सांसारिक वस्तुएँ एक भ्रांति या प्रतिध्वनि की भाँति अनस्तित्व-भरी हैं। परमार्थ-सत्य, संवृति-सत्य को पाये बिना प्राप्त नहीं हो सकता। संवृति सत्य साधन है तो परमार्थ-सत्य साध्य। इस प्रकार से, सापेक्ष दृष्टिकोण से प्रतीत्यसमुत्पाद सांसारिक घटनाओं का अर्थ दे सकता है, परन्तु परमार्थ की दृष्टि से सब समय में अनारम्भ ही निर्वाण या शून्यता है।

ईसा की ५वीं शती के आरम्भ में माध्यमिक मत की दो शाखाएँ हुईं : प्रासंगिक और स्वातन्त्र। प्रासंगिक मत अपनी पुष्टि में तर्क के उस अस्त्र का सहारा लेता है जिसके द्वारा प्रत्येक वस्तु की नकार और विसंगति में परिणति होती है, स्वातन्त्र मत भिन्न तर्क का आश्रय लेता है। प्रथम मत बुद्धपालित द्वारा और दूसरा भावविवेक द्वारा स्थापित किया गया।

माध्यमिक ग्रंथों के अध्ययन से पता चलता है कि माध्यमिक मत का मूलाधार द्वन्द्वात्मक तर्क-पद्धति है।

यह भी यहाँ उल्लेख करना चाहिए कि चीन के ति-ईन-ताई और सान-लुन पंथ शून्यता के सिद्धान्त को मानते थे, और इस प्रकार से भारतीय माध्यमिक पद्धति की एक परंपरित सरणि मात्र थे। जापान के सान्-रोन् पंथ भी इसी पद्धति को मानते थे।

योगाचार

महायान की दूसरी महत्त्वपूर्ण शाखा है योगाचार। इसकी स्थापना मैत्रेय अथवा मैत्रेयनाथ (ईसा की तीसरी शती) ने की थी। असंग (ईसा की चौथी शती), वसुबंधु (ईसा की चौथी शती), स्थिरमति (ईसा की पाँचवी शती), दिङ्नाग (ईसा की पाँचवी शती), धर्मपाल (ईसा की सातवीं शती), धर्मकीर्ति (ईसा की सातवीं शती), शांतरक्षित (ईसा की आठवीं शती) और कमलशील (ईसा की आठवीं शती) इस मतवाद के बड़े प्रसिद्ध आचार्य थे। उन्होंने मूल संस्थापक के कार्य को अपने लेखन से आगे बढ़ाया और इस मत को ऊँचे स्तर पर चढ़ाया। असंग और उसके बंधु वसुबंधु के ज़माने में यह मत अपनी शक्ति की पराकाष्ठा पर पहुँचा। असंग ने इसको योगाचार नाम दिया और वसुबंधु ने विज्ञानवाद शब्द का प्रयोग किया।

योगाचार का यह नाम इसलिए पड़ा कि उसमें बोधि की प्राप्ति के लिए योग को सबसे प्रभावशाली पद्धति माना गया। बोधिसत्वपन की 'दश भूमियाँ' पार करके ही बोधि प्राप्त की जा सकती थी। इसी को विज्ञानवाद भी कहा जाता है। इसका कारण यह तथ्य है कि वह विज्ञप्तिमात्र को अंतिम सत्य मानता है। संक्षेप में, वह आत्मनिष्ठ आदर्शवाद सिखाता है, या यह सिखाता है कि अकेला विचार ही सत्य है। योगाचार दर्शन के व्यावहारिक पक्ष को, और विज्ञानवाद उसके वैचारिक पक्ष को व्यक्त करता है। "लंकावतार-सूत्र" इस मत की प्रधान रचना है, जिसके अनुसार केवल चित्त मात्र वास्तविक है, बाह्य वस्तुएँ नहीं। वे स्वप्नों की भाँति अवास्तविक हैं, मृगजल और "आकाशपुष्प" की भाँति हैं। चित्त मात्र, आलयविज्ञान से इस मामले में भिन्न है। आलयविज्ञान स्व-तथा-पर, आत्म-तथा-वस्तु के द्वंद्व के भीतर जो चेतना व्याप्त है उसका आधार है। आलयविज्ञान तथागत का गर्भ है। वसुबंधु की 'विज्ञप्तिमात्रसिद्धि' इस मत का मूलाधार ग्रंथ है। उसके अनुसार बाह्य वस्तु-जगत की वास्तविकता में विश्वास व्यर्थ है। उसके अनुसार चित्त अथवा विज्ञान (विज्ञान-मात्र) की ही अकेली वास्तविकता है। आलयविज्ञान में वस्तु-जगत के बीज हैं—आत्म-निष्ठ और वस्तुनिष्ठ दोनों ही प्रकार के। बहते पानी के समान आलयविज्ञान एक निरंतर परिवर्तनशील संज्ञा प्रवाह है। बुद्धत्व की प्राप्ति के साथ, उसका प्रवाह एकदम रुक जाता है। वसुबंधु के ग्रन्थों के भाष्यकार स्थिरमति के अनुसार आलय में सब धर्मों के बीज हैं, जिनमें विकृति के भी बीज शामिल हैं। दूसरे शब्दों में, सब धर्म आलयविज्ञान में संभाव्य रूपों में रहते हैं। योगाचारी आगे लिखते हैं कि किसी विशेषज्ञ को पुद्गल-नैरात्म्य और धर्म-नैरात्म्य का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। पुद्गल-नैरात्म्य क्लेशावरण और धर्म-नैरात्म्य ज्ञेयावरण के हटाने से प्राप्त होता है। यह दोनों नैरात्म्य निर्वाण के लिए आवश्यक हैं।

योगाचार ज्ञान की तीन अवस्थाएँ मानता है: परिकल्पित, परतंत्र और परिनिष्पन्न। परिकल्पित किसी काल्पनिक विचार का, अपने कारण और स्थितियों द्वारा निर्मित किसी वस्तु पर, आरोपण मात्र है। वह केवल कल्पना में रहता है, और वास्तविकता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। परतंत्र अपने कारण और स्थितियों द्वारा निर्मित वस्तु का ज्ञान है। यह सापेक्ष ज्ञान है और इससे जीवन के व्यावहारिक प्रयोजनों का समाधान होता है। परिनिष्पन्न तथता का परम सत्य है। परिकल्पित और परतंत्र संवृति-सत्य से मिलते हैं, और परिनिष्पन्न माध्यमिक मत के परमार्थ सत्य से। इस प्रकार से माध्यमिकों के दो के स्थान पर योगाचार में ज्ञान के तीन प्रकार हैं।

योगाचार माध्यमिक से इस प्रकार से भिन्न है कि वह वास्तविकता में गुण हैं, ऐसा मानता है। पहले मत में वास्तविकता विज्ञानमात्र है, दूसरे में वह शून्यता है।

उत्तर के देश

तिब्बत और नेपाल

तिब्बत और नेपाल में बौद्ध-धर्म का ब्योरा पहले एक अध्याय में आ चुका है, जहाँ कि बौद्ध-धर्म के अन्य देशों में विस्तार का वर्णन है, और उसकी पुनरावृत्ति यहाँ अनावश्यक है।

चीन

यह कहा जाता है कि ईसापूर्व २१७ में भारतीय लोग चीन की राजधानी शेन्सी में अपना धर्म प्रचारित करने के लिए आये। ईसापूर्व १२२ में, एक सुवर्ण प्रतिमा सम्राट के पास लाई गई और चीनी वृत्तान्तों के अनुसार वह चीन में पूजा के लिए लाई गई प्रथम बौद्ध प्रतिमा थी।

बौद्ध-धर्मसूत्रों को एकत्रित करने के लिए और चीन में भिक्षुओं को बुलाने के लिए। ६१ या ६२ ईस्वी में सम्राट मिंग ति ने एक दूत-मंडल भारत में भेजा, मध्य-भारत का एक निवासी काश्यप मातंग उसके साथ चीन गया, और उसने एक महत्त्वपूर्ण छोटे सूत्र का अनुवाद किया। इसका नाम था ४२ अनुच्छेद। चीनी वृत्तान्त के अनुसार वह लो याङ में मरा।

चौथी शती के आरम्भ में, चीनी लोगों ने बौद्ध मठों के रीत-रिवाजों को अपनाना शुरू किया था। उदाहरणार्थ, ३३५ ईस्वी में चा ऊ साम्राज्य के एक राजकुमार ने, पूर्वी त्स' ईन वंश के राज्य में, अपने नौकरों को बौद्ध पद्धति को अपनाने दिया था। इस काल में, उत्तरी चीन में कई प्रकार के मठ स्थापित किये गये, और जनता के ९।१० वें भाग ने बौद्ध-धर्म ग्रहण किया, ऐसा कहा जाता है।

ईसा की चौथी और सातवीं शताब्दी के बीच में क्रमशः फाहियान और युआन-च्वांग जैसे विद्वान भारत में आये और चीन को लौट गये। वे अपने साथ कई बौद्ध-ग्रंथ भी ले गये। उनकी पूजा उच्चवर्गीय और निम्नवर्गीय दोनों प्रकार के लोगों द्वारा की गई। चीनी सम्राटों की प्रार्थना पर कुछ भारतीय विद्वान भी चीन गये। इनमें कुमारजीव, बोधि-धर्म और परमार्थ का उल्लेख किया जा सकता है। फाहियान और युआन-च्वांग के साथ-साथ, वे कई प्रकार के चीनी बौद्ध पंथों के संस्थापक बने।

जब बौद्ध-धर्म पहली बार चीन पहुँचा तो वहाँ किसी प्रकार का विशिष्ट मत-वाद नहीं चला, परन्तु धीरे-धीरे चीनी बौद्ध विभिन्न प्रकार के बौद्ध मतों से और उनसे संबद्ध विभिन्न प्रथाओं से परिचित होने लगे। चीन में बौद्ध-धर्म जैसे-जैसे फैला, उसकी उपशाखाएँ भी देशभर में उत्तर से दक्षिण तक फैलीं। कट्टर-पंथी बौद्ध-धर्म धीरे-धीरे उदार और सर्व-मत-मिश्रित हो गया और उसे अपने विशेष गुण प्राप्त होने लगे।

चान (ध्यान) शाखा

बोधि-धर्म ने अपनी स्वयं की पद्धति निर्मित की, जिसके अनुसार सापेक्ष और परम की अभेद-चेतना से ही मनुष्य बुद्धत्व प्राप्त कर सकता था।

बोधि-धर्म चीन में ४७० ई० में आया और उन गुह्य मतवादों का संस्थापक बना, जो कि पाँच प्रमुख शाखाओं में बँटे गये। ये गुह्य शाखाएँ दान (संस्कृत ध्यान, जापानी ज़ेन) या आधुनिक उच्चारण में चान कहलाईं। बोधि-धर्म तीसरा राजपुत्र था जो या तो दक्षिण भारत से या फारस से वहाँ आया था। यह भी कहा जाता है कि उसने शाओ-लिन्-स्सु मठ की दीवार के पास नौ वर्ष तक ध्यान और मनन किया। बोधि-धर्म के अनुयायी सर्वत्र सक्रिय थे, और देशज धर्मों पर उन्होंने पूरी विजय पाई। इसका परिणाम यह हुआ कि आधुनिक जापान में इन गुह्यमतों के उपदेश बहुत मूल्यवान माने जाते हैं।

यह स्वाभाविक है कि बोधि-धर्म यद्यपि इन गुह्य मतों का संस्थापक था, फिर भी उसने अपने मत नागार्जुन के दर्शन पर आधारित किये। नागार्जुन महायान बौद्ध-धर्म का सबसे महत्त्वपूर्ण आचार्य था। नागार्जुन ने माध्यमिक दर्शन शुरू किया। उसके अनुसार सब चीज़ें शून्यता में परिणत होती हैं। इस प्रकार से उसने मध्यमाप्रतिपद स्थापित किया। उसके दर्शन ने काऊ-ह्वई-वेन पर प्रभाव डाला। उसने ता-चि-तु-लुन नामक शास्त्र का अध्ययन किया था और 'चुंग-क्वान्' अथवा मध्य मार्ग पर केन्द्रित होने के विचार को अपनाया था। काऊ ह्वेई वेन की कल्पना और आधार पर, तु-ह्वेई-यग और लिऊ-हिङ्-सि ने नान-ञो और त्सिङ्-युएन शाखाएँ स्थापित कीं।

इन मतवादों के अनुसार, अंतर्मुख होकर देखना और बाहर न देखना ही ऐसा रास्ता है जिससे ज्ञान प्राप्त होता है। यह मनुष्य के मन के लिए वैसा ही है जैसा बुद्धत्व प्राप्त करना। इस पद्धति में, 'अंतरानुभव' या 'प्रत्यक्षानुभव' पर बल है। उसकी विशेषता यह है कि उसके पास कोई शब्द नहीं है जिससे कि वह अपने आपको व्यक्त कर सके। उसके पास कोई साधन नहीं है जिससे वह अपने आपको तर्क दे सके, अपने सत्य का कोई ऐसा व्यापक प्रमाण नहीं है जिसे कि तर्क द्वारा पुष्ट किया जा

सके। यदि वह अपने आपको व्यक्त भी करता है तो संकेतों और प्रतीकों के रूप में ही। समय के साथ-साथ यह विचार-पद्धति एक प्रत्यक्षानुभव का दर्शन बन गई, यहाँ तक कि वह आज भी अपनी विशिष्टता रखे हुए है।

चान (ध्यान) बौद्ध-मत के अलावा, बौद्ध-धर्म की अन्य उपशाखाओं को सार रूप में देना उचित होगा। केवल तईन-ताई पंथ छोड़ कर शेष सब अब मिट चुके हैं और वे अब सक्रिय नहीं हैं।

तिएन-ताई मत

चीन में आज एकमात्र जीवित बौद्ध मत यही है। इसकी स्थापना चि-काई ने की थी। तिएन-ताई पर्वत को साक्षी रख कर यह तिएन-ताई-त्सुंग कहलाता है। वहाँ चि-काई ५९७ ईस्वी में ६७ वर्ष की आयु में मरा उस समय सोयुई वंश का राज था। यह कहा जाता है कि अपने आरम्भिक जीवन में बोधि-धर्म द्वारा स्थापित शाखा के उपदेशों को चि-काई ने अनुसरण किया। इसके बाद वह इस पद्धति से ऊब गया, और उसने बौद्ध-धर्म की एक नई शाखा चलाई, जिसके मूल सूत्र हैं मिआओ-फा-लिएन-ह्वा-चिन (सद्धर्म पुंडरीका सूत्र सं० १३४), त-चि-तु-लुन (महाप्रज्ञापारमिता-सूत्र-शास्त्र सं० ११६९), नेइ-फन-चिन (महा-निर्वाण सूत्र सं० ११३) और त-पन-जो-पो-लो-मि-तो-चिन (महाप्रज्ञापारमिता-सूत्र सं० १)।

चि-काई ने ज्ञान की तीन पद्धतियाँ स्थापित कीं, जिन्हें चि-क्वान अथवा 'सम्पूर्ण ज्ञान' कहा जाता है। इस पद्धति में तीन ज्ञानी अवस्थाएँ हैं : रिक्त (कुङ्), अनुमानित (किया) तथा मध्य (चुङ्)। यह तीन प्रमाण-पद्धतियाँ महेश्वर की तीन आँखों के समान हैं। शून्य या रिक्त पद्धति ऐन्द्रिक ज्ञान के भ्रम को नष्ट करती है और परम प्रज्ञा को स्थापित करती है। 'अनुमानित' अवस्था विश्व की विकृति को दूर करती है और सब बुराइयों से मुक्ति स्थापित कराती है। अन्त में 'मध्य' मार्ग अविद्याजन्य भ्रांति को दूर करता है और प्रकाशित मन को प्रतिष्ठित करता है। इस प्रकार के त्रिविध अन्वेषण की पद्धति नागार्जुन दर्शन पर आधारित है। नागार्जुन दक्षिण-पूर्वी भारत में दूसरी शती में रहा होगा।

चीन के इन बौद्ध मत का मूल भारतीय बौद्ध-धर्म रहा होगा, परन्तु चीनी शाखाओं द्वारा बौद्ध-ग्रन्थों के अनवरत अध्ययन से, एक नए प्रकार के धार्मिक अनुभवों का निर्माण हुआ जो कि भारत की अपेक्षा चीन की ऐतिहासिक पार्श्वभूमि से अधिक निर्मित थे। यद्यपि यह विकास भारतीय महायान बौद्ध-धर्म के प्रारम्भ से सम्भव हुआ, फिर भी उसके सिद्धान्तों का अर्थ विचित्र चीनी पद्धति से

दिया गया, जिससे कि चीनी परम्परा को ही आदर मिला। चीनियों ने, भारतीय मूल पाठों का, अपने ढंग से, अपने पूर्वजों से प्राप्त प्राचीन रीतियों से मिलते-जुलते हुए, अर्थ लगाया।

जापान

जापान में तेरह बौद्ध पंथ हैं। वे हैं केगौन (अवतंसक), रि-त्सु (विनय), होस्सो (धर्मलक्षण), तेन्दाई, शिंगोन (तांत्रिक), जोदो, जोदोशिन, युजुनेनबुत्सु, जि, रिन्ज़ाई, सोतो, ओबाकु, निचिरेन आदि। इनके अलावा तीन अन्य पंथ थे, जिनके नाम थे सान रोन (माध्यमिकों के तीन शास्त्र), कुश (अभिधम्म-कोश निकाय), और जोजित्सु (सत्यसिद्धि शास्त्र निकाय), परन्तु वे अब प्रायः लुप्त हैं और उन पर स्वतन्त्र प्रभाव बहुत कम है।

यह ध्यान रखने की बात है कि जापान में अधिकतर बौद्ध-पंथ चीन से शुरू हुए। केगौन, रित्सु और होस्सो का चीनी मूल रूप ज्यों का त्यों है, जब कि अन्य स्थानिक निर्मितियाँ हैं और पूर्णतः नए सिरे से बनाए गए हैं। बाद के पंथों के कुछ विशेष लक्षण आगे दिए गए हैं।

तेन्दाई पंथ

तेन्दाई पंथ ८०४ ईस्वी में जापान में साई चो द्वारा स्थापित किया गया। वह देन्ग्यो-देशी के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। वह इस पंथ में बहुत छुटपन में प्रविष्ट हुआ और चीन में उच्च अध्ययन के लिए गया। वहाँ प्रसिद्ध त-एन-ताई शाखा के आचार्यों से धर्म में उसने शिक्षा पाई। जापान लौटने पर हिएई पर्वत पर एन्याकुज़ी मन्दिर पर उसने नए सिद्धान्त की स्थापना की। यह मन्दिर जापान में बौद्ध-अध्ययन और धर्माचार का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बना। यह भी उल्लेखनीय है कि अन्य सम्प्रदायों के संस्थापक और विद्वान मन्दिर से विद्यार्थियों के नाते सम्बद्ध थे। यद्यपि यह चीनी त-एन-ताई की शाखा थी, फिर भी तेन्दाई पंथ ने अन्य सिद्धान्तों के, यथा तांत्रिक बौद्ध-धर्म और ध्यान और विनय शाखाओं के सिद्धान्तों को अपने में मिलाया।

चीनी त-एन-ताई से वह बाह्याचारों में भिन्न था। यद्यपि दोनों का मूलाधार महायान सूत्र वाला सद्धर्मपुंडरीक था, जिसका एकयान सिद्धान्त पर ज़ोर था। साई-चो ने क्वानजिन (मन का प्रत्यक्ष अनुभव) नामक व्यावहारिक पद्धति भी शुरू की।

शिंगोन पंथ

जापान में इस पंथ का संस्थापक कुकई (जिसे कोबो देशी कहा जाता है) था, जो साई-चो से वय में छोटा और उसका समकालीन चिन्तक था। वह बिरक्त,

प्रवासी, सुन्दर लिपिकार और शिल्पी था। कुकई बहुगुणी विद्वान था। साई-चो के उदाहरण से प्रेरित होकर, ८०४ ईस्वी में वह चीन में गया और चीनी पुजारी होउई-कोउओ के शिष्य के नाते उसने गुह्य शिंगोन पंथ का अध्ययन किया। जापान लौटने पर उसने शिंगोन पंथ का सुप्रसिद्ध मठ कोया-सान के पर्वत पर स्थापित किया।

शिंगोन पंथ के सिद्धान्त महाविरोचन-सूत्र तथा अन्य तांत्रिक सूत्रों पर आधारित हैं। यह पंथ मुख्यतः जादूभरी और रहस्यमयी विधियों में से एक है। ये तिब्बत के तांत्रिक बौद्ध-मत के समान हैं। शिंगोन संस्कृत मंत्र से बना शब्द है। इस पंथ के सिद्धान्त के अनुसार मंत्र अथवा धारणी के उच्चारण मात्र से प्रकाश प्राप्त किया जा सकता है।

शिंगोन पंथ अब जापान में एकमात्र ऐसा पंथ बचा है जिसने तांत्रिक आदर्शों को सुरक्षित रखा है। फिर भी, सुव्यवस्थित विकास होने से उसमें वे बुराइयाँ नहीं घुस पाईं जो भारत और तिब्बत के बौद्ध तांत्रिकों में आ गई थीं।

इसमें जोदो, जोदो-शिन, युजुनेनबुत्सु और जि पंथ आते हैं। इन पंथों का मुख्य सिद्धान्त यह है कि निर्वाण अमिताभ की एकमात्र उद्धारक शक्ति में विश्वास करने से प्राप्त होता है। इस पंथ के मानने वाले अमिताभ का नाम लेते हैं, और आशा करते हैं कि उसके आशीर्वाद से स्वर्ग में पुनर्जन्म प्राप्त कर सकते हैं।

जोदो पंथ जापान में ११७५ में ग्रेन्कू द्वारा स्थापित किया गया। वह एक प्रसिद्ध सन्त था और उसे होनेन कहते हैं। उसका सिद्धान्त मुख्यतः शान-ताओ (६१३-६८१ ईस्वी) के सिद्धान्तों पर आधारित था। शान-ताओ चीन के अमिताभ पंथ के बहुत प्रसिद्ध आचार्यों में से एक था। उसने सुखावती-व्यूह-सूत्रों (बड़े और छोटे दोनों संस्करणों) और अमितायुर्ध्यान सूत्रों को धर्मसूत्रग्रंथ की भाँति चुना। अमिताभ बुद्ध में विश्वास के लाभ उसने सिखाए।

यह सिद्धान्त, सरल होने से, सामान्य जनता में लोकप्रिय बना। नेनबुत्सु या अमिताभ बुद्ध के नाम का स्मरण इस धर्म के अनुयायियों में एक स्वाभाविक आचार था, परन्तु उनका अधिक बल विश्वास पर था, प्रत्यक्ष नामस्मरण पर नहीं। फिर भी नेनबुत्सु गौण नहीं मानना चाहिए। यह भी माना जाता है कि जो अपने कार्य में व्यस्त रहने से बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों की गहराई में जा नहीं पाते, वे भी अमिताभ के स्वर्ग में, यदि उसमें पूरा विश्वास हो, तो जन्म लेंगे। होनेन के उपदेशों ने जनसाधारण में बहुत लोकप्रियता पाई और जोदो पंथ जापान में बहुत ही प्रभावशाली बना।

जोदो-शिन पंथ के उपदेश शिनरन द्वारा स्थापित हुए। उन्होंने जोदो पंथ में बहुत से नये सुधार किये। शिनरन के अनुसार, सभी जीवित व्यक्ति अमिताभ द्वारा दिए गये वचन से बचाये जायेंगे। इस प्रकार से बुद्ध के नाम का स्मरण और साधारण जीवन के अन्य बाह्याचार, एक कृतज्ञ हृदय की ही अभिव्यंजनाएँ हैं।

शिनरन ने धर्मस्थान के संगठन में कई महत्त्वपूर्ण सुधार किये, जिनका उद्देश्य था पुजारियों और जनसाधारण के बीच के अन्तर को कम करना। दोनों वर्गों में कोई अन्तर वे नहीं समझते थे। सभी मानवप्राणी बुद्ध के शुद्ध प्रदेश में पुनर्जन्म ले सकने के एकसे हकदार हैं : "न तो कोई गुरु थे न शिष्य। सब बुद्ध के आगे बन्धु और मित्र जैसे थे।" शिनरन तथा इस पंथ के और लोग जन-साधारण में सामान्य जीवन बिताते थे, और अपने आपको उपदेशक नहीं मानते थे, किन्तु अमिताभ के रास्ते के अनुयायी ही अपने आपको समझते थे।

शिनरन के उदार दृष्टिकोण के कारण, शिन पंथ जल्दी से जनता में लोकप्रिय हो गया, विशेषतः किसानों में और श्रमिकों में। उससे जो धार्मिक स्वतंत्रता उसके अनुयायी सीखे, उससे राजनैतिक और सामाजिक स्वतंत्रता की खोज उन्होंने शुरू की, और इसका परिणाम यह हुआ कि ईसा की १६वीं शती में अपने सामंती स्वामियों के विरुद्ध किसानों ने कई विद्रोह किये।

उजुनेनबुत्सु सम्प्रदाय र्‌योनिन (१०७२—११३२ ईस्वी) द्वारा स्थापित हुआ और जि साम्प्रदाय इप्पेन (१२३९-१२८९ ईस्वी) द्वारा। इन सम्प्रदायों का जापान में कोई महत्त्वपूण प्रभाव नहीं था। र्‌योनिन का सिद्धान्त केगोन दर्शन से प्रभावित था, इप्पेन का ज़ेन बौद्ध-धम द्वारा।

ज़ेन बौद्ध-धर्म

ज़ेन शब्द ज़ेन (चीनी : चान) से बना है, जो कि संस्कृत ध्यान का लिप्यंतर मात्र है। इसका अर्थ है एकाग्रचिंतन।

ज़ेन बौद्ध-धर्म की जापान में तीन शाखाएँ हैं : रिन्ज़ाई, सोतो और ओबाकु जापान में प्रथम दल जापानी भिक्षु ईसई (११४१—१२१५ ईस्वी) द्वारा स्थापित किया गया, द्वितीय दोजेन (१२००—१२५३ ईस्वी) द्वारा और तीसरा चीनी भिक्षु इगेन द्वारा (लगभग १६५३ ईस्वी) में। ईसई और दोजेन ने कई वर्ष चीन में अध्ययन करने में बिताये।

ज़ेन बौद्ध-धर्म का सारांश निम्न सूत्र में है : "अपने मन के भीतर देखो और तुम्हें बुद्धत्व प्राप्त होगा।" इस सम्प्रदाय का बहुत बड़ा ज़ोर मनन या ध्यान पर होता है, उसी के द्वारा ज्ञान-प्राप्ति सम्भव है।

अब हम दोजेन का सिद्धान्त देखें, जो कि ज़ेन बौद्ध-धर्म का सबसे प्रमुख और प्रतिनिधि रूपों में से एक है।

दोजेन ने एक भिक्खु के नाते निम्न प्रश्न का उत्तर पाने के लिए जीवन आरम्भ किया : "यद्यपि सभी जीवित व्यक्तियों में, उनके स्वभाव के अनुसार, बुद्धत्व था, फिर भी इतने सारे बुद्धों ने आत्म-ज्ञान का रास्ता क्यों अपनाया ?" जापान में किसी ने उसके प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया, इसलिए वह चीन में उत्तर पाने के लिए गया। वहाँ उसने एक ज़ेन बौद्ध भिक्षु के शिष्यत्व में ज्ञान प्राप्त किया। जापान लौट आने पर उसने निम्न सिद्धान्त प्रचारित किये : "सभी मानव प्राणी पहले से ही ज्ञान से आलोकित हैं। वे स्वभाव से बुद्ध हैं। ध्यान का प्रयोग बुद्ध का अपना कार्य है।"

बुद्ध के कार्य अविश्रांत रूप से बराबर मानव-समाज के सुधार के लिए चलते रहते हैं, परन्तु मानवी प्राणियों को भी, जिस समाज में वे रहते हैं, उसकी भलाई के लिए निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए।

ज़ेन बौद्ध-धर्म योद्धाओं में बहुत लोकप्रिय हुआ, जिनके लिए मन का स्थायित्व बहुत आवश्यक था। शोगुनों द्वारा उसे प्रश्रय और प्रोत्साहन मिलने से ज़ेन बौद्ध-धर्म सारे देश में तेज़ी से फैला। रिनज़ाई सम्प्रदाय का सोतो से अधिक शोगुन्ते सरकार से सम्बन्ध था। सोतो स्थानिक भू-स्वामियों और किसानों में बहुत लोकप्रिय था। जहाँ तक कि अनुयायियों की संख्या का प्रश्न है, सोतो सम्प्रदाय सम्प्रति शिन सम्प्रदाय के बाद में आता है।

ज़ेन बौद्ध-धर्म ने जापानी संस्कृति के विकास में बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। जापान में वह उन दिनों की उच्चतम चीनी संस्कृति को लाया। चित्रकला काले और सफेद रंगों में होने लगी, नोह नाच, चाय का उत्सव और फूलों की रचना ये सब ज़ेन बौद्ध-धर्म के प्रभाव से अधिक प्रचलित हुए। साथ ही यह नहीं भूल सकते कि जापानी बुशिदो (जापानी वीरता) के सिद्धान्तों के बनाने में ज़ेन बौद्ध-धर्म का बड़ा हाथ था।

निचिरेन पंथ

इस पंथ का नाम उसके संस्थापक के नाम पर है। वह जापान के बड़े देश-भक्त और संत थे। कोमिनाते में एक मछुए के घर में उनका १२२२ ईस्वी में जन्म हुआ। १२वें वर्ष में उन्हें एक मठ में दीक्षा प्राप्त हुई। कियोज़ुमी पर्वत पर यह मठ था। उन्होंने बौद्ध साहित्य की कई शाखाओं का अध्ययन किया और वे देश भर घूमे। बौद्ध-धर्म के प्रधान सिद्धान्तों की ख़ोज में कई वर्षों के अध्ययन और

प्रवास के बाद, उन्होंने सद्धर्मपुंडरीक को सत्य का अन्तिम उद्घाटन घोषित किया। उन्होंने 'नेमु म्योहो रेंगे क्यो' (सद्धर्मपुंडरीक को प्रणाम) नामक सूत्र शुरू किया। कदाचित जोदो पंथ के नेम्बुत्सु के प्रभाव दूर करने के लिए उन्होंने ऐसा किया। उनके अनुसार शाक्यमुनि बुद्ध, परम बुद्ध हैं और सद्धर्मपुंडरीक सूत्र का नामस्मरण या उसके शीर्षक का पाठमात्र संबोधि की प्राप्ति का सर्वोत्तम मार्ग है।

उसने अपने मत अन्य पंथों के विरुद्ध इतने ज़ोरों से व्यक्त किये कि वह कई बार मुश्किल में पड़ गया। फिर भी हर बार वह किसी तरह से चमत्कारिक ढंग से बच निकलता था।

दक्षिण के देश

सौभाग्य से, दक्षिण एशिया के बौद्ध देशों में बौद्ध-धर्म के मूल तत्वों पर कोई गम्भीर मतभेद नहीं पैदा हुए। इन सब देशों ने, वियतनाम को छोड़कर, जो कि महायान देश है, थेरवाद पंथ के सिद्धान्त मान लिए और वहाँ के कई पंथों के बीच के मतभेद छोटी-छोटी बातों तक सीमित रहे।

श्रीलंका

सिंहली स्रोतों में अभयगिरि, दक्खिन-विहार और जेतवन के पंथों का उल्लेख है। इनके कारण सिंहल की बौद्धधर्मानुयायी जनता में बड़े गम्भीर सम्प्रदाय बन गये। इनमें अभयगिरि पंथ, जिसे कि कभी धम्मरुचिनिकाय भी कहा जाता था, महाविहार पंथ के प्रतिष्ठित प्रतिद्वन्द्वी के नाते प्रसिद्ध था। वह महाविहार पंथ से कई मूलभूत बातों में अलग था। इस पंथ के मानने वाले वैतुल्यवादिन कहलाते थे। महाविहार पंथ और अभयगिरि पंथ के बीच में जो लम्बी लड़ाई हुई, उसमें प्रथम की श्रीलंका में विजय हुई। अब श्रीलंका में तीन प्रमुख बौद्ध संघ हैं, जिनके नाम जहाँ से उपसम्पदाएँ लाई गई थीं, उन देशों पर रखे गये हैं, अर्थात् सयाम, ऊपरी और निचले बर्मा के नाम पर।

बर्मा

शासनवंस के अनुसार बर्मी संघ भी विनय के नियमों के भाष्य जैसे गौण मामलों पर विभक्त हो गया था। उनके लिए विचारास्पद एक प्रश्न यह था कि यदि राजा किसी बौद्ध-भिक्खु को हाथी दान में दे तो वह उसे अपने उपयोग के लिए, रख ले या उसे जंगल में मुक्त छोड़ दे। दूसरा मतभेद का मामला यह था कि कोई भिक्खु अपने शिष्य की किसी गृहस्थी से सिफारिश करे या नहीं? बाद में, इस बात पर भी मतभेद उठ खड़े हुए कि भिक्खुजन, जब किसी गाँव में भिक्षाटन करने जायँ

तब एकांशिक हों (यानी केवल बाँये कंधे पर चीवर पहने और दूसरा खुला छोड़ दें) या पारुपण हों (दोनों कंधों को ढकें)। एक सौ बरस तक इस बात पर बहस चलती रही। अन्त में राजा बादोह प्रा ने १७८१ ईस्वी में इस मामले में एक राजाज्ञा जारी की। कभी-कभी पंखा या भूर्जपत्र को शीर्ष-वस्त्र बनाने जैसी छोटी-छोटी बातें भी मतभेद का कारण बन जाती थीं और उससे और ज्यादह फूट पड़ती थी।

अभी तो बर्मा में तीन प्रमुख फिरके हैं। इनमें मुख्यतः व्यक्तिगत आचार-व्यवहार के प्रश्न पर मतभेद हैं, मौलिक सैद्धांतिक प्रश्नों पर कम। सुधम्म-संघ सबसे पुराना और संख्या में सब से बड़ा है, उसमें छातों और चप्पलों के प्रयोग, पान-सुपारी चबाने-खाने, तमाखू पीने, और परित्त के पाठ के समय पंखों के प्रयोग के लिए अनुमति है। श्वेगिन पंथ, जिसकी स्थापना जागर महाथेर ने राजा मिंदौन (१९ वीं शती ईस्वी) के समय की थी, दोपहर को सुपारी या पान चबाने के पक्ष में नहीं है, और वह तमाखू पीने की भी अनुमति नहीं देता। भिक्षुओं का द्वारनिकाय पंथ काय-द्वार, वाचि-द्वार, मनो-द्वार जैसे शब्दों का प्रयोग अधिक पसन्द करता है, काय-काम, वाचिकाम, मनोकाम आदि शब्दों का प्रयोग कम।

थाईलैंड और कम्बोडिया

इन दोनों देशों में दो पंथ हैं—महानिकाय और धम्मयुत्तिकानिकाय, जो कि निचले बर्मा के रामञ्ञ पंथ से ही निकला है। अनुशासन में पिछला अधिक कड़ा माना जाता है। कम्बोडिया में दोनों का अंतर पालि शब्दों के उच्चारण तक और अन्य छोटी-छोटी बातों तक ही सीमित है।

पाँचवाँ अध्याय

बौद्ध साहित्य

जहाँ तक हमें विदित है, व्यवस्थित बौद्ध-साहित्य की मुख्य सामग्री, वह मूल में हो, या अनुवाद में, प्रधानतः पालि, संस्कृत (शुद्ध और मिश्रित), तिब्बती और चीनी भाषाओं में उपलब्ध है। यद्यपि उन देशों की भाषाओं में जहाँ बौद्ध-धर्म का प्रचार होता गया, बौद्ध-ग्रन्थों का अनुवाद हुआ।

बौद्ध-साहित्य के भण्डार में, पालि-त्रिपिटक ही, पावन बौद्ध-साहित्य का सबसे प्राचीन और सम्पूर्ण उपलब्ध संग्रह है। वह तीन भागों में व्यवस्थित रूप से विभाजित, सुरक्षित है। पहला विभाग 'विनय-पिटक' या अनुशासन पुस्तक है, दूसरा सुत्त-पिटक या उपदेशों की लोकप्रिय पुस्तक है और तीसरा अभिधम्म-पिटक है, जिसमें मनोवैज्ञानिक नीतियों पर आधारित दुरूह दर्शन की पुस्तकें संग्रहीत हैं। इन तीन पिटकों की अन्यान्य पुस्तकों के नाम और उनके पारस्परिक सम्बन्ध का विवरण परिशिष्ट में दिया गया है।

इस सूत्रात्मक साहित्य के अतिरिक्त पालि में जो अन्य साहित्य भी है, उसमें मिलिन्द पन्ह, नेत्ति-प्रकरण, विनय और अभिधम्म पिटकों पर बुद्धदत्त लिखित भाष्य, पालि त्रिपिटक ग्रन्थों पर टीकाएँ, जिनमें बुद्धघोष या धम्मपाल द्वारा लिखित जातक कथाएँ, श्रीलंका की गाथाएँ जैसे दीपवंस, महावंस और चूलवंस और प्राचीन संस्कृत काव्य के अनुकरण पर परवर्ती काल में पालि में रचित ग्रन्थ इत्यादि आते हैं। व्याकरण के ग्रन्थों में, कच्चायन, मोग्गल्लान, रूपसिद्धि और सद्दनीति सुप्रसिद्ध हैं। बुद्धघोष की विद्वतापूर्ण मौलिक कृति विशुद्धिमग्ग भी उल्लेखनीय है, जिसे प्रारम्भिक बौद्ध-धर्म का एक विश्व कोश कहा जा सकता है।

दुर्भाग्य से, बौद्ध-ग्रन्थों का सम्पूर्ण सूत्र-साहित्य पालि के समान संस्कृत में हमें सुरक्षित उपलब्ध नहीं है। फिर भी ऐसा लगता है कि सर्वास्तिवादियों के पास, पालि निकायों से मिलते-जुलते "आगम" तथा पालि अभिधम्म-पिटक की सात पुस्तकों के ही अनुरूप अभिधर्म की सात पुस्तकें मौजूद थीं। मूल-सर्वास्तिवादियों

के पास, एक विनय-पिटक था जिसकी गिलगित में सुरक्षित पाण्डुलिपियों के बहुत से अंश अब प्रकाश में आए हैं। यद्यपि साधारणतया ये संस्कृत ग्रन्थ, अपने जैसे पालि ग्रन्थों से समानता रखते हैं, फिर भी अनेक स्थानों में, ये उल्लेखनीय रूप से मूल पालि ग्रन्थों से दूर जा पड़े हैं।

संस्कृत में, वह शुद्ध हो या मिश्रित, हम अनेक ऐसे स्वतन्त्र ग्रन्थ या ग्रन्थांश पाते हैं जो विभिन्न प्रकार के हैं, कोई हीनयान से सम्बन्धित तो कोई महायानी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। महावस्तु एक ऐसा ही ग्रन्थ है, जो महासंघिक लोकोत्तरवादियों का विनय-पिटक समझा जाता है। किन्तु उसका विषय इतना विविध है कि हमें उसमें दीघ, मज्झिम तथा सुत्तनिपात से मिलते-जुलते कुछ सूत्र और उनके साथ पालि जातकों से मिलती-जुलती कुछ कहानियाँ देखने को मिलती हैं। बुद्ध की जीवनी का अधूरा विवरण देने वाला 'ललितविस्तर' ग्रन्थ मिश्रित संस्कृत में रचित है। इसके सम्बन्ध में यह मान्यता है कि यह वैपुल्य सूत्र के अन्तर्गत आने वाली महायान पंथी रचना है। बुद्ध चरित और सौन्दरानन्द के कारण अश्वघोष प्रसिद्ध हुए और पालि चरिया-पिटक से समता रखने वाली और कुछ अधिक परिष्कृत संस्कृत रचना जातक-माला के कारण आर्यशूर। पालि अपदानों से मेल रखने वाला एक वृहद्-अवदान-साहित्य भी उपलब्ध है, जिसमें अच्छे बुरे कर्मों के अच्छे बुरे परिणामों को समझाने के उद्देश्य से लिखी कहानियाँ प्राप्त होती हैं।

महायान सूत्रों में, नौ धर्म-ग्रन्थ मुख्य माने गए है, जिनमें निम्न का विशेष उल्लेख किया जा सकता है—

१. अष्टसाहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता
२. सद्धर्म-पुण्डरीक
३. ललितविस्तर
४. लंकावतार
५. सुवर्णप्रभास
६. गण्डव्यूह
७. तथागतगुह्यक
८. समाधिराज
९. दशभूमीश्वर

ये वैपुल्य सूत्र कहलाते हैं। नागार्जुन, वसुबन्धु तथा असंग इसी महायान पंथ के हैं और उनकी रचनाओं में इसी पंथ दर्शन का निरूपण हुआ है। इस विषय की चर्चा हम आगे अन्य अध्याय में करेंगे।

तिब्बत में भी ४,५६६ से अधिक भारतीय बौद्ध-धर्म के अनूदित ग्रन्थों का संकलन हैं। वे दो वर्गों में विभाजित हैं। १. बकाशखग्युर जो अधिकतर कंजुर कहलाता है। इसमें १,१०८ ग्रन्थ हैं। २. बस्तन् खग्युर जो तंजुर कहलाता है, उसमें ३,४५८ ग्रन्थ हैं। कंजुर के और भी सात विभाग किए गए हैं—१. विनय, २. प्रज्ञापारमिता, ३. बुद्धवतंसक, ४. रत्नकूट, ५. सूत्र, ६. निर्वाण और ७. तन्त्र। तंजुर के और दो ही विभाग हैं—१. तन्त्र और २. सूत्र।

कई भारतीय ग्रन्थों के अनुवाद चीनी भाषा में उपलब्ध होते हैं। अपनी ग्रन्थ सूची में बुनयियुनान जियो ने १,६६२ तक ग्रन्थ गिनाए हैं, जो चार विभागों में वर्गीकृत हैं—१. सूत्र-पिटक, २. विनय-पिटक, ३. अभिधर्म-पिटक और ४. विविध। परवर्तीकाल की एक और सूची—होबोगिरिन में, ताइशो संस्करण के ५५ खण्डों में मुद्रित २,१८४ ग्रन्थों का उल्लेख है, और २५ खण्डों में, चीन और जापान में लिखे परिशिष्ट ग्रन्थ हैं। जापान में, चीनी त्रिपिटक के तीन सम्पूर्ण अनुवाद मिलते हैं, जिनके साथ त्रिपिटक के ताइशो संस्करण के २१ परिशिष्ट खण्ड भी अनूदित जोड़ दिए गए हैं। मंचूरी भाषा में भी, इसी का अनुवाद पाया जाता है। मंगोली भाषा में तिब्बती तंजुर का अनुवाद उपलब्ध है।

इस अध्याय का उद्देश्य, केवल पालि और बौद्ध संस्कृत में लिखी मुख्य पुस्तकों का सर्वेक्षण करना है।

पालि और बौद्ध संस्कृत की मुख्य पुस्तकों का सर्वेक्षण

एक समय था जब पालि, प्राकृत, मिश्रित संस्कृत और शुद्ध संस्कृत में बृहद् बौद्ध साहित्य उपलब्ध था। यह सचमुच बड़ी विचित्र सी बात है कि एक मंजु श्री मूलकल्प को छोड़ कर, एक भी बौद्ध-धर्म सम्बन्धी रचना भारत की सीमा के भीतर प्राप्त नहीं है। बौद्ध-साहित्य के, भारत से इस प्रकार सम्पूर्ण रूप से लोप हो जाने के मुख्य कारण ये हैं—

१. बौद्ध-साहित्य का अध्ययन, बौद्ध चैत्यों और विहारों में रहने वाले परिव्रजित भिक्षुओं तक ही सीमित रह गया।
२. बौद्ध-साहित्य जो प्रधानतः धार्मिक था, पाण्डुलिपियों के रूप में चैत्यों के कक्षों में सुरक्षित रहा, उसने साधारण जनता के घरों में कभी स्थान नहीं पाया।
३. कालान्तर में चैत्यों, विहारों के पतन और उनमें हुई लूट-मार के कारण, पाण्डुलिपियाँ नष्ट-भ्रष्ट हो गईं।

आज हम जिस बौद्ध-साहित्य का अध्ययन करते हैं, वह हमें भारत के बाहर लंका, बर्मा, स्याम, नेपाल में स्थापित चैत्यों से प्राप्त हुआ है। चीन और तिब्बत से प्राप्त सूची में उल्लिखित ग्रन्थों से इस बौद्ध-साहित्य के विस्तार का पता चलता है। इसके साथ, मध्य-एशिया और गिलगित में किया गया पाण्डुलिपियों का अन्वेषण तथा तिब्बत में राहुल सांकृत्यायन द्वारा लिए गए पाण्डुलिपियों के चित्र, और प्राध्यापक जी० तुस्सी द्वारा किये गए पाण्डुलिपियों के संग्रह आदि ने भी इस दिशा में हमारे ज्ञान की काफी वृद्धि की है।

मध्य एशिया, गिलगित तथा तिब्बत में पाई गई संस्कृत की मूल पाण्डुलिपियाँ, जो अधिकतर ईसा की पाँचवीं या छठी या उससे पहले की हैं, मध्य-एशिया और गिलगित के बौद्ध स्तूपों तथा चैत्यों के तले बने शिला-कक्षों में, और तिब्बत के मन्दिरों में सुरक्षित थीं, जहाँ पर ये अध्ययन हेतु नहीं, वरन् केवल पूजा करने के लिए ही रखी गई मालूम होती हैं। उक्त पाडुलिपियों की खोज और अनुसन्धान से, बौद्ध-साहित्य और उसकी भाषाएँ, जिनमें वह लिखा गया, दोनों, के विकास क्रम पर काफी प्रकाश पड़ता है। विशेषतः बौद्ध-ग्रन्थों के अनुवादों से, मध्य-एशिया के मृत व्यक्तियों का हमें पता चला है।

बौद्ध-साहित्य के मुख्यतः दो विभाग किए जा सकते हैं—हीनयान साहित्य, जो पालि और मिश्रित संस्कृत में रचित हुआ और महायान साहित्य, जो मिश्रित और शुद्ध संस्कृत में लिखा गया। हीनयान और महायान पंथ की विभिन्न शाखाओं के साहित्य को लेकर इसके और भी उपविभाग किए जा सकते हैं।

जीवन-चरित

प्राचीन बौद्ध लेखकों और संकलन-कर्त्ताओं के लिए बुद्ध की जीवनी हमेशा आकर्षण का विषय रही है। बुद्ध की पाँच जीवनियाँ उपलब्ध हैं : १. महासंघिकों (लोकोत्तरवादियों) की महावस्तु, २. मिश्रित संस्कृत में रचित सर्वास्तिवादियों का ललितविस्तर, ३. शुद्ध संस्कृत में चमत्कारिक काव्यमय शैली में लिखा गया अश्वघोष का बुद्ध-चरित, ४. जातकों की भूमिका रूप में शुद्ध पालि में लिखित निदानकथा और अन्त में ५. धर्मगुप्त का अभिनिष्क्रमण-सूत्र जो सम्भवतः सूत्र रूप में मिश्रित संस्कृत में था, पर जिसके चीनी अनुवाद का ही पता लगा है। "रोमाँटिक लिजेंड ऑफ दी शाक्य बुद्धा" के शीर्षक से बील महोदय ने उसका अंग्रेज़ी रूपान्तर (१८७५) किया है। इनके अतिरिक्त, बुद्ध के जीवन की, अन्यान्य घटनाओं का वर्णन भी, पालि और संस्कृत के "विनय" तथा निकायों में मिलता है। उदाहरण के लिए "महापदानसुत्त" पूर्व बुद्धों की, विशेषतः गौतम बुद्ध के अनुरूप

समझे जाने वाले विपस्सी की जीवनी से सम्बन्ध रखता है। अरिय-परियेसन-सुत्त बोधिसत्व के गृहत्याग से लेकर उनके प्रथम धर्मोपदेश तक की घटनाओं का वर्णन करता है। महापरिनिब्बाण-सुत्त, बुद्धदेव की अन्तिम यात्रा और दहन-क्रिया तथा उनके भौतिक अवशेषों के बँटवारे का पूरा विवरण देता है। इसी प्रकार से सुत्तनिपात, अपदान और महावंस के खण्डों में भी बुद्ध की जीवनी संक्षेप में कही गई है।

परवर्तीकाल की एक पालि काव्य-रचना महाबोधिवंस उपलब्ध है। इसमें उन २४ बुद्धों के विषय में गाथाएँ कही गई हैं, जिनके जीवनकाल में, गौतम बुद्ध ने बोधिसत्व बनने के लिए आवश्यक गुण और योग्यताएँ प्राप्त कीं।

४५ वर्षों से अधिक समय तक किए गए बुद्ध के धर्मप्रचार के कार्यों का एक सही चित्र, जातक कथाओं के भूमिका-भागों में और पाँच निकायों तथा विनय-पिटक के सुत्तों में देखने को मिलता है।

उपर्युक्त बुद्ध की पाँच जीवनियों में सबसे व्यवस्थित है 'ललितविस्तर।' उसकी गम्भीर ध्वन्यात्मक गाथाएँ बड़ी ही हार्दिकता से प्रस्तुत की गई हैं, यद्यपि उसमें से कुछ वर्णनात्मक गद्य और पद्य अंश कुछ अस्वाभाविक लगते हैं फिर भी यह मान्यता है कि वे महापुरुष के प्रति श्रद्धा और भक्ति जगाने में सफल हैं। 'ललितविस्तर' के बाद महावस्तु का नाम आता है, जिसमें भिन्न-भिन्न परम्पराओं के अनुसार बुद्ध के जीवन की घटनाएँ कही गई हैं। किन्तु इसमें घटनाओं का सिलसिला बँधा नहीं है, शैली प्राचीनता का पुट लिए हुए है। फिर भी इसका यह महत्त्व है कि इसमें बुद्ध के जीवन की घटनाओं को, उनके पूर्वजन्म की कथाओं पर आधारित कर प्रस्तुत किया गया है। पूर्वजन्म से सम्बन्ध जोड़ने की यह प्रथा प्राचीन लेखकों में साधारणतः प्रचलित थी। निकाय और विनय, यहाँ तक कि मूल सर्वास्तिवादियों की "विनय" भी इस प्रभाव से बच नहीं सकी है। अभिनिष्क्रमण-सूत्र के सम्बन्ध में कोई विचार करना सरल नहीं है, क्योंकि उसका मूल ग्रन्थ अप्राप्य है। बील महोदय ने उसका जो संक्षिप्त अंग्रेजी रूपान्तर किया है उससे इतना कहा जा सकता है कि उसका स्थान 'महावस्तु' की अपेक्षा 'ललितविस्तर' के निकट होने योग्य है। 'महावस्तु' की भाँति उसका प्रारम्भ हुआ है और 'ललितविस्तर' के ही अनुकरण में अन्त में, धर्मप्रचार के दिनों के बुद्धदेव के विशिष्ट कार्यों को, जातक कथाओं द्वारा पोषित किया गया है। जीवनी के सम्पादक ने कुछ घटनाओं पर विशेष ध्यान दिया है और उस नाते, वह या तो महासंघिकों या काश्यपीयों या महास्थविरवादियों की परम्परा में चल पड़ा है। पालि में रचित निदानकथा का कुछ

अपना ढंग है। वह उन चार बुद्धों का विस्तृत विवरण देती है, जिनके जीवनकाल में बोधिसत्व ने भिन्न-भिन्न रूप धारण कर जन्म लिया था और बुद्धत्व प्राप्ति की आवश्यक योग्यता अर्जित की थी। महावस्तु की भाँति इसमें भी, जातक-कथाओं का उल्लेख मिलता है, परन्तु कहानियाँ विस्तार से प्रस्तुत नहीं की गई हैं।

जीवनियों में 'बुद्ध चरित' का अपना स्थान है। बुद्ध के जीवन की प्रसिद्ध घटनाओं को छोड़कर, इसमें, अन्य जीवन-चरितों की कोई बात नहीं पाई जाती है। काव्य की कथा प्रथम संगीति के अधिवेशन तक चलती है और पालि परंपरा के अनुकूल इसमें गौतम बुद्ध ऐसे मानव की तरह चित्रित हैं जो बीते जन्म के संचित पुण्यों के कारण अब पूर्णत्व को पहुँच पाये। काव्य की दृष्टि से बुद्ध-चरित बौद्ध-साहित्य में अद्वितीय है।

महावस्तु

महावस्तु मिश्रित संस्कृत में लिखा हुआ (१३२५ मुद्रित पन्नों का) एक विस्तृत ग्रन्थ है। महासंघिकों की लोकोत्तरवादी शाखा के विनय-पिटक की वह प्रथम पुस्तक मानी जाती है। महासंघिक उन भिक्षुओं का प्रथम दल है जो बुद्ध के परिनिर्वाण की एक शताब्दी बाद, कट्टर थेरवादी या स्थविरवादियों के वर्ग से अलग हो गया था। महासंघिक दल का निवासस्थान प्रायः वैशाली और पाटलिपुत्र ही रहा, पर कालान्तर में भिक्षुओं ने आन्ध्र राज्य के गुंटूर ज़िले में, अमरावती और नागार्जुनकोंडा में अपना निवास बदल लिया।

महावस्तु की भाषा और शैली, उसे ईसा-पूर्व प्रथम या द्वितीय शताब्दी की रचना ठहराती है।

प्राच्य-विद्या के जिन विशेषज्ञों ने इसका अध्ययन किया है, उनमें अधिकतर विद्वानों का यह विचार है कि यह एक अव्यवस्थित रचना है जिसमें बहुत सारे ऐतिहासिक तथ्यों और काल्पनिक गाथाओं की खिचड़ी मिलती है। इस आलोचना में आंशिक सत्य है ही, यद्यपि यह मानना होगा कि इसमें बिखरी पड़ी अन्यान्य घटनाएँ एक-दूसरे से सर्वथा असम्बद्ध भी नहीं हैं। आगे यह दिखाने का प्रयत्न किया जाएगा कि 'महावस्तु' के संकलन-कर्त्ता ने शाक्यमुनि के जन्म और उनके पूर्व-जन्म सम्बन्धी बहुतेरी काल्पनिक गाथाओं और परम्पराओं को किस ढंग से संजोकर प्रस्तुत किया है।

रचना के प्रारम्भ में, लेखक, महामौद्गल्यायन द्वारा देखे गये नरक और वहाँ की यातनाओं का वर्णन करता है। इसके बाद वह उन चार चर्याओं का उल्लेख करता है, जिनको बुद्धत्व प्राप्त करने के लिए हर व्यक्ति अनिवार्य रूप में

अपनाता है। प्रथम चर्या प्रकृति चर्या कहलाती है जिसके साधक माता-पिता, श्रमण, ब्राह्मण और वृद्धों के आज्ञाकारी सेवक होते हैं, अच्छे कर्म करते हैं, दूसरों को दान देने के लिए उपदेश देते हैं और बुद्धों की पूजा करते हैं। चर्यावस्था में रहने वाला व्यक्ति साधारण व्यक्ति ही है, वह बोधिसत्व की कोटि में नहीं आता। अपराजित-ध्वज बुद्ध होने के समय से शाक्यमुनि ने इस चर्या का अभ्यास किया।

दूसरी चर्या प्रणिधि या प्रणिधान कहलाती है। इस अवस्था में जीव, संबोधि प्राप्त करने की प्रतिज्ञा कर लेता है। शाक्यमुनि बुद्ध के रूप में अपने कई प्रकार के अस्तित्व में, शाक्यमुनि ने पाँच बार ऐसी प्रतिज्ञा की थी।

तीसरी चर्या—अनुलोम में पिछली चर्या की क्रियाओं को ही आगे बढ़ाया जाता है और बुद्ध बनने के लिए आवश्यक गुणों को प्राप्त किया जाता है। शाक्य-मुनि ने इस चर्या को तब आरम्भ किया था जब वे शमितावी बुद्ध थे। दूसरी और तीसरी चर्याओं में बोधिसत्व जातकों में बतलाए गुणों को प्राप्त करता है और क्रमशः पहली भूमि से लेकर आठवीं तक बढ़ता जाता है। राजकुमार कुश के रूप में जब शाक्यमुनि ने जन्म लिया तब वे सातवीं भूमि पर पहुँचे थे।

चौथी या अन्तिम चर्या अविवर्त या अनिवर्तन कहलाती है और यह अवस्था बोधिसत्व के आठवीं भूमि पर पहुँचने के साथ आरम्भ होती है। इधर आकर फिर लौटने की संभावना ही नहीं रहती। शाक्यमुनि का मेघमानव के रूप में जब पुनर्जन्म हुआ था तब वे दीपंकर बुद्ध के समय, इस चर्यावस्था में पहुँचे और संबोधि-प्राप्ति की सफलता पर उनसे आशीर्वाद भी पाया। सर्वाभिभू बुद्ध ने भी उनकी सफलता का अनुमोदन किया था जब शाक्यमुनि अभिय या अभिजी भिक्षु बनकर जनमे। आठवीं और नौवीं भूमि को पार करने के लिए बोधिसत्व को कई बार जन्म लेना पड़ा। अन्त में जब वे दसवीं भूमि पर पहुँचे तो उन्होंने ज्योतिपाल-मानव का जन्म लिया जिसमें काश्यप बुद्ध से उन्हें यौवराज्याभिषेक दिया गया और वे तुषित-स्वर्ग के देवाधिदेव बने। गया में बोधिवृक्ष के नीचे गौतम बुद्ध बनने पर उनकी दसवीं भूमि पूर्ण हुई।

भूमियों की बात कहने के बाद 'महावस्तु' का लेखक, बोधिसत्व के रूप में दीपंकर के अन्तिम अस्तित्व की कहानी को लेता है जो शाक्यमुनि की जन्म कहानी के बिल्कुल अनुरूप है। बोधि-प्राप्ति करके दीपंकर, एक विद्वान ब्राह्मण विद्यार्थी मेघमानव से मिले और उनसे कहा कि वे गौतम बुद्ध बनेंगे। इसी प्रकार की भविष्यवाणी मंगल बुद्ध ने भी की थी, जब हमारे बोधिसत्व अतुल नागराज में जनमे थे।

जीवन चरित का सिलसिला यहाँ आकर टूटता है। सहसा गौतम बुद्ध के धर्म प्रचार के जीवन की एक घटना यहाँ दी जाती है।

वज्जियों और लिच्छवियों की नगरी वैशाली में एक भयंकर संक्रामक रोग फैला था जो कि गौतम बुद्ध के उस नगर में पदार्पण करते ही मिट गया। इसी चमत्कारिक घटना का यहाँ वर्णन है। बुद्ध-धर्म के विरोधी आचार्य जहाँ रोग को दूर करने में असमर्थ हुए वहाँ बुद्ध देव ने पालि के रत्नसुत्त का संस्कृत में पाठ करके, रोग पर ही नहीं, उन विरोधी आचार्यों पर भी विजय पाई।

यहाँ पर संकलक राजकुमार सिद्धार्थ के माता-पिता के शाक्य और कोलिय वंश की परम्परा का भी वर्णन करता है। विश्व की उत्पत्ति और उव के आदिम निवासी तथा प्रथम महाराज के रूप में महासम्मत का चुनाव आदि का वृत्तान्त भी चलता है। कोलिय और शाक्य महासम्मत के ही वंशज थे।

महावस्तु का यह समूचा भाग निदानकथा के दूरे-निदान से कुछ-कुछ मिलता-जुलता है। फर्क इतना ही है कि यहाँ पर प्रकृतिचर्या में रहे बोधिसत्व की कहानी को उनके पूर्व-बोधिसत्व के अस्तित्व तक विस्तार दिया गया है।

राजकुमार सिद्धार्थ की सच्ची जीवनी महावस्तु के द्वितीय खंड में पाई जाती है और वह निदान कथा के 'अविदूरे निदान' जैसी है। निम्नलिखित शीर्षकों में जीवनी का वृत्तान्त प्रस्तुत है—अवतरण के लिए, बोधिसत्व का परिवार, देश, स्थान और काल का चुनना,

लुम्बिनी वन में उनका जन्म,
असित ऋषि का आगमन,
कृषिग्राम में बोधिसत्व की समाधि,
पराक्रम-प्रदर्शन और विवाह,
स्वयंभू होकर भी यशोधरा के पुत्र के रूप में राहुल का प्रकट होना।

एक दूसरी परंपरा के अनुसार, ऊपर बताई ये ही बातें, कुछ भिन्न ढंग से दी गई हैं। अर्ध-महायान-पद्धति के दो अवलोकित-सूत्र जिनमें से एक पद्य में, संक्षिप्त रूप में है, उक्त बातों को कहता है। बोधिसत्व के निरंजना नदी के पास पहुँचने और मार पर विजय पाने के साथ यह खंड समाप्त होता है।

महावस्तु का तृतीय खंड निदान कथा के 'संतिके-निदान' जैसा है। त्रिकभोजन नियम के बारे में एक उल्लेख करके इसमें प्रथमतः महाकाश्यप के धर्म-परिवर्तन का वर्णन आता है। त्रिकभोजन नियमानुसार निमंत्रित स्थान पर एक समय, तीन भिक्षुओं से अधिक मिल कर भोजन नहीं कर सकते थे।

महाकश्यप की दीक्षा के वर्णन के बाद, सारिपुत्र और मौद्गल्यायन, महाराज शुद्धोदन, महाप्रजापति, यशोधरा, राहुल तथा उपालि समेत अन्य शाक्य युवकों की दीक्षा का विवरण दिया गया है। बीच में, एक बहुबुद्ध-सूत्र का उल्लेख करके, बुद्ध के कपिलवस्तु जाने की कहानी आगे कही गई है। इसके बाद वृत्तान्त एकाएक उन सात सप्ताहों की ओर चल पड़ता है जो बोधि-प्राप्ति के बाद बुद्ध ने बिताये। उनके धर्म प्रचार का ब्यौरा बाद में आता है जिसमें राजगृह में बिंबिसार महाराज की दीक्षा का भी वर्णन आता है।

निदानकथा

निदानकथा पालि में उपलब्ध गौतम बुद्ध की एकमात्र जीवनी है और जातक कथाओं की टीका की भूमिका के रूप में रची गई है। इसके लेखक का कहीं उल्लेख नहीं किया गया है यद्यपि उसमें अज्ञात लेखक तीन भिक्षुओं का नाम लेता है : अट्ठदस्सी, एक साधु, महीशासक संप्रदाय के बुद्धमित्त और बुद्धदेव, एक प्रतिभावान एक भिक्षु जिसने लेखक को जातक की टीका लिखने की प्रेरणा दी।

जीवनी के वर्गीकरण के बारे में संकलक का कहना है कि दीपंकर बुद्ध के समय से लेकर उनके जन्म तक, तुषित देवता के रूप में बोधिसत्व का अस्तित्व है। यह 'दूरे निदान' का विषय है। तुषित स्वर्ग से, बोध-गया में अन्तिम मुक्ति-प्राप्ति के लिए उतर आने की बात 'अविदूरे निदान' में कही गई है। बुद्ध के धर्म प्रचार के प्रारम्भिक काल को लेकर सावत्थी में उनकी अनाथपिण्डिक और विशाखा से भेंट तक का विवरण 'संतिकेनिदान' में दिया गया है।

'दूरे निदान' सुमेध ब्राह्मण की जीवनी से प्रारम्भ होता है। एक धनी कुलीन ब्राह्मण वंश में, अमरावती में सुमेध का जन्म हुआ था, पर उनके बचपन ही में माँ-बाप चल बसे। उन्होंने ब्रह्म-विज्ञान की शिक्षा ली। माता-पिता की छोड़ी सम्पत्ति से नितान्त असन्तुष्ट होकर उन्होंने सारी दान कर दी और संन्यास ग्रहण कर लिया। जन्म और मरण, सुख और दुःख, रोग और वेदना से परे की अमत महानिब्बाण अवस्था की खोज में वे चल पड़े। उन्होंने यह अनुभव किया कि संसार में जो कुछ है, इसके दो पहलू हैं—सत् और असत्। इसलिए जन्म-दुःख से मुक्त के लिए कोई अजन्मा वस्तु भी ज़रूर होगी। उसी वस्तु से साक्षात्कार करने का निश्चय करके, वे ध्यान करने हिमालय गये। वहाँ धम्मेक पहाड़ में उन्होंने अपना निवास बनाया और केवल पेड़ों से गिरे फलों को खाकर, जीवन-यापन करते रहे। शीघ्र ही पाँच अभिज्ञा और समाधि मे उन्हें पूर्णता प्राप्त हो गई।

इसी समय दीपंकर बुद्ध सीमान्त देश में रम्मक नगर पहुँचे थे और सुदस्सन-महाविहार में रुके थे। सुमेध-तापस ने देखा कि बुद्ध के स्वागत के लिए नगर को स्वच्छ और शुद्ध बनाने में हर कोई व्यस्त है और वह तुरन्त उस काम में हाथ बँटाने स्वयं भी आगे बढ़े। बुद्ध के दर्शन की दिव्यता ने उन्हें अभिभूत कर लिया और उन के मन में आया कि बुद्ध के लिए अपने प्राण ही चढ़ा दें। कीचड़ पर बुद्ध पैर न रखें, इसलिए वे मणिफलक सेतु की तरह उस पर सीधे लेट गए और बुद्ध तथा उनके अर्हत् शिष्यों को अपने ऊपर से चलने दिया। जब वह इस तरह से लेटे थे, तब उन्होंने इच्छा की कि वह अपनी मुक्ति पाने से बच जाएँ और स्वयं बुद्ध बन जाएँ, जिससे कि वह अनगिनती जीवों को अस्तित्व की धारा से मुक्त कर सकें। तब दीपंकर ने भविष्यवाणी की कि बड़े साधु जटिल अनेक जन्मांतरों के बाद स्वयं बुद्ध बन जायेंगे और उन्होंने विवरणपूर्वक कहा कि वह कहाँ जन्म प्राप्त कर सकेंगे और उनके कौन प्रमुख शिष्य होंगे? कई चमत्कारों द्वारा जिनमें एक भूकम्प भी था, यह भविष्यवाणी सच निकली, और इसमें कोई सन्देह नहीं रहा कि सुमेध बुद्ध-बीजंकुर था। उसने भी यह जान लिया और अपनी अभिज्ञा से जान लिया कि उसे दस पारमिताओं को प्राप्त करना चाहिए, जो कि पुराने बोधिसत्वों ने बुद्धत्व-प्राप्ति के लिए प्राप्त की थीं।

दीपंकर बुद्ध के बहुत समय बाद, बुद्ध कोण्डञ्ञ रम्मवती नगर में आया। उस समय हमारे बोधिसत्व ने विजितावी के नाते पुनर्जन्म ग्रहण किया और उसने बुद्ध और संघ को बड़े अनुदान दिए। बुद्ध कोण्डञ्ञ ने जब यह भविष्यवाणी दुहराई कि वह बुद्ध बनेगा, तब उसने उसके उपदेश सुने थे और वह स्वयं एकांतवास ग्रहण करने लगा। उसने तीनों पिटकों में वर्णित अष्ट प्रकार की सम्पत्ति को प्राप्त किया। पाँच अभिज्ञाएँ भी प्राप्त कीं और फिर वह मर गया और उसने ब्रह्मलोक में पुनर्जन्म लिया।

इस प्रकार से निदानकथा में एक के बाद एक इक्कीस बुद्धों के बोधिसत्वों के अस्तित्व और रूपों की कहानियाँ हैं। इनमें से तीन थे, ककुसंध, कोणागमन और कस्सप। 'दूरे निदान' विभाग में जातकों की एक सूची है, जिसमें बोधिसत्व के दस पारमितों में सम्पूर्णत्व को व्यक्त किया गया है।

'मध्य युगांतर' के आरम्भ में बोधिसत्व को तुषित स्वर्ग के स्वामी के रूप में दिखाया गया है। उनसे देवताओं ने प्रार्थना की कि इस भौतिक जगत में वे बुद्ध बन कर आएँ। उन्होंने स्वीकार किया और समय, स्थान, परिवार, माता, जीवन की आयुर्मर्यादा आदि बातें उन्होंने अपने आप चुनीं। शेष कहानी उनके अवतरण

के पश्चात बोधि-प्राप्ति तक, महावस्तु और ललितविस्तर में दी गई परम्पराओं के अनुसार है।

'निकटतम युगांतर' बोधि प्राप्ति के पश्चात शीघ्र ही सात सप्ताह में घटित होता है। उसके बाद तपुस्स और भल्लिक साधारण भक्त की तरह से स्वीकार किए जाते हैं और स्तूप निर्माण में उन्हें बाल स्मृति-चिन्हों की तरह दिए जाते हैं। ऐसा भी उल्लेख है कि बुद्ध अपने सिद्धान्तों का उपदेश देने में हिचकिचाते थे, उसके बाद बुद्ध वाराणसी गए, जहाँ उन्होंने पाँच ब्राह्मण संन्यासियों को अपने सिद्धान्तों की विशेषताएँ समझाईं और धम्मचक्क तथा अनत्त-लक्खण नामक उपदेश दिए। इसके बाद उन्होंने यश और उसके मित्रों को बौद्ध दीक्षा दी। धीरे-धीरे यह शिष्यों की संख्या साठ तक पहुँची। उन्हें बुद्ध ने विविध दिशाओं में अपने उपदेश प्रचारित करने के लिए भेजा और स्वयं उरुवेला में गए और अपने अग्नि-सूक्त से तीन जटिल कस्सपों को बौद्ध-धर्म की दीक्षा दी।

राजा शुद्धोदन ने उन्हें कपिलवस्तु में आने के लिए बुलाया, जहाँ उन्होंने शाक्यों के सामने अपनी महत्ता सिद्ध करने के लिए चमत्कार करके दिखलाए। वह उस नगरी के आस-पास, अपने शिष्यों को लेकर, अन्न की भिक्षा माँगते हुए घूमे। राजा और यशोधरा इस भिक्षा की बात से दुखी हुए, परन्तु उसे रोक नहीं सके। यशोधरा अपने महल में ही थी और उनका स्वागत करने बाहर नहीं आ सकी, इसलिए स्वयं बुद्ध अपने चार शिष्यों के साथ उसके पास गए। उसने कहा कि अपने स्वामी के लिए उसने क्या-क्या त्याग किये हैं। इससे चन्द-किन्नर जातक में वर्णित उसके पूर्वजन्म की बात निकली।

इसके बाद तो सर्वत्र वर्णित राहुल के और राजपुत्र नन्द के सिंहासन-ग्रहण और विवाह से पूर्व बौद्ध धर्म-ग्रहण करने का वृत्तान्त है। इसके पश्चात् बुद्ध और अनाथपिंडिक के राजगृह में मिलने की कथा है। जेतवन के खरीदने और उस पर मठ-निर्माण की कथाएँ हैं। यह बुद्ध-जीवनी श्रावस्ती में आकर समाप्त होती है, जहाँ कि व्यापारी अनाथपिंडिक संघ को सदा के लिए बिहार दान में देते हैं।

बुद्ध के उपदेश

पालि सुत्त-पिटक

बुद्ध के उपदेश सुत्त-पिटक में हैं, जिसके पाँच निकाय हैं; दीघ, मज्झिम, संयुत्त, अंगुत्तर और खुद्दक। संयुत्त और अंगुत्तर को छोड़कर अन्य निकायों के शीर्षकों का अन्तर, अन्दर के लेखन से मिलता हुआ ही हो ऐसा नहीं है।

उदाहरणार्थ दीघ में कुछ लम्बे सुत्त हैं, परन्तु कई बहुत छोटे भी हैं, और कुछ तो मज्झिम के सुत्तों से भी छोटे हैं। इसमें दो सुत्त हैं : संगीति और दसुत्तर, जिन्हें अंगुत्तर में स्थान मिलना चाहिए था। मज्झिम में कई सुत्त हैं जो दीघ से भी बड़े-बड़े हैं। कई सुत्तों के ऐसे वर्ग हैं यथा राजवग्ग, ब्राह्मणवग्ग, तथा विभंगवग्ग, जो कि संयुत्त में होते तो अधिक उत्तम होता। यह मानना होगा कि मज्झिम और संयुत्त की पद्धति और शैली बहुत भिन्न है। संयुत्त में सुत्तों का वर्गीकरण एक सामान्य नाम के नीचे किया गया है, उसमें विभिन्न विषयों के उल्लेख नहीं हैं। अंगुत्तर में शीर्षक ठीक है, क्योंकि विचार-वस्तु संख्या के अनुसार सूत्रबद्ध है। कई बार संख्यानुसार विभाजन को कायम रखने के लिए वर्ग और उपवर्ग अधिक खींच-तान कर रखे गए हैं। इसमें विनय के विषय भी आए हैं, जहाँ-जहाँ वे संख्याकार विभाजन में आ सके हैं। खुद्दक निकाय का शीर्षक बिलकुल सार्थक नहीं है, यदि 'खुद्दक' का अर्थ 'छोटा' लिया जाए। कदाचित उद्देश्य यह था कि सब सुत्त, पाठ, भाष्य, जो इन चार निकायों में नहीं आ सके, उन्हें एक सहायक ग्रन्थ के रूप में ग्रथित किया जाए।

सुत्तों का निकायों में विभाजन आरम्भिक काल की भाणक पद्धति के कारण हुआ होगा। तब लेखन तो लोगों को मालूम नहीं था। अतः बुद्ध के वचन, उनके शिष्य जमा करते थे। कुछ भिक्षु लोग उन्हें याद कर लेते थे, और मौखिक परम्परा से वे शिष्यों को प्राप्त होते थे। इन शिष्यों के शायद दो पंथ थे, जो अपने अन्तर को स्पष्ट करने के लिए दीघ-भाणक और मज्झिम भाणक कहलाते थे। बाद के दो निकाय कुछ समय के बाद विकसित हुए, उनका उद्देश्य रहा होगा दीघ और मज्झिम में जो विविध विषय थे उनको पुनर्व्यवस्थित करना। सब निकायों का विस्तार से परिचय देना सम्भव नहीं, अतः यहाँ केवल दीघ-निकाय का परिचय दिया जा रहा है।

दीघ निकाय में तीन खण्ड हैं, जिनमें ३४ सुत्त हैं। इनमें से १६ कुछ लम्बे कहे जा सकते हैं। प्रथम सुत्त, ब्रह्मजाल के दो हिस्से हैं। पहले में सारे अँधविश्वासों की गणना की गई है और लोकप्रिय खेल और मनोरंजन का ब्यौरा दिया गया है। दूसरे में कई प्रकार के सैद्धान्तिक और दार्शनिक मत-विश्वास, जो उस समय में प्रचलित थे, दिए गए हैं। दूसरे सुत्तंत-सामञ्ञ फल में भी दो हिस्से हैं। पहले में छः नास्तिक आचार्यों के सिद्धान्तों की विवेचना है, और दूसरे में बौद्ध संघ के एक भिक्खु द्वारा क्रमशः विकसित होते जाने पर क्या-क्या लाभ मिलते हैं, यह बताया गया है। अगले तीन सुत्तंत-अंबट्ठ, सोणदण्ड, और कूटदन्त में अधिकतर इस ब्राह्मण-

धर्मीय विचार के अन्याय की चर्चा है कि ब्राह्मणों को जन्मना कुछ विशेषाधिकार प्राप्त हैं। बुद्ध द्वारा दिखाए गए जीवन के आदर्श की महत्ता तुलनाओं द्वारा व्यक्त की गई है। छठे (महालि), सातवें (जालिय), दसवें (सुभ) और बारहवें (लोहिच्च) सुत्तन्त सामञ्ञ फल के विषयों पर, कुछ रूप बदल कर घूम-फिर कर लौट आते हैं।

ग्यारहवाँ सुत्त (केवट्ट) दिखाता है कि ब्रह्मा जिन देवताओं के अध्यक्ष हैं, उनसे बुद्ध श्रेष्ठ है, क्योंकि एक प्रश्न का उत्तर जो ये देवता न दे सके, बुद्ध ही दे सके हैं। यहाँ हमें दिखाया गया है कि ब्रह्मा उस प्रश्नकर्त्ता को दूर ले जाते हैं और बताते हैं कि अन्य देवताओं के सामने वह कैसे कहें कि उन्हें उस प्रश्न का उत्तर नहीं आता। बाद में वही प्रश्न बुद्ध से पूछा गया।

अष्टम (कस्सप-सीहनाद) सुत्तन्त में बुद्धकालीन प्रचलित कई प्रकार की संन्यासधर्मीय पंथों की और उनके आचारों की चर्चा है, जब कि नवम पोट्ठपाद में परिव्राजकों को दिए जाने वाले उपदेश संगृहीत हैं। ये दोनों सुत्तन्त उन फलों का वर्णन करते हैं, जो कि बौद्धों ने पवित्राचारों द्वार प्राप्त किए हैं। तेहरवें (तेविज्ज) सुत्तन्त में इस विचार का खण्डन है कि वैदिक ऋषियों के बताए हुए मार्ग और साधनों के द्वारा ब्रह्मलोक तक पहुँचा जा सकता है। उसमें यह भी बताया गया है कि आत्मसंयम और चार ब्रह्मविहारों को मानने से ब्रह्मलोक-प्राप्ति सहज है। ये ब्रह्मविहार हैं : मैत्री, करुणा, दूसरों के यश पर आनन्द और समता।

दीघ-निकाय के दूसरे खण्ड में सुत्तन्त दिए हैं, जिनके शीर्षक के पीछे 'महा' शब्द लगा हुआ है। प्रथम सुत्तंत महापदान है। वह गौतम बुद्ध के पहले के सात बुद्धों की जीवनी से सम्बन्ध है और उसमें विपस्सी के जीवन को ब्यौरेवार वर्णित किया गया है। विपस्सी शाक्यमुनि के जीवन का प्रतिरूप मात्र है। महानिदान, जैसे कि उसके नाम से स्पष्ट है, कार्य-कारण के नियम का विवरण देता है और विविध प्रकार के जीवों का वर्णन भी देता है। इस निकाय का सर्वोत्तम सुत्तन्त है महापरिनिब्बाण, जिसमें बुद्ध के जीवन के अन्तिम दिनों का यथार्थवादी वर्णन है। विशेषतः महत्त्वपूर्ण उन गाँवों के नाम हैं, जिनमें से होते हुए वह कुशीनगर पहुँचा और वह अन्तिम उपदेश भी उसमें है, जो उसने संघ की भलाई के लिए दिया। उसने सिद्धान्त, ध्यान, ज्ञान, मुक्ति आदि पर ज़ोर दिया और बुद्ध-वचन की अधिकारिकता को सिद्ध करने वाले चार नियम बनाए।

साधारण भक्तों के लिए उसने कपिलवस्तु, गया, बनारस और कुशीनगर की यात्रा करना आवश्यक है, ऐसा लिखा है। उसके अन्तिम शब्द थे : 'वयधम्मा संखार अप्पमादेन सम्पादेथ' (सब वस्तुएँ व्यय-धर्मी अर्थात् नष्ट होने वाली हैं। अतः

अप्रमाद से अपने कर्मों का सम्पादन करो)। सुत्तन्त में बुद्ध के शरीर के अन्तिम संस्कार का स्पष्ट विवरण है, और उनके धातुओं के विभाजन का भी वर्णन है।

१७ वें से २१ वें सुत्तन्तों का मुख्य उद्देश्य यह सिद्ध करना है कि काशी, कोसल, वज्जी-मल्ल, चेति-वंस, कुरु-पंचाल, मच्छ-शूरसेन और अँग-मगध के कई निवासी बुद्धानुशासन को मानने वाले थे, अतः स्वर्ग में प्रवेश पाने वालों की संख्या बढ़ गई। पाँच सुत्तन्तों में से महासुदस्सन महापरिनिब्बाण की ही शाखा है। महा-गोविन्द एक पूर्व काल की कथा है और इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि इसमें भारत की तुलना एक रथ से की गई है और उसे सात प्रान्तों में विभाजित किया गया है, उदाहरणार्थ कलिंग, पोतन, अवन्ती, सोवीर, विदेह, अँग और काशी। यह सुत्तन्त महावस्तु में भी आता है। तेविज्ज-सुत्तन्त की भाँति इसमें भी चार ब्रह्म-विहारों के पालन का माहात्म्य वर्णित है।

इस ग्रन्थ के अन्तिम दो सुत्तन्त हैं, महसतिपट्ठान और पायासी। पहले में ध्यान मार्ग का विस्तार से वर्णन है। इसमें मन (सती) को सचेत (उपत्थान) रखने का और अपने शरीर और भावना को जो कुछ हो रहा हो, उससे संतुलित रखने का उपदेश है। इसमें यह भी लिखा गया है कि कर्त्तव्य कर्म कैसे किए जाएँ और बुद्ध द्वारा बताए गए सद्गुणों को कैसे विकसित किया जाए। दूसरा सुत्तन्त एक खत्रिय (क्षत्रिय) आचार्य और दार्शनिक के नाम पर है। पायासी इस भौतिकवादी सिद्धान्त को मानता था कि मृत्यु के बाद कोई पुनर्जन्म नहीं है और किसी भी जीव के अच्छे या बुरे कर्म किसी परिणाम के उत्पादक नहीं होते। इस मत का कुमार-कस्सप ने खण्डन किया। कुमार-कस्सप बुद्ध के प्रसिद्ध शिष्य थे।

तीसरे खण्ड में ग्यारह सुत्तन्त हैं, जिनमें से पहले चार (२४-२७) में अधिकतर बौद्धेतर मतों और विरक्तों की क्रियाओं का वर्णन है। इस सुत्तन्त में ब्रह्म-जाल सुत्तन्त से कुछ बौद्धेतर मत पुनरुद्धृत किए गए हैं। ये मत पृथ्वी के आरम्भ के विषय में हैं। बाद के सुत्तन्त (उदम्बरिक-सीहनाद) में कठोर आत्मपीड़क विरक्त-मार्गियों की क्रियाओं के बुरे नतीजे वर्णित किए गए हैं, जब कि चक्कवत्ति-सीहनाद सुत्तन्त बौद्धों को संयमित होने के लिए और धम्म को अपना प्रधान आधार बनाने के लिए आदेश देता है। यद्यपि बुद्ध पृथ्वी के आरम्भ के विषय में कोई भी अनुमान करना पसन्द नहीं करते थे, फिर भी अग्गञ्ञ सुत्तन्त में स्पष्ट किया गया है कि संसार का आरम्भ कैसे हुआ और वहाँ ब्राह्मण की जन्मना श्रेष्ठता का विरोध है।

आगे के दो सुत्तन्तों में यानी सम्पसादनीय और पासादिक में बुद्ध के उपदेशों और नैतिक आदेशों का सारांश है। दूसरे सुत्तन्त का आदेश तब दिया गया था

जब निगंठ नातपुत्त की मृत्यु के बाद उसके अनुयायियों में मतभेद हो गए थे, और इस कारण से उसमें ये तीन बातें हैं : (१) उद्दक रामपुत्त के मत का उल्लेख, (२) सुखल्लिकानुयोग शब्द, जो धम्मचक्कप्पवत्तनसुत्त में है, का स्पष्टीकरण, (३) कुछ प्रश्नों को बुद्ध द्वारा अनुत्तरित छोड़ने का कारण।

लक्खण-सुत्तन्त में विस्तार से वे सब कर्म दिए हैं, जिनसे महापुरुष के बत्तीस लक्षण प्राप्त हो सकते हैं।

सिंगालोवाद-सुत्तन्त इस दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है कि सर्वसाधारण अनुयायियों के लाभ के लिए बुद्ध ने यही एकमात्र विशद उपदेश दिया है। कुछ विद्वानों के अनुसार यह अशोक के धम्म का मूल-स्रोत है। आटानाटिय सुत्तन्त अकेले भिक्षुओं को दुष्ट यक्षों से बचने के लिए जादू-मन्त्र की तरह से है।

अन्तिम दो सुत्तन्तों में अंगुत्तर निकाय की तरह से बुद्ध के उपदेशों का सार है। इनमें दसुत्तर अन्तिम है और उसमें संक्षिप्त सूत्रात्मक पद्धति अपनाई गई है।

धम्मपद

धम्मपद विश्व साहित्य का भाग है। वह बौद्ध और बौद्धेतर देशों में एक-सा लोकप्रिय है। इसमें बौद्ध-धर्म के उपदेश ग्रथित होने पर भी इसके विश्वात्मक और सर्वव्यापी विचार हैं। इसमें ४२३ छन्द हैं, जो २६ वग्ग या अध्यायों में विभाजित हैं, और दक्षिण एशिया के बौद्ध देशों में प्रत्येक तरुण भिक्षु को ये सूत्र कंठस्थ हैं। इसका छन्दमय रूप होने से यह सहज स्मृति में रह सकता है।

धम्मपद का अर्थ स्पष्ट है। इसे इस पुस्तक में ही धार्मिक वाक्य या शब्द के नाते प्रयुक्त किया गया है। बौद्ध लोग कहते हैं कि बुद्ध के उपदेश इसी ग्रन्थ में संक्षेप में दिए गए हैं, चूँकि बौद्ध दर्शन के और बौद्ध जीवन-पद्धति के प्रमुख सिद्धान्त इसमें विवेचित हैं।

इस छोटे से ग्रन्थ में, अन्य बौद्ध ग्रन्थों की भाँति, सब प्रकार के यज्ञ-यज्ञादि और अन्य आत्म-प्रपीड़क हठयोगों की निन्दा है, और इसका विशेष आग्रह शील पर है। यह शील समाधि और पञ्ञा (प्रज्ञा) से विकसित होता है। बुद्ध के उपदेश संक्षेप में यों हैं : "सारी बुराइयों से बचो, जो अच्छा है उसे जमा करो और मन को शुद्ध करो" (१८३)। कौन-सा धर्म इससे सहमत नहीं होगा? इसके उपदेश के अनुसार सब निश्चित चीज़ें क्षणिक हैं, दुःख से भरी हैं और इस कारण से 'अनत्ता' या अपनी नहीं हैं। लोगों से कहा गया है कि वस्तुओं के केवल बाह्य आकर्षण पर न जाकर, उनके दुखद पक्ष को भी पहचानें। उसमें अविद्या को सबसे बड़ी अशुद्धि (२४३) कहा गया है, और यह कहा गया है कि

तृष्णा या आसक्ति के अन्त से ही दुःख का अन्त होगा। लोभ, ईर्ष्या, भ्रांति आग की तरह खतरनाक बताई गई हैं, और जब तक उन्हें न रोका जाए, यह सम्भव नहीं कि सुखी जीवन बिताया जा सके।

सुखी जीवन की प्राप्ति के लिए हमें दोनों अतिवादों से बचना चाहिए— इंद्रिय-विलास में रत होना और आत्म-प्रपीड़न की राह अपनाना। इसलिए हर एक को मध्यम मार्ग अपनाना चाहिए। बौद्धों को दिव्य अष्टांग मार्ग का अनुसरण आवश्यक है, जो कि बुद्ध, संघ और धम्म पर आधारित था। धम्मपद के अनुसार बौद्ध मार्ग की विभिन्न मंज़िलों को पाना सारी दुनिया को पाने से बेहतर है (१७८)। उसमें सब जीवों के उन गुणों की वृद्धि के लिए आग्रह है, जिनसे व्यक्ति स्वयं अपना उद्धार कर सकता है। व्यक्ति को पाप से या अपवित्रता से मुक्त करने में, सिवाय उसके अपने, और कोई मदद नहीं कर सकता। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने आपको जानने का प्रयत्न करे। बुद्ध भी बहुत कम मदद कर सकते हैं, चूँकि वे केवल मार्गदर्शक चिन्हों के समान पथ-प्रदर्शक मात्र हैं (२७६)। इसमें शान्ति और अहिंसा युक्त जीवन को प्रशंसा है (१२६-३०,१४२) और इसमें लिखा गया है कि "वैर से वैर का कभी शमन नहीं होता, किन्तु अवैर से ही होता है" (५)। इसका उपदेश है कि "अक्रोध से क्रोध को जीतो, बुराई को अच्छाई से, कंजूसपन को दान से, झूठ को सत्य से" (२२३)। इसमें यह भी कहा गया है कि "दूसरों से कभी कठोरता से न बोलो, क्योंकि वे भी तुम्हारे साथ वैसे ही दुर्वचन कह सकते हैं" (१३३)।

यह छोटी-सी पुस्तक साहित्यिक गुणों से भरपूर है। इसमें ऐसी सुन्दर और यथोचित उपमाएँ हैं कि वे मन को छू लेती हैं : "दुराचारी असंयमी होकर देश का अन्न (राष्ट्र-पिण्ड) खाने की अपेक्षा अग्निशिखा के समान तप्त लोहे का गोला खाना उत्तम है" (३०८)। "जिस प्रकार फल के वर्ण या गन्ध को बिना हानि पहुँचाए भ्रमर रस को लेकर चल देता है, उसी प्रकार मुनि गाँव में विचरण करे" (४६)। "धर्मग्रन्थों का कितना ही पाठ करे, लेकिन यदि प्रमाद के कारण मनुष्य उन धर्म-ग्रन्थों के अनुसार आचरण नहीं करता, तो दूसरों की गौवें गिनने वाले ग्वालों की तरह वह श्रमणत्व का भागी नहीं होता" (१६)। "पुत्र और पशु में आसक्त (चित्त) मनुष्य को मृत्यु वैसे ही ले जाती है, जैसे सोए गाँव को (नदी की) बड़ी बाढ़" (२८७)। "जो राग में रत है, वह मकड़ी के अपने बनाए जाले की तरह प्रवाह में फँस जाते हैं, धीर (जन) उसे भी छेद कर, अपेक्षा-रहित हो, सब दुःखों को छोड़ प्रव्रजित होते हैं" (३४७)।

इनके अलावा और भी कई ऐसे पद हैं, जिनमें विश्वात्मक सत्य हैं—सब कालों और सब देशों के लिए सत्य। उदाहरणार्थ—

"बुरे और अपने लिए अहितकर कार्यों का करना आसान है, लेकिन शुभ और हितकर कार्यों का करना बहुत कठिन है (१६३)।"

"यह संसार अन्धा है, थोड़े ही यहाँ अन्तर्दर्शी हैं। जाल से मुक्त पक्षियों की तरह थोड़े ही लोग स्वर्ग को जाते हैं (१७४)।

"मनुष्य का जन्म मुश्किल से मिलता है। मनुष्य-जीवन मुश्किल से बना रहता है (१८२)।"

"मेरे पास न आएगा, यह सोचकर पाप की अवहेलना न करे। बूँद-बूँद पानी गिरने से घड़ा भर जाता है (१२२)।"

"दूसरों के दोष देखना आसान है, अपने दोष देखना कठिन (२५२)।"

"न तो पुष्पों की सुगन्ध, न चन्दन की सुगन्ध, न तगर वा चमेली की सुगन्ध हवा के विरुद्ध जाती है, लेकिन सत्पुरुषों की सुगन्ध हवा के विरुद्ध भी जाती है (५४)।"

"हे अतुल! यह पुरानी बात है, यह आज की नहीं। चुप बैठे रहने वाले की भी निन्दा होती है, बहुत बोलने वाले की भी निन्दा होती है, कम बोलने वाले की भी निन्दा होती है, दुनिया में ऐसा कोई नहीं जिसकी निन्दा न हो (२२७)।"

ये सब वचन कितने मार्मिक हैं?

ऐसे ही साहित्यिक गुणों वाले और सार्वदेशिक, सर्वजनीन, सर्वकालिक प्रभाव वाले रत्नों का परिणाम है कि यह छोटी-सी पुस्तक एशिया और यूरोप की कई भाषाओं में अनूदित हो चुकी है।

संस्कृत सद्धर्म-पुण्डरीक

सद्धर्म-पुण्डरीक महायान बौद्ध-धर्म का एक प्राचीनतम ग्रन्थ है। वह अंशतः गद्य और अंशतः पद्य में है। प्राचीन महायान ग्रन्थों की जैसी सामान्य रीति है, गद्य-अंश की भाषा खासी अच्छी संस्कृत है, जबकि पद्य की भाषा मिश्रित संस्कृत है। बौद्ध-शास्त्र विषयक विचारों और भाषागत विशेषताओं को ध्यान में लें तो इस रचना की तिथि महावस्तु और ललितविस्तर के कुछ बाद की होनी चाहिए, यानी लगभग ईसा की प्रथम शती के आस-पास। उसके सबसे पुराने चीनी अनुवाद धर्म-रत्न ने २८६ ईस्वी में और कुमारजीव ने ३८३ ईस्वी में किए। दो शती बाद (६०१ ईस्वी) में ज्ञानगुप्त और धर्मगुप्त ने भी उसके अनुवाद किए। नानजिओ के अनुसार, इस मूल ग्रन्थ के आठ या नौ चीनी अनुवाद थे, जिनमें से केवल ऊपर

बताए तीन अनुवाद उपलब्ध हैं। कुछ चीनी और जापानी बौद्ध-पंथों के मूल धर्मग्रन्थ वे बने, विशेषतः जापान के तेन्दाई और निचिरेन पंथों के, और वह सभी ज़ेन (ध्यान) पंथ के मन्दिरों में पढ़े जाते हैं।

यह मूल पाठ हीनयान से महायान बौद्ध-धर्म की संक्रान्ति के सूचक हैं। ग्रन्थ का बहुत-सा भाग यह सिद्ध करने के लिए लिखा गया है कि हीनयान बौद्ध-धर्म बुद्धों ने कम बुद्धि वाले वर्गों के समझने के लिए प्रचारित किया, क्योंकि इन छोटे लोगों की समझ में पूरा सत्य नहीं आ सकता था। हीनयान बौद्धों को ३७ बोधिपक्षीय धर्मों का पालन सिखाया गया था यानी जो ज्ञान से सम्बन्धित धर्म थे, जिससे कि वे क्लेशावरण से मुक्त हो जाते, और चार आर्यसत्यों और कार्यकारण भाग के नियम को समझ सकते। इस प्रकार से वे पुद्गल-शून्यता अथवा अनात्मन की स्थिति पा सकते थे, जिससे कि वे कुछ समय के लिए निर्वाण-प्राप्ति वाले स्थान पर पहुँच जाते। इस ग्रन्थ में यह भी लिखा है कि हीनयानवादी, जो इन उपलब्धियों से सम्पूर्णता प्राप्त कर चुके हैं, आगे अपने अगले जन्मों में और प्रयत्न करें, जिससे कि वे उन गुणों को पा जायें जो बोधिसत्वों को सम्पूर्ण बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए आवश्यक होते। उन्हें धर्म शून्यता और धर्म-समता की प्राप्ति आवश्यक थी, जिससे कि ज्ञेयावरण दूर किया जा सके और वे सम्यक्-सम्बुद्ध बन सकें।

यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि बुद्ध ने दो प्रकार के सत्य क्यों सिखाए? इस ग्रन्थ में इसका समाधान है कि हीनयानियों के लिए सिखाया गया सत्य केवल उपाय-कौशल्य था, जो कि बौद्धों ने कम बुद्धि वाले निचले लोगों को आकर्षित करने के लिए और उन्हें अन्तिम सर्वोत्तम ज्ञान-प्राप्ति तक पहुँचाने के लिए अपनाया था। उसमें यह भी लिखा है कि "यान" (मार्ग) केवल एक ही है, सम्पूर्ण निर्वाण उसी से मिलेगा, तीन यान नहीं हैं। श्रावकयान, प्रत्येक बुद्धयान और बोधिसत्वयान केवल बुद्धों की सुविधा के लिए तीन मार्ग थे, जो अन्तिम सत्य तक पहुँचते थे। यह बात सच है कि हीनयान के कई बड़े व्यक्तियों को आश्वासन दिया गया था कि अन्ततः वे सब बुद्ध हो जाएँगे।

सद्धर्म-पुण्डरीक के सत्ताईस अध्याय हैं। पहले अध्याय में महावैपुल्य सूत्र के नाते पूर्व-बुद्ध द्वारा प्रवचन के रूप में मूल-ग्रन्थ शुरू होता है और मंजुश्री के पूर्वावतार वरप्रभ बोधिसत्व द्वारा दीपंकर तक वह कैसे लाया गया, यह वर्णन आता है। दूसरे अध्याय में बुद्ध यह बतलाते हैं कि परम सत्य का तथागत केवल अपने भीतर ही अनुभव कर सकते हैं और वह दूसरों के सामने व्यक्त नहीं किया जा सकता। इस प्रकार से यह न केवल श्रावकों के और प्रत्येक बुद्ध के परन्तु अवैवर्तिक

बोधिसत्त्वों की पहुँच के परे है। बुद्ध यह मानते हैं कि उन व्यक्तियों के लिए जो संसार और उसके दुःखों के अस्तित्व में विश्वास करते हैं, उन्होंने अपने उपदेश नौ अंगों में दिए और उन्हें सिखाया कि निर्वाण कैसे प्राप्त किया जाए। जो बोधिसत्व अधिक समझदार थे, या जिनकी मानसिक तैयारी अधिक थी, उन्हीं को बुद्धत्व तक पहुँचाने वाले गहरे सिद्धान्त सिखाए गए। इस अध्याय में बुद्ध ने अपने मन की हिचकिचाहट व्यक्त की है कि पहले अपने सिद्धान्तों का प्रचार वे नहीं करना चाहते थे परन्तु ब्रह्मा ने आकर आग्रह किया, जिस पर उन्होंने मत बदला। तीसरे और चौथे अध्याय में दो बहुत मनोरंजक कहानियाँ हैं, जिनके अनुसार करुणामय बुद्ध सबके प्रति कैसे एक-से सदय हैं, यह दिखलाया गया है। वे श्रावकों की भलाई के प्रति उतने ही झुके हुए थे, जितने कि बोधिसत्त्वों के। पंचम अध्याय में, बुद्ध की उपमा मेघ और सूर्य के साथ दी गई है, जो कि सबके प्रति एक-सी वर्षा करता है या सब पर एक-सा चमकता है। सब वस्तुओं की समानता क बोध ही निर्वाण है, ऐसा उसमें अर्थ दिया गया है। श्रावक का निर्वाण केवल विश्राम है और अन्तिम निवृत्ति नहीं है।

शाक्यमुनि घोषित करते हैं कि कई हीनयान अर्हत और अर्हतेतर अन्ततः बुद्ध बन जाएँगे और तब घोषित करते हैं कि अपने किसी पूर्वजन्म में, किसी साधु से उन्होंने यह सूत्र ग्रहण किया था, जो कि बाद में देवदत्त बन कर जन्मा। उसने पहले ही देख लिया था कि कुछ लोग इस सूत्र की बुराई करेंगे और इस प्रकार से गहरा पाप करेंगे। कई प्रकार की उपमाएँ देकर सूत्र का महत्त्व वे बतलाते हैं और श्रद्धालुओं को आदेश देते हैं कि जहाँ-जहाँ इन सूत्रों का पाठ हो वहाँ स्तूप बनाए जायँ और उनका उसी तरह आदर किया जाए, जैसा बुद्ध के धातुओं को सुरक्षित रखने वाले चैत्यों का।

अगले दो अध्यायों में यह कहा गया है कि बुद्धों की आयुर्मर्यादा असीम है। यह बात हीनयानी नहीं मानते। वे तो यह मानते हैं कि बुद्ध ने गया में सम्बोधि प्राप्त की और मुक्ति ज्ञान के बाद चालीस वर्ष तक जीवित रहे। बुद्ध मानते हैं कि उन्होंने ही दीपंकर बुद्ध का और अन्य बुद्धों का निर्माण किया और उनके द्वारा आर्यसत्य और प्रतीत्यसमुत्पाद पर प्रवचन दिलवाया। साथ ही, उसी ने उनकी परिनिर्वाण-प्राप्ति की व्यवस्था की जिनकी मानसिक स्थिति इतनी समुन्नत नहीं थी। उन बोधिसत्वों के लिए जिनके उच्चादर्श थे, उन्होंने माता-पिता और तथागत ज्ञान पर व्याख्यान दिलाने का यत्न कराया।

शेष अध्याय मुख्यतः सूत्रपाठ, सूत्रप्रचार और सूत्रज्ञान से क्या पुण्य-लाभ होता है, इसी विषय में है।

२६वें अध्याय में थोड़ा विषयांतर किया गया है, जहाँ अवलोकितेश्वर बोधिसत्व का विषय आता है, और उसकी प्रशंसा की गई है। यह कहा गया है कि जो निम्न मन्त्र पढ़ेगा वह जहाज़ के डूबने, आग या नैतिक पाप के विघ्नों से बच जाएगा—"नमो नमस्तस्मै अभयंदद अवलोकितेश्वराय बोधिसत्वाय महासत्वाय।" बोधिसत्व विविध जीवों का रूप लेकर इन सब क्लेशों से उन्हें मुक्त करेगा।

सूत्रग्रन्थ के अन्त में बुद्ध सब को आदेश देते हैं कि इस सुत्त की रक्षा करो और प्रचार करो। वह कहते हैं—"यह सम्यक् सम्बोधि मैं आप सब के हित के लिए धरोहर की भाँति देता हूँ, और आप पर यह उत्तरदायित्व रखता हूँ कि आप इसे दूर-दूर तक प्रचारित करें, जिससे कि आप बुद्ध ज्ञान के दाता बनें।"

बुद्ध का अनुशासन

विनय-पिटक

बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियों के आचार और निर्देश के लिए जो अनुशासन के नियम हैं, वे विनय-पिटक में एकत्रित किए गए। बौद्ध भिक्षु संघ लोकतन्त्रात्मक आधार पर था। बुद्ध ने अपना कोई उत्तराधिकारी मनोनीत नहीं किया, किन्तु अपने अनुयायियों को आज्ञा दी कि उनके बताए मार्ग और नियमों पर वे चलें। यह बुद्ध के लिए सम्भव नहीं था कि भविष्य में अकुशलधर्मी भिक्षु क्या-क्या गलत बातें करेंगे, कैसे उन नियमों की उपेक्षा करेंगे या उनका विकृत अर्थ लगाएँगे, इन सब बातों का विचार करके वह सब नियम पहले से ही बना रखते। इस कारण से विनय-पिटक का वर्तमान स्वरूप बुद्ध द्वारा बनाए गए मूल सिद्धान्तों में सदियों तक होने वाले विकास का ही परिणाम है। पालि रूप में, यह पिटक पाँच विभागों में विभाजित है :

(अ) खंधक : (१) महावग्ग
(२) चुल्लवग्ग
(आ) सुत्त-विभंग : (३) पाराजिका से निस्सग्गिय तक
(४) पाचित्तिय से सेखिय तक और भिक्खुणी-विभंग
(ई) (५) परिवार

यह विभाजन बौद्ध संघ के विकास का चित्र देने की दृष्टि से उचित है, परन्तु इससे पिटक के कालक्रमानुसार विकास का निर्देश नहीं मिलता। विषयवस्तु और पालि भाषा की विचित्रता को देखते हुए पातिमोक्ख-सुत्त सब से प्राचीन सुत्त रहा होगा। वर्तमान संस्करण में सुत्त मूल पाठ की भाँति अलग से नहीं दिखाई देता,

परन्तु वह सुत्त-विभंग के भाग के रूप में है, जहाँ वह भाष्य के लिए मूल पाठ की भाँति आता है। सुत्त-विभंग बाद के किसी समय में लिखा गया होगा, इसमें सन्देह नहीं। उसमें कई बाद के पाठभेद हैं, और वह किसी आधुनिक कानून की पुस्तक की भाँति विभिन्न उदाहरणों को प्रस्तुत करता है। महावग्ग में संघ के आरम्भ से अब तक के विकास का हाल है, और इस कारण से यही निश्चित रूप से पिटक का प्रथम ग्रन्थ है। चुल्लवग्ग में कई ऐसे विषय हैं, जो कि पिटक के अन्त में होने चाहिएँ। वह विस्तार से यह बताते हैं कि मठ या विहार के अनुशासन के विरुद्ध जाने वाले व्यक्ति को क्या-क्या दंड देना चाहिए। इसमें भिक्षुओं के दैनिक जीवन के विषय में कुछ सामान्य नियम दिए गए हैं, जिनके लिए सही स्थान है महावग्ग। यह दिखाई देता है कि चुल्लवग्ग महावग्ग के बहुत बाद संकलित किया गया होगा, या फिर उसमें वे भी विषय लाए गए हैं, जो कि संकलकों के अनुसार, किसी अन्य भाग में नहीं लाए जा सकते थे। दो बौद्ध संगीतियों के वृत्तान्त, जिनमें से एक बुद्ध-परिनिर्वाण के एक शती बाद जुटी थी, भी इसमें आते हैं। अन्तिम भाग परिवार एक ऐसा ग्रन्थ है जो भिक्षुओं के उपयोग और याद रखने के लिए तैयार किया गया है। इसका उद्देश्य न केवल यह है कि भिक्षु सब नियम याद रखें, बल्कि वे सब तथ्य और परिस्थितियाँ भी जानें, जिनसे भिक्षु नियमों के अन्तर्गत आते हैं।

पातिमोक्ख-सुत्त—पातिमोक्ख (संस्कृत में प्रातिमोक्ष-सूत्र) विनय-पिटक का मुख्य सार है। पालि-पिटक का यह सबसे पुराना भाग है, और इसकी भाषा निकायों की भाषा से भी पुरानी है। इस ग्रन्थ के, दो सम्पूर्ण संस्कृत रूप, पाए गए हैं—एक तो कुचा में, जो लुई फिनो ने जूरनाल एशियातिके में १६१३ में प्रकाशित किया, और दूसरा गिलगित में, जिसे इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली में १६५३ में ए. सी. बनर्जी ने प्रकाशित किया। इन दो के अलावा इस ग्रन्थ के कई खण्डित भाग ल वाली पूस्यं ने प्रकाशित किए हैं। भिक्षुणी प्रातिमोक्ष-सूत्र के मूल का एक अंश ई. वाल्डश्मिट ने प्रकाशित किया है। जयसवाल रिसर्च इंस्टिट्यूट में महासंघिक के प्रातिमोक्ष-सूत्र की एक छाया-चित्रात्मक प्रतिकृति है। निकायों में, विशेषतः मज्झिम तथा अंगुत्तर में इस ग्रन्थ के जो उल्लेख मिलते हैं, उनसे यह जाना जाता है कि यह मूल ग्रन्थ बहुत प्राचीन रहा होगा। भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए संकलित यह सबसे पुरानी आचार-संहिता जान पड़ती है।

पातिमोक्ख के दो हिस्से हैं: एक भिक्खु-पातिमोक्ख, दूसरा भिक्खुणी-पातिमोक्ख। भिक्षुओं और भिक्षुणियों द्वारा किए जाने वाले अपराध उनकी गम्भीरता के अनुसार विभाजित हैं। सबसे बुरे पाप "पाराजिक" शीर्षक के अन्तर्गत हैं, और

उनका दण्ड था भिक्षु का अपने संघ से निष्कासन—(१) ब्रह्मचर्य का उल्लंघन (२) चोरी (३) हत्या अथवा हत्या को प्रोत्साहन, और (४) चमत्कार करने की अपनी शक्ति का अतिरंजित वर्णन आदि। संघादिसेस (संघावशेष) शीर्षक के अन्तर्गत जो और पापों की सूची दी गई है, उसके अनुसार पाप करने वाले भिक्षुओं को थोड़े समय के लिए निष्कासित किया जाता था। यदि कम से कम बीस भिक्षु उन्हें फिर से संघ में लेने के लायक समझें तो उन्हें संघ में पुनः ले लिया जाता था। तेरह पापों का उसमें उल्लेख है, जिनमें कुछ ये हैं—भिक्षुओं और स्त्रियों के अनुचित सम्बन्ध, मठ का निर्माण, झूठा आरोप, संघ में फूट और हठ। तीसरे खण्ड में, जिसका नाम है अनित्य, दो ऐसे उदाहरणों का उल्लेख है जिसमें दोषों को प्रमाणित करने के लिए पारिस्थितिक-साक्ष्य आवश्यक हैं। चौथे भाग में, जिसका नाम है निस्सग्गिय-पाचित्तिय, ऐसे २६ अपराधों का उल्लेख है, जिनमें भिक्षु अन्य जन की वस्तुओं का अपहरण करने का दोषी हो। यदि भिक्षु जिस वस्तु का उसने अपहरण किया है, वह लौटा दे और अपराध कबूल करे तो पाप करने वाले भिक्षु की पाप से मुक्ति हो जाती है। पाँचवें खण्ड में, जिसका नाम है पाचित्तिय, ९२ अपराधों की तालिका है, जैसे कीटकों की हिंसा करने वाले अविचारपूर्ण-कार्य, बुद्ध के उपदेश और अनुशासन के प्रति अनादर, बुद्धानुशासन को न मानना, और अन्त में विहार में रहते हुए बिस्तरे, आसन, चीवर आदि के उपयोग में, जो अनुचित कार्य हैं, उनका विवरण इत्यादि। छठे भाग में, जिसका नाम पाटिदेसनीय है, केवल चार पापों का उल्लेख है, जो भिक्षु को न दिए गए अन्न के ग्रहण के विषय में हैं। इन दो विभागों में वर्णित पापों से मुक्ति संघ के सामने औपचारिक रूप से पाप की स्वीकृति से हो जाती है। सातवें खण्ड, सेखिय (शैक्ष) में भिक्षु द्वारा दैनिक जीवन में पालन करने के ७५ आदेश दिए गए हैं, उदाहरणार्थ वह किसी गाँव या शहर में प्रवेश कैसे करे, दूसरों को कष्ट न हो ऐसे खाना कैसे खाए, बीमार के कमरे में कैसे जाए इत्यादि। इन बातों को न मानना पाप नहीं माना जाता था, इसलिए इनके लिए कोई दण्ड-व्यवस्था नहीं थी। अन्तिम अध्याय अधिकरण समथ अथवा 'संघ के भीतर झगड़े निपटाने के तरीके' कहा जाता है। ऐसे तरीके सात हैं। पहला, लड़ने वाले दोनों भिक्षुओं को आमने-सामने लाओ; दूसरा, दोनों में से एक झगड़े की बात में विस्मृति का शिकार बन गया था ऐसा एक पक्ष स्वीकार करें; तीसरा, जब झगड़े की बात उठी तब एक भिक्षु अपनी स्वाभाविक मनोदशा में नहीं था यह स्वीकार करें; चौथा, दोषी द्वारा स्वीकारोक्ति; पाँचवाँ, शलाका (अथवा मतदान की लकड़ियाँ) का उपयोग; छठा,

पहले से ही शारीरिक दोष था यह सिद्ध करना और उसके लिए दण्ड; और सातवाँ, संघ के भीतर जो झगड़े हों, उन्हें विज्ञापित न करना।

(२) सुत्त-विभंग—यह पातिमोक्ख-सुत्त पर भाष्य है। इसका आरम्भ वेरञ्जा पड़े अकाल से होता है। बुद्ध जब वहाँ गए, तब अकाल इतना तीव्र था कि लोगों को "सलाकवुत्ति" (एक प्रकार की राशन-पद्धति) ग्रहण करनी पड़ी। बुद्ध ने तब वेरञ्जा छोड़ दिया और सोरेय्य, संकास्स, कण्णकुज्ज होते हुए वे प्रयाग पहुँचे, जहाँ गंगा पार करके वह वाराणसी पहुँचे। वाराणसी से वे बेसाली गये और महावन कूटागारशाला में जाकर रुके।

वेसाली के पास कलन्दक नामक गाँव था, जहाँ एक अमीर साहूकार रहता था। उसके पुत्र सुदिन्न ने वेसाली में बुद्ध के उपदेश सुने, वे उसके शिष्य बन गए। उस समय वज्जियों के देश में अकाल शुरू हुआ। सुदिन्न के कई अमीर मित्र और रिश्तेदार वेसाली में थे। अतः उसने वहाँ जाने का निश्चय किया। इस प्रकार से वह और उसके भाई खूब भिक्षा माँग सकते थे। एक दिन सुदिन्न अपने गाँव में भिक्षा माँगने के लिए गए और उन्होंने कुम्मास (चावल का भूसा) माँगा, जो एक महरी बाहर फेंकने जा रही थी। जब उसकी माँ ने सुदिन्न के आने के समाचार सुने, तब उसने उसकी पत्नी से आग्रह किया कि वह जाकर उससे मिले और पुत्र की कामना करे। सुदिन्न ने उसकी इच्छा पूरी की, और वह मठ को लौट गया। वहाँ जाकर उसने पश्चाताप किया और सारा मामला अपने भाइयों को सुनाया। जब यह बात बुद्ध के दृष्टिपथ में लाई गई, उन्होंने उस अपराधी भिक्षु को डांटा, और यह नियम बताया कि यदि कोई भिक्षु व्यभिचार करेगा, तो वह पाराजिक का अपराधी होगा, और इस प्रकार से भिक्षु बनने के लिए अयोग्य होगा। पातिमोक्ख का यह प्रथम नियम है।

जैसा ऊपर बताया जा चुका है, त्येक नियम बुद्ध ने भिक्षुओं के दोषों को लेकर बनाया। ऐसे अपराधों की कहानियाँ, प्रत्यक्ष घटित घटनाएँ न होकर, भाष्यकार की मनघढ़ंत उदाहरण कथाएँ । इन नियमों की शब्दावली पर जो कुछ टीका-टिप्पणी हुई है, उसे यदि छोड़ भी दें, फिर भी कई वाद-विवाद इन बातों पर हैं कि स्त्री किसे कहते हैं, यदि स्त्री पुरुष रूप में या पुरुष स्त्री रूप में बदल जाए तो क्या हो,[1]

---

१. इस मनोरंजक समस्या पर पढ़ें, पी० वी० बापट का "बौद्ध साहित्य में यौन परिवर्तन" शीर्षक निबन्ध, जो कि अखिल भारतीय ओरिएंटल कांफ्रेंस के १८वें अधिवेशन की पालि तथा बौद्ध शाखा में पढ़ा गया था। उस अधिवेशन के निबन्धों का सारांश पढ़िए और डा० एस० के० बेलवलकर अभिनन्दन ग्रन्थ भी पढ़िए।

तथा योनाचार के विविध प्रकार और सम्बद्ध विषय। जो यौन विलास इन नियमों के भीतर नहीं आते उनकी भी चर्चा है।

दूसरा नियम चोरी के बारे में है, जिसके अनुसार भिक्षुओं की बिरादरी से, जो अपराधी थे, उन्हें निष्कासित किया जाता था। यह विषय एक कुम्हार के लड़के धनिय नामक भिक्षु की कहानी के रूप में लाया गया है, जिसने एक विहार बनाने के लिए बिना किसी की अनुमति के लकड़ियाँ जमा कर ली थीं। इस नियम पर भाष्य करते हुए, भाष्यकार ने वस्तु और चोरी दोनों शब्दों की परिभाषा दी है। अन्त में उसने बताया है कि इस नियम के अन्तर्गत जो वस्तुएँ नहीं आतीं, उनके ग्रहण के क्या क्या रूप हैं?

पाराजिक के अन्य दो नियम भी इसी प्रकार से विवेचित किए गए हैं। विनय-पिटक के तीसरे खण्ड के १०९ पृष्ठ इनसे भरे हैं।

संघादिसेस का प्रथम नियम सावत्थी में लिखा गया, जिसमें एक सेटयसक नामक भिक्षु ने आत्म-विडम्बना की। भाष्यकार वे अगणित प्रकार बतलाता है, जिनके द्वारा ऐसी बातें की जाती हैं, और कौनसी बातें इस नियम के अन्तर्गत आती हैं और किन बातों को छूट दी जाए।

संघादिसेस का दूसरा नियम यह है कि भिक्षु को कभी भी किसी स्त्री के निकट सम्पर्क में नहीं आना चाहिए। यह नियम सावत्थी में शुरू हुआ, जहाँ कि निकट के एक वन में एक उदायी नामक भिक्षु रहता था, जिसने विहार में एक ब्राह्मणी को छुआ था।

भाष्यकार पहले कई प्रश्न उपस्थित करता है, "ऐसा जानबूझकर स्पर्श किया गया, या सहज संयोगवश वह हुआ?" "वास्तव में स्पर्श क्या है", और इस के अन्त में यह कथन है कि अपनी माता, बहिन या कन्या के साथ ऐसा स्पर्श इस नियम के अन्तर्गत नहीं आता।

बाद के तीन नियमों का कारण वही भिक्षु बताया गया है। भाष्यकार कई प्रकार की लड़कियाँ और पत्नियाँ विचार में लेता है, और कई परिस्थितियों का विचार करता है, जिनके अनुसार इन नियमों के भीतर भिक्षु पाप करता है, और अपवाद कौन से हैं यह भी वर्णित करता है। शेष सभी नियम इसी प्रकार से समझाए गए हैं, उन पर टिप्पणी की गई है और वे विशद किए गए हैं।

निस्सग्गिय-पाचित्तिय शाखा पर टिप्पणी करते हुए, भाष्यकार का उत्साह बहुत कुछ कम हो गया है। वह ऐसे विशेष उदाहरण नहीं देता जो कि इन नियमों के भीतर आ सकें या न आ सकें। जिन अपवादों की अनुमति दी गई

है, वे बहुत व्यापक शब्दों में लिखे गए हैं। उदाहरणार्थ, यदि कोई भिक्षु ऐसा हो कि उसका दिमाग दुरूस्त न हो, या उसने संघ में प्रथम वार अपराध किया हो, या परिस्थितियाँ ऐसी हों कि नियम का खण्डन अनिवार्य हो, तब उसे इन नियमों के खण्डन का अपराधी न माना जाए।

पाचित्तिय के ९२ नियमों पर भाष्य हत्थक नामक एक शाक्य भिक्षु के वृत्तान्त से शुरू होता है। उसने नास्तिकों के साथ वाद-विवाद में जान-बूझकर झूठी बातें कहीं। इससे बुद्ध ने यह नियम कर दिया कि जो कोई भी जानबूझ कर मिथ्या बोले वह पाचित्तिय का अपराधी होगा। भाष्यकार विवरण देता है कि किन परिस्थितियों में अपराध सिद्ध होता है। दूसरा नियम छब्बग्गिय भिक्षुओं द्वारा पैदा हुआ, जिन्होंने अन्य भिक्षुओं के प्रति निन्दा वचन कहे थे। ऐसे निन्दा वचनों का कैसा बुरा परिणाम होता है, यह भाष्यकार प्रमाणित करता है, एक नन्दिविसाल नामक बैल की कहानी देकर। वह यह भी बताता है कि कौन से शब्द अनादरसूचक हैं और कौन से नहीं हैं। कई जातियों, पेशों और गुणों का उल्लेख आता है, जिनके आधार पर जनसाधारण की दृष्टि में भिक्षु उच्च या नीच माने जाते थे।

पाटिदेसनीय के चार नियम और सेखिय के ७५ नियम ऐसे हैं कि उन पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है, और लड़ाइयाँ तय करने के सात तरीके बिना किसी टिप्पणी के छोड़ दिए गए हैं।

(३) भिक्खुणी-विभंग—भिक्खुणी-विभंग में सात तरह के अपराध बताए गए हैं। उनमें पाराजिका से अधिकरणसमथ तक सब आते हैं और उनकी गम्भीरता के अनुसार वे सूचीबद्ध किए गए हैं।

पाराजिका के प्रथम विभाग में, भिक्खु-पातिमोक्ख में बताए चार नियमों के अलावा चार और नियम दिए गए हैं। पाँचवें नियम के अनुसार "कोई भी भिक्षुणी जिसका वासना-युक्त मन हो, पुरुष के शरीर के मध्य भाग को न छुए, उसे न मले।" इस नियम पर भाष्य करते हुए भाष्यकार साल्ह नामक मिगार के पोते की कहानी देता है, जिसे युवती सुन्दरीनन्दा भिक्षुणी मिली, और कैसे उसने उसे उपर्युक्त अपराध के लिए प्रेरित किया। इसके बाद नियम की भाषा पर विवरणयुक्त टिप्पणी दी गई है, परन्तु यह नहीं बतलाया गया है कि कौन से उदाहरण इस नियम के अन्तर्गत आते हैं और कौन से नहीं आते। भाष्यकार केवल अपवादात्मक उदाहरण, सदा की तरह देते हैं। इसी प्रकार से अन्य तीन नियमों पर भी भाष्य हैं।

दूसरे खण्ड में या संघादिसेस में, भिक्खु-पातिमोक्ख से सात नियम लिए गए हैं। अन्य दस भिक्खुनियों के संघ के लिए विशेष रूप से दिए गए हैं। पहले नियम के अनुसार 'भिक्षुणी सदा कानूनी प्रतिवादों से दूर रहे'। एक सामान्य श्रद्धालु ने, अपने मृत्युपत्र में अपनी सम्पदा का हिस्सा एक भिक्षुणी-संघ को दे दिया था और इससे यह समस्या उत्पन्न हुई थी। इस पर शंका की गई और वोहारिकमहामत्त के सामने सारी समस्या रखी गई और निर्णय माँगा गया। दूसरे नियम के अनुसार किसी भिक्षुणी को अगर किसी चोरी की जानकारी हो तो वह उसे योग्य अधिकारियों को बता देनी चाहिए। वह योग्य अधिकारीगण हैं : राजा, संघ, गण, पूग, और सेणि। अन्य आठ नियमों के अनुसार भिक्षुणियाँ अकेली न घूमें, पुरुषों के सम्पर्क में न आवें, आपस में न लड़ें और त्रिरत्न के प्रति अनादर न दिखाएँ। भाष्य नियमों के शब्दों तक सीमित हैं।

तीसरे खण्ड, निस्सग्गिय-पाचित्तिय के तीस नियमों में से, अट्ठारह भिक्खुपातिमोक्ख से लिए गए हैं। पहले में कुछ भिक्षुणियों की आदत का उल्लेख है, जो भिक्षा-पात्र जमा करती थीं। भाष्यकार विभिन्न प्रकार के भिक्षापात्रों का वर्णन करते हैं और लिखते हैं कि ऐसे अपराध न करने के लिए भिक्षुणी को क्या करना चाहिए। अगले नियम के अनुसार कपड़ों के वितरण में जो अनियमितताएँ हों उनका वर्णन है। बाद के आठ नियमों में बताया गया है कि अपनी आवश्यकताओं के अनुसार ही भिक्षुणियाँ क्या विशेष वस्तुएँ लें। ग्यारहवें और बारहवें नियम के अनुसार भिक्षुणी कोई ऊनी कपड़ा न माँगे जो चार कंसों से अधिक कीमत का हो। चार कंस सोलह कहापण के बराबर थे। खोमा कपड़ा ढाई कंस या दस कहापण से अधिक मूल्य का न लिया जाए।

पाचित्तिय के चौथे अध्याय में, भाष्यकार १६६ नियमों में से ९६ पर भाष्य करता है। स्त्रियोचित अपराधों के बारे में ये नियम हैं। पाटिदेसनीय नामक पाँचवें अध्याय में भिक्षुणियाँ शुद्ध किया हुआ मक्खन, तेल, मधु, गुड़, मछली, मांस, औटाया हुआ दूध और दही न लें, ऐसा विधान है।

छठे और सातवें खण्ड, जिनके नाम सेखिय और अधिकरणसमथ हैं, भिक्खु-पातिमोक्ख से लिए गए हैं।

(४) खंधक—इन के दो विभाग हैं : महावग्ग और चुल्लवग्ग। इन दो भागों में जिन विषयों का वर्णन है, उनमें स्पष्ट अन्तर नहीं है, कोई उचित क्रम भी नहीं है। इसलिए यहाँ दोनों की वस्तु एक साथ दी जा रही है, जिससे पाठक कुछ कल्पना कर सकें।

काश्मीर में गिलगित में जो पाण्डुलिपियाँ मिली हैं, उनमें मूल-सर्वास्तिवादियों के विनय-पिटक का एक भाग पाया गया है। यह प्रकाशित किया गया है और इससे विनय-पिटक के विकास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इस पाण्डुलिपि में अध्यायों का क्रम इस प्रकार से है :—

(१) प्रव्रज्या (२) पोषध (३) पवारण (४) वर्षा और (५) चर्म (६) भैषज्य (७) चीवर (८) कठिन (९) कोशाम्बक और (१०) कर्म (११) पाण्डुलोहितक (१२) पुद्गल (१३) पारिवासिक (१४) पोषधस्थापन (१५) शयनासन (१६) संघभेद। देवदत्त को संघभेदवस्तु का प्रमुख पात्र बतलाकर बुद्ध की जीवनी उसमें दी गई है। राजपुत्र सिद्धार्थ द्वारा देखी हुई मनुष्य की चार अवस्थाओं का वर्णन देकर कपिलवस्तु में बुद्ध के जाने तक यह कहानी दी गई है। कपिलवस्तु में शाक्य तरुणों का बौद्ध दीक्षा लेना दिखाया गया है। इन्हीं में देवदत्त भी एक थे। पालि विनय-पिटक में, यह जीवनी महावग्ग के आरम्भ में दी गई है। जबकि शाक्य तरुणों की बौद्ध दीक्षा का प्रसंग चुल्लवग्ग में सातवें अध्याय में दिया है। पालि और संस्कृत मूल ग्रन्थों की तुलना करने पर यह जान पड़ेगा कि दोनों पाठों के संकलकों ने किसी पुराने आधार ग्रन्थ को सामने रखा था, और बाद में विवरण और वृत्तान्त में मनचाहे परिवर्तन उन्होंने किए। जहाँ तक मुख्य घटनाओं का प्रश्न है, दोनों एक सी परम्पराओं और अनुशासन-नियमों को सुरक्षित रखते हैं। केवल अन्तर इतना ही है कि संस्कृत पाठ में कहानियाँ और उपकथाएँ विस्तार से दी गई हैं, पालि पाठ में जहाँ तक हुआ, उन्हें दूर रखा गया है।

महावग्ग बौद्ध संघ के विकास का इतिहास है। बुद्ध ने जब नीरंजना तट पर सम्बोधि प्राप्त की तब से यह कहानी यश और उसके ५४ मित्रों के दीक्षाग्रहण तक जाती है। इन ५४ मित्रों में विमल, सुबाहु, पुण्ण जी और गवम्पति भी थे, जो विभिन्न दिशाओं में धर्म के प्रचार के लिए भेजे गए। फिर भी ये युवक, अशिक्षित धर्म-प्रचारक यह निश्चय नहीं कर सके कि संघ में किस तरह के व्यक्तियों को लिया जाये। उनके निर्देशन के लिए बुद्ध ने जैसे-जैसे आवश्यकता जान पड़ी वड़े नियम बनाए।

उपोसथ (पोषध) नामक दूसरा अध्याय पन्द्रह दिन में जुटने वाली एक बैठक के बारे में है। यदि कोई व्यक्ति गम्भीर अपराध का दोषी होता था, तो उसे इस समिति में नहीं रहने दिया जाता था। चुल्लवग्ग के नौवें अध्याय में पाति-मोक्ख-थापनम नामक उपशीर्षक से इसका विचार किया गया है। इन बैठकों का एक नियम यह था कि एक देहात में रहने वाले सारे भिक्षुओं को एक विशेष विहार में जो सभा

होती थी, उसमें उपस्थित रहना होता था। अगर कोई भिक्षु बीमार हो तो वह अपने स्थान पर दूसरे भिक्षु को भेजे। वह दूसरा भिक्षु उसके दोषों की क्रिया या अक्रिया को घोषित करे। इस मामले में ग्राम-सीमा की परिभाषा दी जाती थी, इसलिए ऐसी सीमाओं के निर्धारण के बहुत कड़े नियम बनाए गए थे, और ये निश्चय संघ की विशेष औपचारिक सभा में सबकी जानकारी के लिए तीन बार घोषित किए जाते और सर्वसम्मति से पारित किए जाते।

तीसरे-चौथे अध्याय में वर्षाकाल में भिक्षु के आवास के विषय में और वस्सावास के अन्त में जो उत्सव किए जाते थे उनके बारे में नियम हैं। भिक्षुओं को सदा चलते-फिरते रहने की, यात्रा करने की आज्ञा थी। क्योंकि यदि वे एक स्थान पर रहते तो शायद अधिक अपराध करते। परन्तु वर्षा के तीन मास में भिक्षुओं को एक ही स्थान पर रहने का आदेश था। इसके कई कारण थे। वस्सावास का नियम जैन और अन्य व्यक्ति भी मानते थे। कभी-कभी ऐसी भी आवश्यकता आन पड़ती थी कि भिक्षु को अपने आवास की सीमा के बाहर उपस्थित रहना पड़ता था। इस कारण से सप्ताह में एक बार भिक्षु बाहर जा सकते थे। कहीं भिक्षु इस नियम का दुरुपयोग न करें इसके लिए विशेष रूप से कारण बताए गए हैं। इस अध्याय के अन्त में वे अपवादात्मक स्थितियाँ भी वर्णित की गई हैं, जिनसे सुनिश्चित समय से पूर्व वस्सावास समाप्त करने की अनुमति दी जा सकती है।

वस्सावास में, भिक्षुओं को एक साथ मिलजुल कर रहना और अनुशासन के नियम मानना आवश्यक था। यह सर्वदा सम्भव नहीं होता था। तब आचार्य बतलाते थे कि वस्सावास के अन्त में भिक्षु परिषद में उपस्थित और अपने अपराध सबके सामने कहें। इसमें भी वही सब औपचारिक नियम मानने पड़ते थे, जो उपोसथ उत्सव के लिए होते थे। इस समिति को पवारण कहते थे। ऐसी कई अनियमितताओं के उदाहरण हैं, जहाँ आचार्य ने पवारण के लिए कई नियम बनाए।

पवारण उत्सव का एक भाग था अन्तिम दिन जमा किए गए चीवरों का वितरण। पवारण के दिन, जनसाधारण वहाँ रहने वाले भिक्षुओं को बिना सिला हुआ कपड़ा दान में देते थे। यह संघ का विधान था कि ऐसे दान मिलने पर भिक्षुओं को एकत्र होना चाहिए और घोषित करना चाहिए कि वे कठिन उत्सव करने जा रहे हैं। इस उत्सव का मूल उद्देश्य यह था कि कुछ भिक्षुओं को चीवरों के काटने, सीने, रंगने का काम बाँटा जाय। कपड़े तैयार हो जाने पर सब भिक्षुओं में वे बाँट दिये जाते थे। फिर भी कुछ ऐसे लोग रह जाते, जो झूठ बोलकर कपड़े ले लेते थे। उनको रोकने के लिए विशेष नियम बनाये गये।

पाँचवें अध्याय की शुरुआत सोण कोलिविस नामक एक धनिक-पुत्र की कहानी से होती है। उसका शरीर इतना कोमल था कि उसके पैरों के तलुओं पर भी बाल उगते। उसे स्वयं बुद्ध ने प्रव्रज्या दी थी। भिक्षु बनने पर धार्मिक विधियों में वह नंगे पैर घूमता था। उसके पैरों से खून निकल आता और जहाँ चलता वहाँ खून के दाग पड़ जाते। बुद्ध ने उसे जूते पहनने की अनुमति दी पर यह भी कहा कि भिक्षु के नाते यह उचित नहीं है। इसका परिणाम यह हुआ कि बुद्ध को सब भिक्षुओं को जूते पहनने देने की अनुमति देनी पड़ी, और वे जूते कैसे हों यह भी निश्चित कर दिया गया।

छठे अध्याय में बीमार भिक्षु-भिक्षुणियों को कौनसी दवाएँ दी जा सकती हैं, इसका ब्यौरा है। इसमें बताया गया है कि प्रसिद्ध वैद्य जीवक के कहने पर बुद्ध ने बीमार भिक्षुओं को सब प्रकार की औषधियाँ और शल्य-चिकित्सा से लाभ उठाने का आदेश दिया। इस अध्याय में उस काल की शल्य क्रियाओं, उसके लिए आवश्यक उपकरणों, दवाइयों और उनके बनाने की विधियों, पात्रों, दवा के भंडारों और अन्त में गरम स्नानों और फलों, फल के रसों, दूध की बनी चीज़ों और कभी-कभी मांस के शोरबे का भी निदान रूप में वर्णन दिया गया है। इसमें जीवक की शल्य-विद्या और चिकित्सा विषयक कुशलता का उल्लेख है। महापरिनिब्बाण-सुत्त से अक्षर शः लिया गया बुद्ध के पाटलिगाम जाने का वर्णन भी इसमें है।

धीरे-धीरे भिक्षुओं को न केवल रोगोपचार संबंधी सुविधाएँ ही, परन्तु चुल्लवग्ग में बताई गई और कई प्रकार की जीवन की सुख-सुविधाएँ भी दी गईं।

विहारों के विस्तार से वर्णन चुल्लवग्ग के छठे अध्याय में आते हैं, जो जन-साधारण द्वारा भनुर्दिक् से आने वाले भिक्षुओं के लिए विशेष रूप से विहार बनाये जाते थे। उनके दरवाज़े कैसे हों, खिड़कियाँ कैसी हों, और क्या-क्या सुविधाएँ हों, यह सब बताया गया है। नवकम्मिक नामक भिक्षु ने इन विनय-नियमों के आधार पर बनाये विहारों का निर्माण-निरीक्षण किया। इन विहारों में विशेष प्रकार की पीठिकाएँ, आसंदियाँ और शय्याएँ थीं। इस प्रसंग में जेतवन विहार के दान की कहानी दी गई है और बताया गया है कि अनाथपिंडिक बुद्ध से राजगृह में कैसे मिला और उसका शिष्य बन गया।

चुल्लवग्ग के पाँचवें अध्याय में स्नान, भिक्षा-पात्र, कर्तरिकाएँ और सूइयाँ, कमरबंद, मूत्रालय, भिक्षापात्र ले जाने के लिए कपड़ों के झोले, जूते, बाल काटना आदि बातों का उल्लेख है। यह भी लिखा गया है कि भिक्षुओं को गाथाएँ ज़ोर से नहीं गानी चाहिएँ, और न अपनी चमत्कारों की शक्ति का प्रदर्शन करना

चाहिए, और जो जनसाधारण त्रिरत्न के प्रति पर्याप्त आदर न दिखाये उनके यहाँ भिक्षापात्र उलटा कर देना चाहिए, यानी भिक्षा ग्रहण नहीं करनी चाहिए।

महावग्ग के अंतिम दो अध्याय धार्मिक कृत्यों में अनियमितताओं को लेकर हैं। विशेष धार्मिक कृत्यों के लिए भिक्षुओं की कम से कम संख्या निश्चित की गई है।

चुल्लवग्ग महावग्ग का ही आगे का हिस्सा है। इसलिए उसमें पहले चार अध्यायों में विनयपिटक में दी गई विविध सज़ाएँ दी गई हैं और यह भी नियम दिये गये हैं कि दंड भोगने के समय भिक्षुओं को कैसे व्यवहार करना चाहिए।

आठवें अध्याय में यह बताया गया है कि विहार में रहने वाले भिक्षु अन्य स्थानों से या जंगलों से आने वाले भिक्षुओं का कैसे आदरातिथ्य करें और उनकी सुख-सुविधाओं का ध्यान रखें।

सातवें अध्याय में बुद्ध के जीवनकाल में संघ में फूट डालने वाले झगड़े कैसे पैदा हो गये थे, उनका विवरण है। बुद्ध के एक शाक्य कुटुम्बी देवदत्त ने इन विरोधियों का नेतृत्व किया था। इसलिए इस अध्याय में अनुरुद्ध, भद्दिय, शाक्य-राज, आनंद, भगु, किंबिल और देवदत्त तथा उनके नाई उपालि जैसे शाक्य तरुणों के बौद्ध दीक्षा ग्रहण का भी वृत्तांत दिया गया है।

देवदत्त ने अजातशत्रु से मिलकर बुद्ध का वध करने के लिए गुण्डों के एक दल को किराए पर रखा। एक बार पत्थर से, और दूसरी बार हाथी से बुद्ध के प्राण लेने का यत्न किया। अन्त में देवदत्त को कुछ मित्र मिले और उन सबने मिलकर यह माँग की कि सब भिक्षुओं के लिए निम्न पाँच नियम अनिवार्य बना दिये जायँ— (१) भिक्षु जंगलों में रहें, (२) भिक्षा पर जीविका करें (३) चिथियों के कपड़े पहनें, (४) पेड़ के नीचे रहें, छत के नीचे नहीं और (५) कभी मांस या मछली न खाएँ। देवदत्त की माँग जब बुद्ध द्वारा अस्वीकृत की गई, तब देवदत्त ने वेसाली के वज्जिपुत्तक भिक्षुओं का एक अपना दल बनाया। अध्याय के अंत में संघ और संघभेद की स्थिति पर एक विशेष टिप्पणी दी गई है।

दसवें अध्याय में भिक्षुणी-संघ की स्थापना की कथा है। महाप्रजापति गौतमी ने उसकी आवश्यकता अनुभव की थी, आनंद ने उसके लिए मध्यस्थ का कार्य किया। बुद्ध ने बहुत अनिच्छापूर्वक इस संघ की स्थापना की अनुमति दी और भिक्षुणियों के लिए आठ गरुधम्मा बताये। पहले तो बुद्ध ने कहा कि भिक्षुणियाँ अपने सब धार्मिक कार्यों के लिए भिक्षुओं पर अवलंबित रहें। विनय और धम्म की शिक्षा भी वे भिक्षुओं से प्राप्त करें। परन्तु यह पाया गया कि कभी-कभी वे भिक्षु

विवेक और समझदारी से काम नहीं लेते थे। इस कारण से बुद्ध को यह आदेश देना पड़ा कि भिक्षुणियाँ अपने धार्मिक कार्य स्वयं करें और उनके लिए नियम प्रथित किये गये। स्त्री जाति के वेश, केश, भूषा, शय्या, आसन-विषयक विलास प्रियता और क्रीडाप्रियता को रोकने के विस्तारपूर्वक नियम इस अध्याय में दिये गये हैं।

अंतिम दो अध्यायों में राजगृह की सत्तपण्णिगुहा और वेसाली के वालिकाराम में जो प्रथम दो बौद्ध संगीतियाँ जुटी थीं उनका विस्तृत वर्णन है। वस्तुतः ये अध्याय चुल्लवग्ग का भाग नहीं होने चाहिएँ थे। प्रथम दो संगीतियों का प्रधान उद्देश्य था बुद्ध के वचनों का अधिकृत संग्रह करना। महाकस्सप उसके सभापति थे। आनंद ने बुद्ध के दिये प्रवचन पढ़े और उपालि ने बुद्ध द्वारा बनाये शासन के नियम पढ़े। यह संग्रह कुछ अपवाद छोड़ कर सभी भिक्षुओं ने मान लिया। दूसरी संगीति सौ वर्ष बाद जुटी। उसका मुख्य उद्देश्य था, वेसाली के वज्जिपुत्तकों ने कुछ अनुशासन-नियमों की जो अवहेलना की थी, और जिन्हें वे नियमबद्ध सिद्ध करना चाहते थे, उन्हें रोकना। आठ भिक्षुओं की उपसमिति ने इन आचरणों को अनियमित घोषित किया। इन आठ में से चार तो पश्चिमी प्रदेशों के कट्टर पुराणमतवादी भिक्षुओं में से चुने गये थे और चार पूर्वी प्रदेशों के विद्रोही भिक्षुओं के दल में से। इस समिति के सभी निर्णय सब भिक्षुओं ने एकमत होकर नहीं माने, और एक नया पंथ, जिसे कि महासंघिक कहा जाता है, अस्तित्व में आया।

छठा अध्याय

बौद्ध शिक्षण

शिक्षण राज्य द्वारा दिया जाए, या शिक्षण राज्य का एक कर्तव्य या विहित कर्म है, यह एकदम आधुनिक विचार है। यूरोप में प्राचीन काल में, यह काम ईसाई गिरजे करते थे। भारत में यह कार्य विविध धर्मपंथों और संस्थाओं का था कि वे अपनी शिक्षा-पद्धतियाँ बनायें और चलायें। इनमें ब्राह्मण पद्धति सबसे पुरानी है। यह शिक्षण-परम्परा वैदिक काल से आज तक चली आ रही है। इसमें एक गुरु और उसके थोड़े से शिष्यों का दल मुख्य था। इसे गुरुगृह कहते थे। बौद्ध पद्धति की परम्परा विहारों की है। उसकी पूर्ति भिक्षु-जीवन से सम्बद्ध है।

दोनों का अन्तर स्पष्ट है। इससे दो प्रकार की विकास-रेखाएँ निकलीं। प्रो० मुखर्जी लिखते हैं कि "ब्राह्मण पद्धति में गार्हस्थ्य के वातावरण की आवश्यकता होने से गुरुगृह विस्तृत बन कर बड़े विश्वविद्यालयों का रूप न ले सके। बौद्ध पद्धति में शिक्षण कई शिक्षकों के सांघिक स्वामित्व की संस्था बन गया।" इसीलिए बौद्ध पद्धति में बड़े-बड़े विहार-विश्वविद्यालय निर्मित हो सके, जिनमें हज़ारों अध्यापक और विद्यार्थी एक साथ रह सकते थे। बौद्ध-धर्म की अन्तिम तीन-चार शतियों में ये विश्वविद्यालय सारे एशिया में विख्यात हो गए और इस महाद्वीप के विविध भागों से विद्यार्थी आकर्शित होकर उनमें आने लगे। बाद के विश्वविद्यालय, जैसे नालन्दा, वलभी, विक्रमशिला (विक्रमशीला), जगद्दल और ओदन्तपुरी, डेढ़ हज़ार वर्षों तक जो विकास होता आ रहा था उसकी अन्तिम अवस्था व्यक्त करते हैं। इसका इतिहास हमें शतियों में बिखरे और कभी कभी मिलने वाले कुछ प्राचीन बौद्ध-धर्मग्रन्थों से मिलता है, और फिर कई शताब्दियों की खाई पार करके, चीनी और तिब्बती स्रोतों से। कभी, बड़ी मुश्किल से कहीं किसी हस्तलिखित ग्रन्थ का तिथि-क्रमोल्लेख, विशेषतः चीनी और तिब्बती लिपि में, कुछ जानकारी दे जाता है और यह रहस्य अंशतः प्रकाशित होता है। अतः, बौद्ध शिक्षण का पूरा इतिहास दे सकना सम्भव नहीं, परन्तु कुछ मोटी-मोटी विकास-रेखाएँ मात्र दी जा सकती हैं।

वस्तुतः बौद्ध शिक्षण का इतिहास बौद्ध मठ-विहारों और भिक्षु-संघों के इतिहास का ही एक पक्ष है। इसमें इन विहारों के भीतर के बौद्धिक जीवन की प्रक्रिया व्यक्त होती है—इस जीवन की क्रमशः प्रगतिपरक समृद्धि की, उसके शतियों तक विस्तृत और उदार प्रभाव की, उसके विकसित होने और फैलने की। भिक्षु के लिए प्रशिक्षण की पद्धति से आरम्भ होकर, नई बौद्धिक आवश्यकताओं और रुचियों के अनुसार उसका क्षेत्र और उद्देश्य बढ़ता गया। उसे नए मानसिक क्षितिज प्राप्त होते गए। अन्ततः, विहार एक ऐसी जगह बन गए जो केवल मठबद्ध मनन और धर्मचिन्तन के स्थान ही नहीं अपितु संस्कृति और ज्ञान की पीठ बन गए। उनमें से कुछ विश्वविद्यालय हो गए। परन्तु यह इतिहास, जो वेदोत्तर प्राचीन भारत के सारे कालखण्ड में फैला है, सहसा ईसा की बारहवीं शती में आकर रुक जाता है, एकदम बन्द हो जाता है। इस लम्बी कहानी की समाप्ति पूर्वी भारत (बंगाल और बिहार) में बख्त्यार खिलजी के विजय-अभियानों के साथ होती है।

आरम्भ

भिक्षु-प्रशिक्षण

जब बौद्धों ने मठों में सन्यस्त जीवन बिताने का निश्चय किया, प्रायः ईसा-पूर्व चौथी शती में, तब यह प्रश्न उठा कि जो नया दीक्षित है और जिसने मठ में प्रवेश किया है, उसे क्या शिक्षण दिया जाए। इसे निस्सय पद्धति कहते थे। इसका अक्षरशः अर्थ है शिक्षक पर निर्भर रहना। निस्सय काल शिक्षा ग्रहण करने का काल था और पूरे भिक्षु बनने के पहले की स्थिति का द्योतक था। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसे ब्रह्मचर्य कहा गया है। यह एक ऐसी पद्धति थी कि जिसमें साम्प्रदायिक मठजीवन के भीतर बुद्ध-पूर्व गुरुगृह पद्धति का ही अनुकरण था। विद्वान, योग्य व्यक्ति जो मठ में प्रवेश करता, पाँच वर्ष तक निस्सय में रहता था, जब कि दूसरा कोई व्यक्ति आजीवन निस्सय में रहता था। नव-दीक्षित को एक आध्यात्मिक निर्देशक मिलता था, जिसे उपज्झाय कहते थे, और एक व्यवस्थित पाठ पढ़ाने वाला भी जिसे आचार्य कहा जाता था, और जो कम से कम दस वर्ष तक भिक्षु रहा होता था।

जिस काल-खण्ड की हम चर्चा कर रहे हैं, उसमें आधुनिक अर्थ में साक्षरता नहीं हुआ करती थी, और सारी पढ़ाई मौखिक परम्परा से श्रवण और स्मरण, या सुनने और दुहराने-रटने से होती थी। विनय-पिटक में भिक्षु को कौन-कौन सी वस्तुएँ अपने साथ में रखनी चाहिएँ, इनका जो उल्लेख है, उसमें कहीं भी किसी हस्तलिखित ग्रन्थ या लेखन-सामग्री का उल्लेख नहीं है।

इससे सिद्ध होता है कि तब लिखने पढ़ने की पद्धति नहीं थी। वस्तुतः पुस्तक लेखन, राजकीय कार्यों के लिए छोटे ताम्रपत्र के या धातुपट्ट के लेखों को यदि छोड़ दें, तो बहुत बाद में व्यवहार में लाया गया। शायद ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी से पहले नहीं। भिक्षु आचार्य अपनी छोटी-सी कक्षा बहुत अनौपचारिक ढंग से चलाते थे। मथुरा के प्राच्यवस्तु-संग्रहालय में एक बहुत घिसी हुई जो मूर्ति मिलती है उससे कुछ अनुमान किया जा सकता है। इसमें खुले अकाश के नीचे ज़मीन पर कुछ विद्यार्थी विविध मुद्राओं में बैठे हैं, और उनके सामने गुरु बैठा है जिसके बाएँ हाथ में उसके सिर पर तिरछा उठाया हुआ छाता है।

आचार्य की शिक्षाएँ भी उस समय के भिक्षु-जीवन के लिए आवश्यक ज्ञान से सम्बद्ध रही होंगी—विनय और गाथाएँ, जातक, प्रार्थनाएँ, मूल तत्व और दर्शन। यह शिक्षा बार बार मूल पाठ के सामूहिक रूप से उच्चारण या 'संगीत' यानी एक साथ मिलकर गाने से पक्की की जाती थी। इन सब का उद्देश्य था मूल पाठों को कंठस्थ करना।

जो लिखे हुए धर्मग्रन्थ नहीं थे, और जो नवदीक्षित के शिक्षण का प्रमुख अंग थे, उनके धम्म और विनय, ये दो अंग प्रधान थे। अच्छे विहार में दोनों विषयों के विशेष ज्ञाता थे। उन्हें सुत्तंतिक और विनयधर कहते थे। फिर कुछ विशेष खण्डों के विशेषज्ञ भी होते थे यथा मातिका-धर, जो 'मातिकाएँ' (संग्रादि) जानते थे।

बौद्ध-धर्मग्रन्थों में एक छोटा सा प्रसंग आता है जिससे यह पता चलता है कि आंशिक शिक्षा कितनी निष्ठा से और ईमानदारी से ग्रहण की जाती थी। पवारण विहारों में एक गम्भीर विधि थी। यह वस्सावास के अन्त में होती थी। एक बार यह विधि पूरी नहीं हो सकी, चूँकि पूर्व-रात्रि का अधिकतर समय, बिना नींद लिए हुए, भिक्षुओं ने धम्म-पाठ में बिताया था, सुत्तंतिकों ने सुत्तंत पढ़े थे, विनयधरों ने विनय का शास्त्रार्थ किया था और धम्म-कथिकों ने धम्म की चर्चा की थी।

धम्म-कथिक शब्द विचित्र है। उसे दो अर्थ में प्रयुक्त किया गया है: एक तो धम्म शब्द अपने व्यापक अर्थ में आया है जैसे 'धर्म-चक्र प्रवर्तन' में, और दूसरे, अधिक विशिष्ट अर्थ में। कथा शब्द, धर्म के सिद्धान्तों पर विशेष व्याख्यान या वादविवाद के अर्थ में प्रयुक्त होता था, यथा कथा-वस्तु, अभिधम्म-कथा आदि।

आरम्भिक काल में भिक्षु के प्रशिक्षण में इन कथाओं का बड़ा महत्त्व था। इन्हीं में से आगे एक पद्धति विकसित हुई। उसी को अभिधम्म कहते हैं। अभिधम्म-पिटक में इन कथाओं का सार ग्रथित है। यह सब कुछ मन का एकांगी

व्यापार नहीं था। एक ओर शिक्षक के लिए ऐसा होना ज़रूरी था कि जो "विद्यार्थी को धर्म और विनय की सब बातें समझाए, धर्म के अनुसार शास्त्रार्थ करे और कराए, गलत सिद्धान्त कौन से हैं यह बताए", दूसरी ओर, विद्यार्थी के लिए भी कहा गया है कि वह "वादविवाद पटु हो, और शिक्षक यदि कोई गलत सिद्धान्त ग्रहण करे या औरों को ग्रहण कराए तो उसका विरोध करे।"

विनय-पिटक में, आरम्भिक शिक्षा जैसी होती थी उसकी रूपरेखा दी गई है। यह शिक्षा केवल बौद्ध दीक्षा ग्रहण करने वालों के लिए थी। यह परम्परा से चली आ रही, मठ-विहार तक सीमित शिक्षण-पद्धति बहुत मर्यादित थी। केवल एक खुली राह इसमें थी।

वादविवाद, शास्त्रार्थ, खण्डन की अत्यधिक स्वतंत्रता प्रत्येक भिक्षु को इन विहारों में दी गई थी। प्रत्येक व्यक्ति अपने आप सोचे, विचार करे, तर्क करे, किसी निश्चय पर पहुँचे—सब मामलों में, चाहे वे धम्म के हों या विनय के। संघ के सामने औपचारिक रूप से अपने मतभेद रखने की पद्धति के विनय बने हुए थे। परन्तु संघ का अन्तिम निर्णय भी, जो कि संघ में मतदान (शलाका) की बहुसंख्या से निश्चित किया जाता था, व्यक्तिगत मत-विश्वास को कुण्ठित नहीं करता था। जो लोग भिन्न मत रखते थे, उन्हें अपना दल बनाने की अनुमति दी जाती थी। मठ और विहार के जीवन में इस प्रकार की सुविधा विचार स्वातन्त्र्य बढ़ाने में और उसे तीक्ष्णतर बनाने में जहाँ सहायक हुई, वहाँ इसी चीज़ से उन सब विभिन्न सम्प्रदायों और पन्थों का बीज-वपन हुआ, जो कि बौद्ध इतिहास का एक प्रमुख अंग बन गए। इस प्रकार से बौद्ध-धर्म में अगणित पन्थ और उपपन्थ, जिनका आरम्भिक रूप एक नई विचारधारा से या भिक्षु-मन के एक नए आन्दोलन से था, एक साथ समाहित हो गए।

विद्या-पीठों के रूप में विहार

बौद्धिक झुकाव

ऊपर जो भिक्षु की दीक्षापूर्व मानसिक तैयारी की रूपरेखा दी गई है, उसमें इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि वह बौद्धिक दृष्टि से तेज़ बने। ज्यों-ज्यों बौद्ध मठ और विहार केवल आध्यात्मिक संस्कृति के रक्षा-गृह न रह कर, विद्या के केन्द्र बनते गए, यह आग्रह बढ़ता गया। फाहियान और युआन-च्वांग जहाँ अपने यात्रा वृत्तान्तों में कई विहारों में जाने का वर्णन देते हैं, वहीं यह भी लिखते जाते हैं कि अमुक-अमुक मठ या विहार में फलां-फलां विद्वान भिक्षु ने अमुक विशिष्ट ग्रन्थ की

रचना की। यह इस बात का संकेत है कि विहारों के स्वरूप में और नया मोड़ पैदा हुआ। यह घटना शायद ईसा की प्रथम शती या उससे कुछ पहले घटित हुई।

इस विकास के क्या कारण हुए, यह देखने के लिए दूर नहीं जाना होगा। बौद्ध-धर्म अन्य-धर्मियों का धर्म-परिवर्तन करा के अपने अनुयायियों की संख्या वृद्धि चाहता था। दूसरे, बौद्ध विहारों का अस्तित्व राजाश्रय या लोकाश्रय पर था, और इसके लिए मठ-विहारों में रहने वाले भिक्षु-संघ को उस आश्रय के योग्य बनना आवश्यक था।

यह योग्यता सिद्ध करने का एक प्राचीन परम्परा-सम्मत मार्ग था शास्त्रार्थ, पण्डित-सभाएँ या विविध पन्थों के बीच में वादविवाद। कभी ये एक ही धर्म के कई पंथों में होते या दो परस्पर विरोधी धर्मों के प्रतिनिधियों के बीच होते थे। ऐसे शास्त्रार्थों के कई प्रसिद्ध ऐतिहासिक उदाहरण हैं, प्राचीन और नवीन, वैदिक काल में, अशोक के समय में (ईसा पूर्व तीसरी शती), हर्ष काल में (ईसा की सातवीं शती) और बाद में भी। इसी कारण से बौद्ध शिक्षण पद्धति में भी तर्क और न्याय की बारीकी में पारंगतता प्राप्त करने की स्पर्द्धा जगी। उदाहरणार्थ 'सप्तदश-भूमि शास्त्र' नामक ग्रन्थ के पन्द्रहवें खण्ड में मैत्रेय सात अध्यायों में वाद-विवाद कला का वर्णन देता है। यह बौद्ध संस्कृत ग्रन्थ शायद ४०० ईस्वी का होगा। भारतीय तर्कशास्त्र के इतिहास में माध्यमिक न्याय का प्रतिनिधित्व पूर्णतः बौद्ध विद्वान भिक्षुओं द्वारा किया जाता है, जिनकी कृतियाँ भारत में नष्ट हो गईं, परन्तु वे तिब्बत में प्राप्त हुईं और पण्डित एस० सी० विद्याभूषण ने उन्हें इस शताब्दी के आरम्भ में खोज निकाला।

एक महत्त्वपूर्ण बात, जिसके दूरगामी सांस्कृतिक परिणाम हुए, यह थी कि पुराने मठ-शिक्षण के कुंद-ज्ञहन और बन्द रूप का पूर्ण नाश होकर ये विहार धीरे-धीरे विद्यापीठों में परिवर्तित हुए। भिक्षु का अध्ययन केवल बौद्ध-धर्म ग्रन्थों के पठन-पाठन से पूर्ण नहीं होता था। भिक्षुओं को और भी विषय पढ़ाए जाते थे। अन्य धर्मों के सिद्धान्त तथा अन्य दर्शन की पद्धतियाँ, (जो बौद्ध विचारों के अन्तर्गत थे) और कुछ विहारों में तो व्यावहारिक महत्त्व के विषय जैसे खेती और वास्तु-विद्या भी सिखाई जाती थी। ये विद्याएँ विहारों के निर्माण और निर्वहन के लिए आवश्यक थीं। ईसा-पूर्व प्रथम शती के बाद, जब पुस्तक-लेखन प्रचलित हुआ, ग्रन्थों का संग्रह और सुरक्षा भी विहारों में होने लगी। बाद में नालन्दा और विक्रमशिला जैसे विश्वविद्यालयों के हस्तलिखित ग्रन्थों के विशाल संग्रहालय इसी प्रकार से बने।

परन्तु ये विद्यापीठ अपना संन्यस्त रूप बराबर बनाए हुए थे। वहाँ रहने वाले विद्यार्थियों को मठ और विहारों के विरक्त जीवन के सब नियम पालने पड़ते थे। चीनी यात्रियों के वर्णन से जान पड़ता है कि इन विद्यालयों में विविध बौद्ध पन्थों के भिक्षुओं के प्रवेश तक ही विद्यार्थियों की संख्या सीमित नहीं थी, परन्तु कई अदीक्षित बौद्ध विद्या-जिज्ञासु, बुद्धेतर मुमुक्षु भी वहाँ प्रवेश पा सकते थे। उन्हें माणव और ब्रह्मचारी कहते थे। एक मठ में रहने और सीखने के एक साथ लाभ के लिए उस समय किसी प्रकार के पैसे देने का प्रश्न ही नहीं उठ सकता था।

व्यवस्था और अनुदान

राजा लोग और जनसाधारण एक आध्यात्मिक कर्त्तव्य के नाते इन मठों को अनुदान देते थे। जो राजा बौद्ध-धर्म का विकास चाहता, वह किसी एक ग्राम या ग्राम-संघ का सारा लगान अनुदान के रूप में पास के विहार को दे देता। विहार की ज़मीन और इमारतें किसी व्यापारी व्यक्ति या साधारण अमीर भक्तों के दान के रूप में होतीं। इस प्रकार से कई विहार और भिक्षु-गृह समृद्ध बनते गए, उनकी सुन्दर इमारतें और सभागृह बने। उनमें भरे पूरे धान्य-भांडार और बहुत सी स्थावर सम्पत्ति भी जमा हुई। कई मठों का एक ही प्राचीर के बीच संघ बन गया और उनकी एक ही संस्था हो गई।

फाहियान ने वर्णन किया है कि राजा और वैश्यों के अग्रणी भिक्षुओं के लिए जो विहार बनाते उनमें खेत, घर, बगीचे, फलों के उद्यान, पशु इत्यादि वहाँ पास में रहने वाली जनता के सहयोग से, दान में देते। राजा की ओर से विहारों को जो दान-पत्र दिए जाते, "वे धातु की पट्टियों पर खोदे जाते, और वे एक राजा से दूसरे राजा को वंश परम्परा से मिलते। किसी की हिम्मत नहीं थी कि उन्हें वह रद्द कर सकता।" "जब एक राजा एक भिक्षु संघ को कोई दान देता था, तो वह अपना मुकुट उतार कर आदर व्यक्त करता, अपने रिश्तेदारों और मंत्रियों को लेकर, इन भिक्षुओं को अपने हाथों से खिलाता।" "जनता के परिवार इन भिक्षु संघों को सब आवश्यक चीज़ें विपुल मात्रा में देते थे, ताकि कोई कमी या कोताही न रह जाए।" कई मठ, सातवीं शती के अन्त में इतने अमीर हो गए थे कि चीनी यात्री इ-त्सिंग जब उस शताब्दी के अन्त में वहाँ आया, तब उसने उनकी निन्दा-सी की है। वह लिखता है—"यह मठ के लिए उचित नहीं कि वहाँ आवश्यकता से अधिक द्रव्य हो, अन्न-भांडारों में गला हुआ अन्न हो, अगणित स्त्री-पुरुष नौकर-चाकर हों और पैसा इतना संचित हो कि कोष में उसका कोई उपयोग ही न हो।"

चीनी यात्री और उनका साक्ष्य

फाहियान पाँचवीं शती के पूर्वार्द्ध में पाटलिपुत्र के दो विहारों में गया था। ये दोनों उस कालखण्ड में देश के विभिन्न भागों में जो विहार बन रहे थे, उनके नमूने थे। इनमें से एक 'बहुत विशाल और सुन्दर' महायान विहार था, दूसरा हीनयानी था। दोनों में मिला कर छः से सात सौ भिक्षु रहते थे। वह इन दो विहारों के बारे में लिखता है—"वहाँ के आचार-व्यवहार के नियम और विद्यार्थियों के लिए व्यवस्था देखने योग्य है। सब जगह के सबसे अच्छे और योग्य श्रमण, विद्यार्थी और सत्य-जिज्ञासु वहाँ आते थे।"

उनकी शिक्षा पद्धति के रूप ने फाहियान को भी आकर्षित किया था, यद्यपि वह एक धार्मिक तीर्थ-यात्री ही अधिक था। उसके बाद भारत में विद्याप्रेमी और विद्वान युआन-च्वांग आया। इन दो शतियों के बीच में विहारों का शिक्षण-पक्ष बहुत विकसित हो गया था। देश के विभिन्न प्रदेशों से विद्वान लोग वहाँ पुस्तकें लिखने के लिए, अध्ययन करने, सीखने के लिए आते थे। इन विद्यापीठों की कीर्ति दूर के बौद्ध देशों में फैली थी। इसी कारण से विद्वान तीर्थ-यात्री, विशेषतः चीनी, वहाँ खिंचे चले आए और उन्होंने इन महाविहारों के प्रत्यक्ष-दर्शन पर आधारित वृत्तान्त लिखे हैं। ये महाविहार भारत में ऐसे केन्द्रों की तरह थे, जो कि अन्य देशों में बौद्ध संस्कृति और ज्ञान फैलाने वाले प्रकाश-वाहकों का कार्य करते थे।

पूरा उत्तरी और दक्षिणी चीन देश, ५०० ईस्वी तक बौद्ध-धर्म अपना चुका था। फिट्ज़जेराल्ड के शब्दों में—"बौद्ध व्रताचार सर्वत्र पाले जाते थे, मन्दिर और मठ प्रत्येक सूबे में बनाए गए, भिक्षु-भिक्षुणियों की संख्या बहुत थी और उन्हें बहुत आदर दिया जाता था" (शार्ट कल्चरल हिस्ट्री आफ चाइना पृ० २७६)। इस समय चीन में बौद्ध-धर्म में कई ताओ-धर्मी विश्वास और आचार आगए थे और उन्होंने बौद्ध-धर्म के मूल रूप को विकृत कर दिया था। उस युग के चीन के बौद्ध भिक्षु मानते थे कि चीनी बौद्ध-धर्म को सुधारने और शुद्ध करने के लिए बौद्ध-धर्म के मूल देश की ओर जाना चाहिए, मूल ग्रन्थों को जमा करना चाहिए और सही व्रताचार सीखने चाहिएँ। तीर्थ-यात्रा का उद्देश्य तो था ही परन्तु विशेषतः इस उद्देश्य से प्रेरित होकर चीनी तीर्थ-यात्रियों की एक परम्परा सी चल पड़ी, हज़ारों मील रेतीले रेगिस्तान और पर्वत लांघ कर वे यहाँ आए। एक आधुनिक चीनी इतिहासकार प्रो० लिआंग-ची-चाओ के अनुसार, ५वीं, ६ठी, ७वीं और आठवीं शती में कम से कम १६२ तीर्थ-यात्री चीन से भारत में आए, ऐसा चीनी स्रोतों से

पता चलता है। इनमें से केवल तीन व्यक्तियों के ऐतिहासिक अभिलेखों का चीन-विद्याविशारदों ने पूरा अता-पता लगाया है और उनके अनुवाद किए गए हैं। वे तीन हैं—फाहियान ४०५ से ४११ ईस्वी के भारत का, युआन-च्वांग ६२९ से ६४६ ईस्वी के भारत का और इ-त्सिंग ६७१ से ६९५ ईस्वी के भारत का वर्णन देते हैं।

विहार-विश्वविद्यालय

नालन्दा और वलभी

युआन-च्वांग विद्वान महायानी भिक्षु था। भारत-प्रवास के अवसर पर उसने विविध विश्वविद्यालयों में बौद्ध और ब्राह्मण दर्शनों का अध्ययन किया। उसने विशेष रूप से इन दो संस्थाओं का उल्लेख किया है—पूर्व में नालन्दा और पश्चिम में वलभी का। वलभी हीनयानी विद्यालय था। अतः उस ओर उसका इतना ध्यान नहीं गया, परन्तु नालन्दा का बड़ा विवरणपूर्वक वर्णन उसने दिया है, जिसे उसके शिष्य और जीवनी लेखक ह्युई-ली ने और सम्पूर्ण रूप दिया है। नालन्दा में युआन-च्वांग ने, उस संस्था के प्रमुख आचार्य शीलभद्र से पाँच वर्ष तक योग-दर्शन का अध्ययन किया। यह एक बहुत बड़ा विश्वविद्यालय था, वहाँ अध्ययन की कई शालाएँ थीं, व्याख्यान के लिए प्रकोष्ठ थे, ग्रन्थालय थे, व्याख्यानों के लिए प्रवेश और उपस्थिति के नियम थे, अनुशासन के और विद्यार्थियों के व्यवहार के नियम थे, शिक्षण व्यवस्था के विधि-निषेधात्मक नियम थे, नियमों की अवहेलना का पूरा दण्ड विधान था। वह संस्था कितनी बड़ी थी यह इसी से जाना जा सकता है कि युआन-च्वांग के अनुसार वहाँ डेढ़ हज़ार अध्यापक और दस हज़ार विद्यार्थी थे। इ-त्सिंग के समय में यह संख्या घटकर ३००० तक हो गई थी।

यह कहा जाता है कि व्याख्यानों और वादविवादों के लिए सौ आसंदियाँ रोज़ जमाई जाती थीं। बौद्ध और ब्राह्मण दर्शनों का अध्ययन किया जाता था। इसमें आध्यात्मिक और ऐहिक दोनों प्रकार के विषय आते थे, और विद्यार्थियों को विषय चुनने पड़ते थे। युआन-च्वांग की जो जीवनी ह्युई-ली ने लिखी है उसमें पृष्ठ ११२ पर नालन्दा में पढ़ाए जाने वाले विषयों का वर्णन दिया गया है—"नालन्दा विश्वविद्यालय के भिक्षु और अन्य निवासियों की संख्या सदा १०,००० थी, और वे सब महायान की शिक्षा पाते थे। अट्ठारह पन्थों के ग्रन्थ पढ़े जाते थे जिनमें वेद-वेदांग थे, हेतुविद्या, शब्दविद्या, चिकित्साविद्या, अथर्ववेद या मन्त्रविद्या, सांख्य आदि विद्याएँ थीं, साथ ही वे अन्य फुटकर ग्रन्थों का भी सूक्ष्म अध्ययन

करते थे। एक हज़ार व्यक्ति वहाँ ऐसे हैं जो बीस सूत्र ग्रन्थ और शास्त्र समझ सकते हैं, ५०० ऐसे अध्यापक हैं जो ऐसे तीस ग्रन्थ सिखा सकते हैं और कदाचित दस ऐसे हैं, जो पचास ग्रन्थ समझा सकते हैं। अकेले शीलभद्र ऐसे हैं जिन्होंने सारे ग्रन्थ पूरी तरह पढ़े है और सब ग्रन्थों को समझा है।"

"बौद्ध-धर्म के वृत्तान्त" के ३४वें अध्याय में इ-त्सिंग भारतीय विद्यालयों में जो शिक्षण पद्धति प्रचलित थी उसके बारे में और जानकारी देते हैं। विद्यार्थी के अध्ययन का एक मुख्य अनिवार्य विषय था संस्कृत-व्याकरण। इ-त्सिंग लिखते हैं:—"पुराने अनुवादक (संस्कृत से चीनी में) संस्कृत भाषा के नियम हमें नहीं बताते......अब मुझे पूरा विश्वास है कि संस्कृत व्याकरण के सम्पूर्ण अध्ययन से, अब इस अनुवाद में जो भी कठिनाइयाँ आवेंगी, दूर हो जाएँगी।" बाद में वह, संस्कृत व्याकरण का व्यवस्थित रूप से कैसे अध्ययन होता था, उसका वर्णन देता है। यशोमित्र की टीका से स्पष्ट है कि व्याकरण ग्रन्थ पढ़े जाते थे, उनमें मुख्य ये थे: पाणिनी सूत्र, धातुपाठ, अष्टधातु, उणादिसूत्र, काशिका वृत्ति, चूर्णि (शायद पांतजलि महाभाष्य), भर्तृहरी का शास्त्र, वाक्यपदीय और पेई-न अथवा बेड़ा-वृत्ति। वे आगे लिखते हैं कि तरुण विद्यार्थी हेतु-विद्या और अभिधर्म-कोश सीखते हैं। न्याय-द्वार-तर्क-शास्त्र सीखने से उनकी अनुमान शक्ति विकसित होती है, और जातक-माला पढ़ने से उनकी कल्पना और विचार-शक्ति बढ़ती है। भिक्षु न केवल सब विनय सीखते हैं, बल्कि समस्त सूत्रों एवं शास्त्रों का भी अनुसंधान करते हैं। वह और भी लिखता है कि "भारत में दो परम्पराएँ ऐसी हैं जिनके द्वारा मनुष्य ऊँची बौद्धिक शक्ति प्राप्त कर सकता है। एक, बारम्बार कंठस्थ करने से बुद्धि बढ़ती है, दूसरे वर्णमाला के अक्षरों से विचार निश्चित हो जाते हैं। इस प्रकार से दस दिन के भीतर विद्वान को ऐसे लगने लगता है कि उसके विचार फव्वारे की तरह उठ रहे हैं और एक बार सुनी हुई चीज़ दुबारा बताने की ज़रूरत न होते हुए, बराबर याद रह जाती है। यह सिर्फ सुनी-सुनाई हुई गप नहीं है, परन्तु मुझे स्वयं ऐसे लोग मिले हैं।"

पाठ्यक्रम की समाप्ति पर दीक्षान्त समारोह होता था। उसमें विद्यार्थी की सामाजिक स्थिति और गुणों को देखते हुए उपाधियाँ दी जाती थीं। नित्य का कार्य-क्रम घटिकायंत्र के सहारे नियमित किया जाता था। एक बड़े से पानी के कटोरे में एक छोटी छेद वाली कटोरी रखी जाती थी। वह एक प्रहर के चौथे हिस्से में पूरी भर जाती, फिर एक नगाड़े से एक प्रहर की सूचना दी जाती थी। विद्यार्थी और शिक्षक का एक काम का दिन आठ घंटों का होता था।
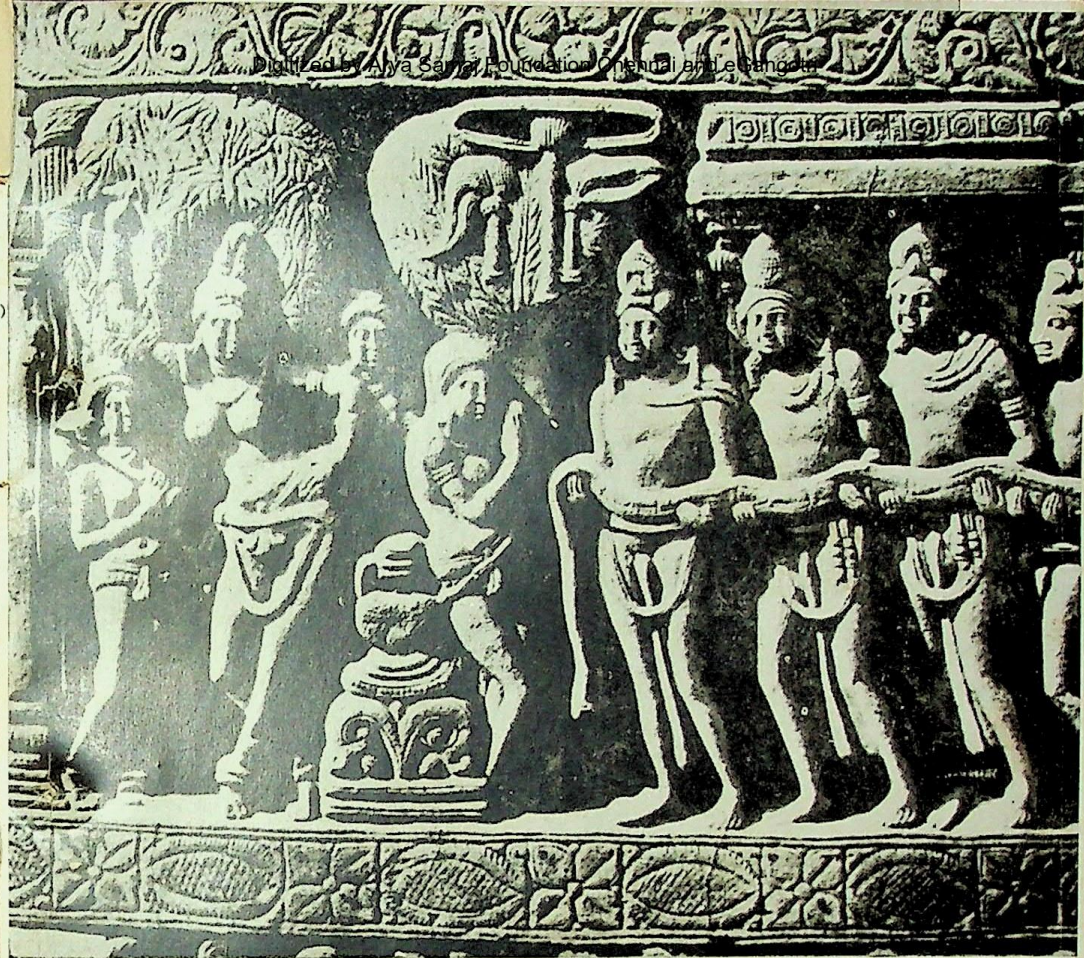
बुद्ध जन्म

नागार्जुनकोण्डा से प्राप्त ३री सदी में निर्मित प्रस्तरमूर्ति

बुद्ध का प्रथम उपदेश

सारनाथ से प्राप्त, ५वीं सदी (गुप्त काल) में निर्मित प्रस्तर मूर्ति
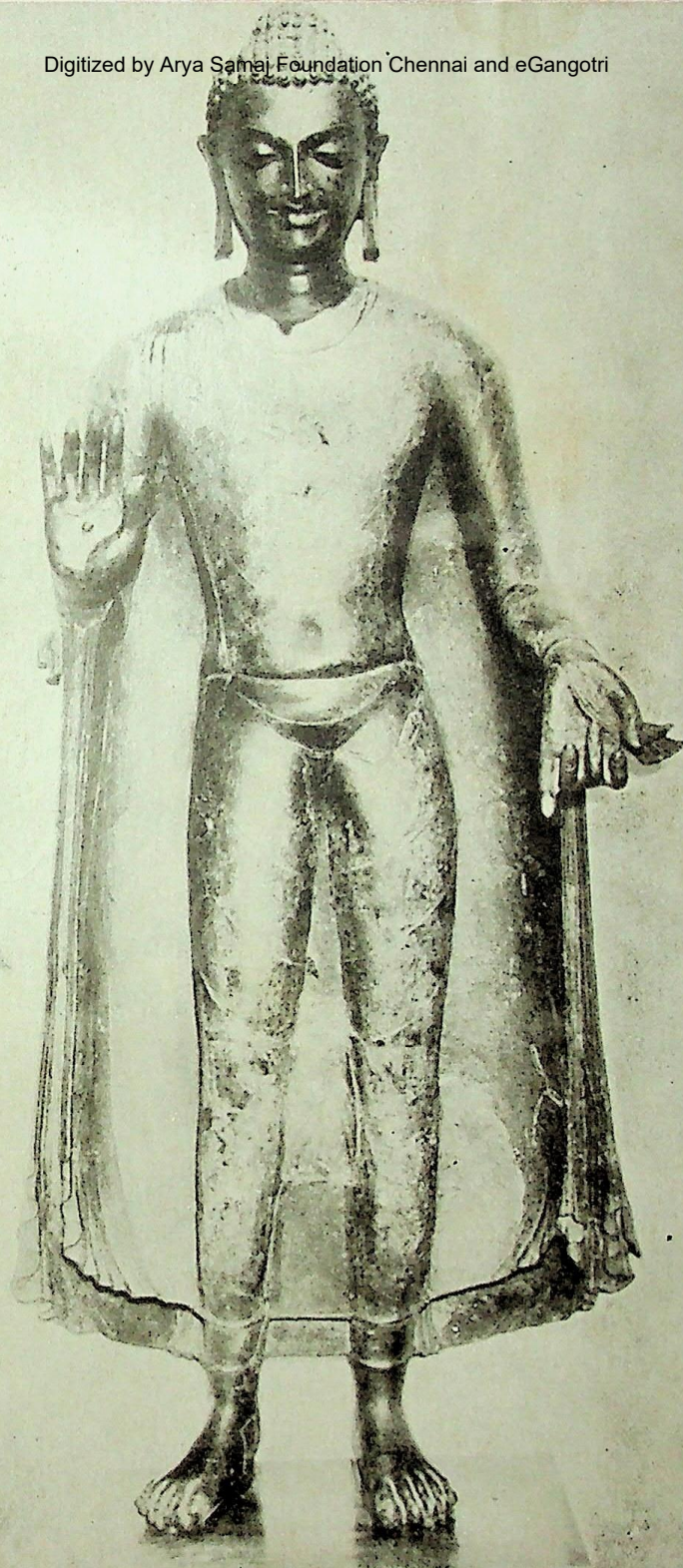
बुद्ध वरदान मुद्रा में

सुल्तान गंज, बिहार से प्राप्त ५वीं सदी में निर्मित कांस्यमूर्ति

महात्मा बुद्ध

नालन्दा से प्राप्त, ९वीं सदी में निर्मित कांस्यमूर्ति

बुद्ध की काँस्यमूर्ति

डोंग डुओंग से प्राप्त, ३री सदी में निर्मित

ध्यानमग्न बुद्ध

चण्डी मेंदूत, जावा से प्राप्त, ९वीं सदी में निर्मित

महाराजा का स्वप्न
बोरो बुदूर से प्राप्त, ८वीं सदी में निर्मित
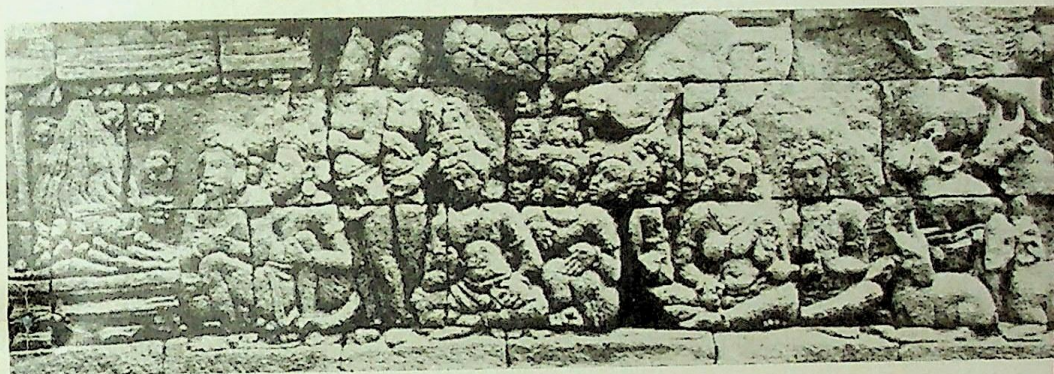
बलिदान
बोरो बुदूर से प्राप्त, ८वीं सदी में निर्मित
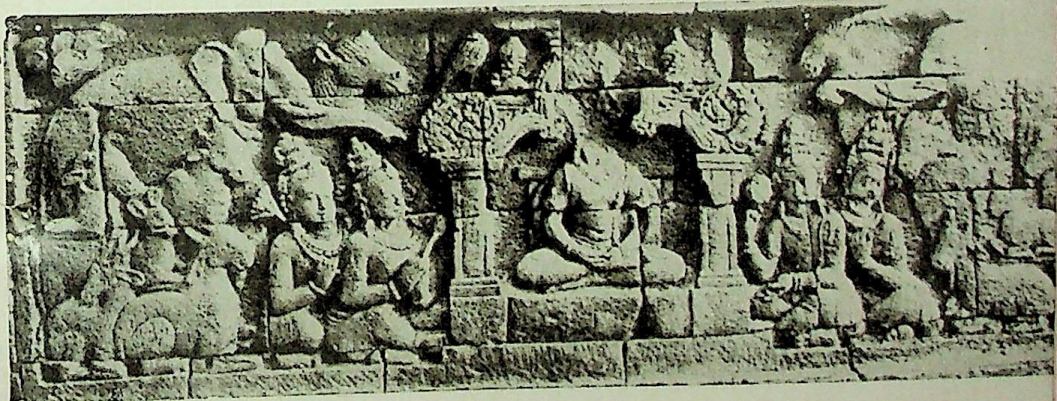
बोधिसत्व का उपदेश सुनते हुए राजा
बोरो बुदूर से प्राप्त, ८वीं सदी में निर्मित

बुद्ध का अवतरण
स्याम से प्राप्त
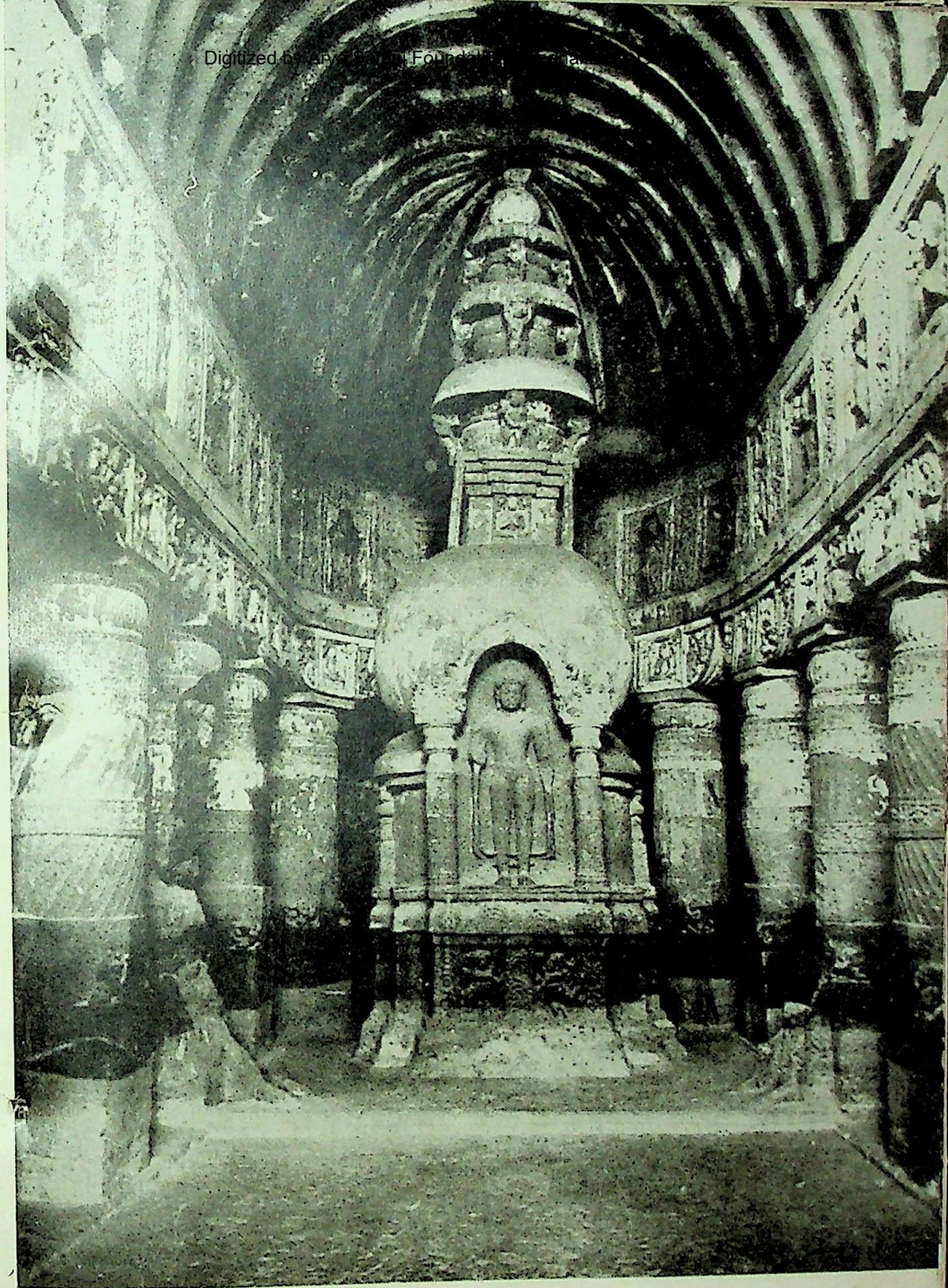
अजन्ता का चैत्य भवन
छठी सदी में निर्मित; गुफ़ा संख्या १६
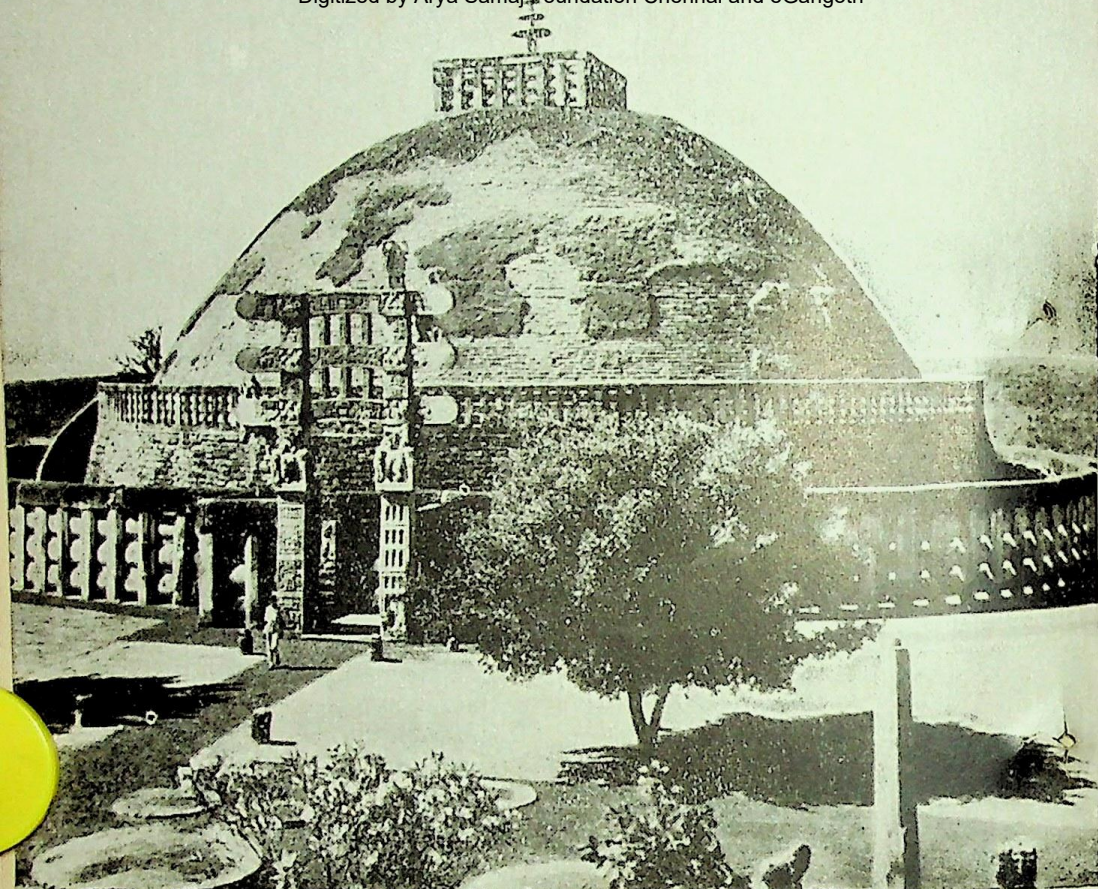
साँची का मुख्य स्तूप, बाह्य दृश्य
३री सदी ई० पूर्व से १ली सदी ई० पूर्व तक निर्मित
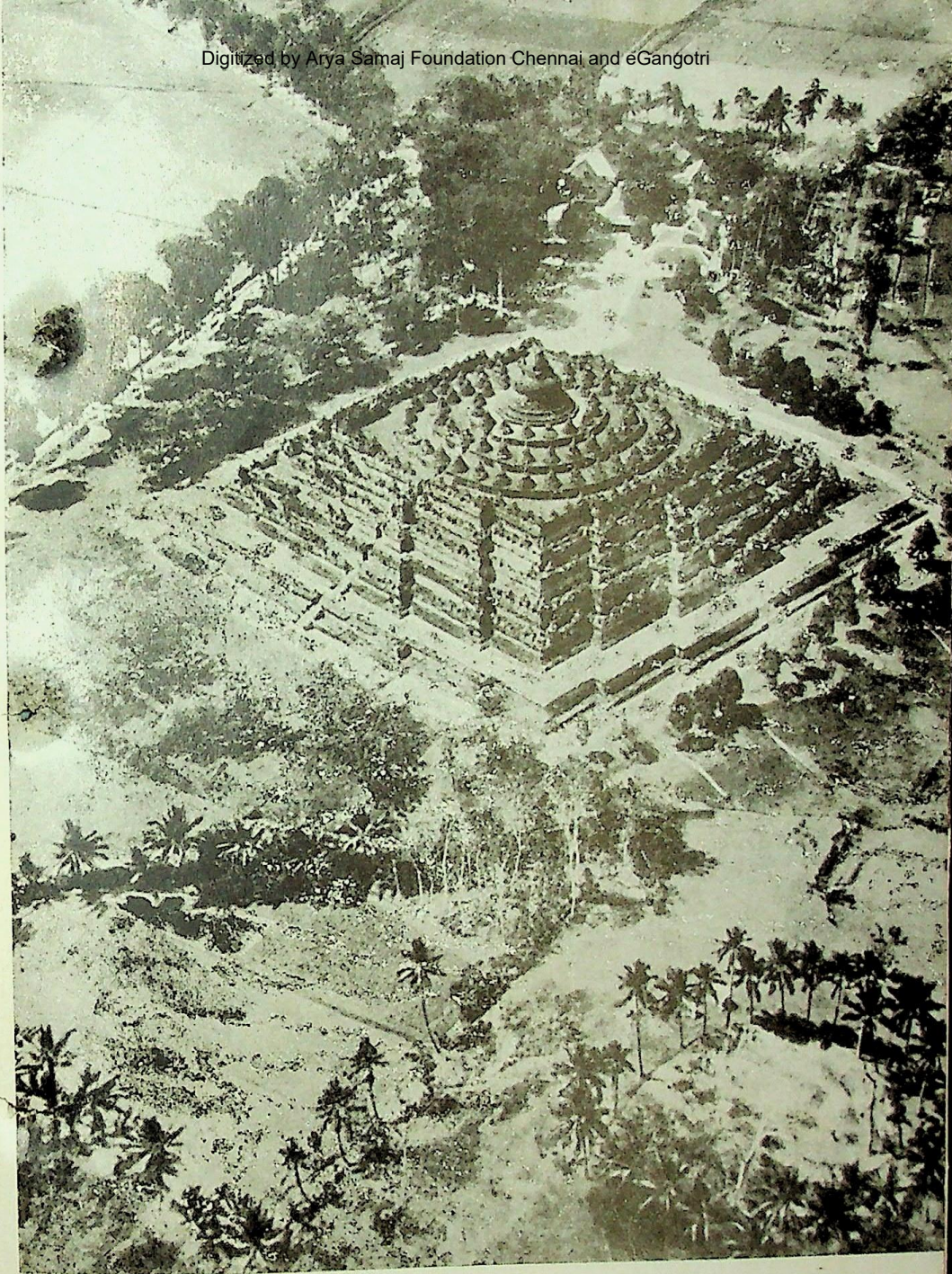
बोरो बुदूर का आकाश से लिया गया चित्र
जावा का जगत-प्रसिद्ध बौद्ध मन्दिर

थुपाराम दागोबा
अनुराधापुर, श्रीलंका का प्रसिद्ध बौद्ध मन्दिर
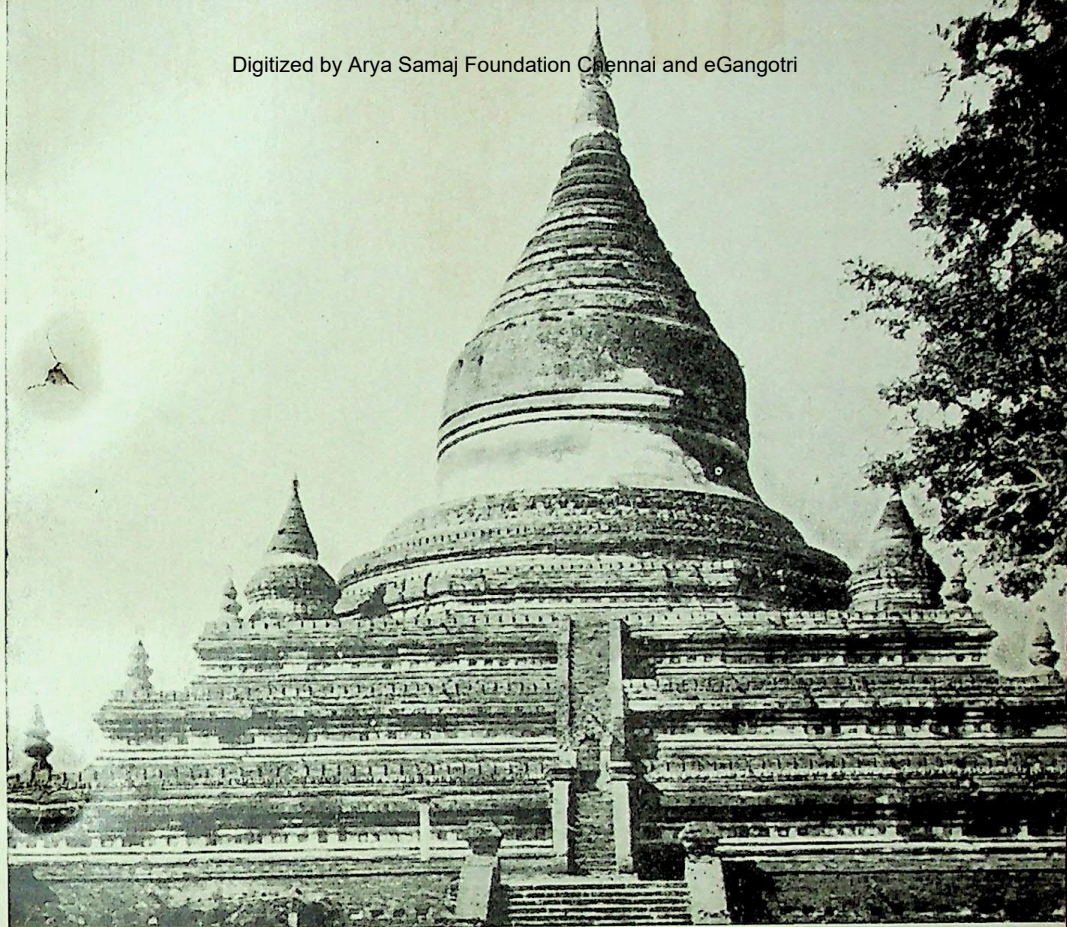
मिंगलजेदी पैगोडा
पगान, बर्मा में १३वीं सदी में निर्मित

दो अप्सराएँ
सिगिरिया, श्रीलंका में ५वीं सदी में निर्मित

राजकुमारी का शृङ्गार
बेग्रम (हिन्द चीन) में १ली-२री सदी में चित्रित
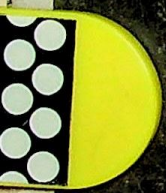
अशोक स्तम्भ की सिंहमूर्ति
सारनाथ से प्राप्त, तीसरी सदी ई० पूर्व में निर्मित

नालन्दा अपने 'वाद-विवादों की शालाओं' के लिए प्रसिद्ध था। सचमुच, उससे और पुरानी, प्रतिष्ठित परम्परा का स्मरण हो आता है—कथाओं की परम्परा का। इन शालाओं में न केवल भारत के सब प्रदेशों से परन्तु सुदूर पूर्व और तिब्बत से भी पढ़ने वाले आते थे। "पढ़ने में और वाद-विवाद करने में दिन यों बीत जाता था कि दिन के घंटे उन्हें कम जान पड़ते थे" (युआन-च्वांग)। नालन्दा तथा अन्य विश्व-विद्यालयों में किए गये ये वाद-विवाद ब्राह्मणधर्मीय तथा बौद्ध विचारों और संस्कृति के समन्वय में इतने सहायक सिद्ध हुए कि प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक इतिहास का अन्तिम काल बड़ा रहस्यमय बन गया।

तिब्बती स्रोतों से पता चलता है कि नालन्दा के ग्रन्थालयों में हस्तलिखित ग्रन्थों की कितनी विशाल सम्पदा थी। लामा तारानाथ और १७वीं, १८वीं शती के अन्य तिब्बती लेखक जिन्होंने बौद्ध-धर्म के इतिहास लिखे हैं, इस सम्पदा के बारे में लिखते हैं कि विश्वविद्यालय के अहाते का बहुत बड़ा घेरा इन ग्रन्थालयों के लिए अलग से रखा गया था और उस पर बड़ी-बड़ी, कई मंज़िलों वाली इमारतें थीं, उनमें से तीन के सुन्दर नाम थे—रत्नोदधि, रत्नसागर, रत्न-रंजक। पहला ग्रन्थालय नौ मंज़िला था। तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार एक क्रोधी तरुष्क के द्वारा जानबूझ कर आग लगा दी गई और ग्रन्थालय की ये बड़ी इमारतें भस्मसात हो गईं।

कई शताब्दियों पूर्व नालन्दा की स्थापना हुई थी। विश्वविद्यालय के नाते वह अपनी परम कीर्ति पर पहुँचा ६ठी शती में, फाहियान और युआन-च्वांग के काल के बीच में, और शायद विक्रमशीला विश्वविद्यालय की बढ़ती हुई कीर्ति के सामने इसकी कीर्ति कुछ मन्द पड़ गई हो, फिर भी तीन शताब्दियों तक नालन्दा का नाम चमकता रहा। ११९७ ईस्वी में विहार पर जो मुस्लिम आक्रमण हुआ उसे वह न सह सका। उस समय के इतिहासकार मिनहाज़ ने लिखा है कि इस हमले में सिर घुटे हुए पुजारियों का क़त्ले-आम किया गया (तबकत-इ नसिरी, पृष्ठ ५५२)।

स्थापत्य की दृष्टि से ७वीं शती के भारत में नालन्दा कदाचित सबसे बड़ा और सबसे सुन्दर विहार था। युआन-च्वांग का ही नहीं, परन्तु बाद की शती के राजा यशोवर्मन के एक वर्णनात्मक शिलालेख का साक्ष्य है कि नालन्दा में "विहारों की पंक्तियां थीं और आकाशचुम्बी शिखरों की मालिकाएँ थीं।" ह्वुई-ली और युआन-च्वांग और विवरण देते हैं :—"बाहर के सब चौक, जिनमें पुजारियों के कमरे हैं, चार मंज़िल वाले हैं। प्रत्येक मंज़िल का एक महासर्प जैसा बाहर का चक्करदार पुच्छल हिस्सा है और रंगीन बेलें, मोतियों जैसे चमकने वाले लाल खम्भे, जिन पर

बहुत सुन्दर नक्काशी का काम किया हुआ था, बहुत-से अच्छी तरह सजाए हुए जीने और छज्जे इत्यादि थे। छतों पर ऐसे कवेलू थे जो प्रकाश की किरणों को हज़ार रंगों में परिवर्तित करते थे। ये सब उस दृश्य की सुन्दरता को बढ़ाते हैं। भारत में संघाराम इतने हैं कि उनकी गिनती नहीं, परन्तु इनमें सबसे अधिक सौन्दर्य और ऊँचाई में प्रसिद्ध यही है" (ह्वुई-ली)। "इस संस्था का, जो कई राजवंशों का निर्माण कार्य है, स्थापत्य सम्पूर्ण है और सचमुच सुन्दर है" (युआन-च्वाँग)। जहाँ स्थापत्य का यह महान नमूना स्थित है वहाँ की प्राकृतिक स्थिति भी उस सौंदर्य से मिलती-जुलती हुई है। ज़मीन पर कई सरोवर हैं जिनमें नीलोत्पल विपुल मात्रा में हैं, और उनके सुन्दर नीले रंग के साथ कनक पुष्प सब ओर से अपना गहरा लाल रंग मिलाते हैं। आम्रकुञ्जों की घनी छायाएं सब ओर ज़मीन पर छितरी हुई हैं। नालन्दा के इस सारे स्वाभाविक और मानव निर्मित सौंदर्य में से सिवाय खण्डहरों के अब कुछ बचा नहीं है। यत्र-तत्र मिट्टी के ढेर हैं, खण्डित पत्थरों की प्रतिमाएँ हैं। पुरातत्वविद् अपने फावड़े और कुदालें लेकर वहाँ व्यस्त हैं।

राजगृह (बिहार राज्य) से कुछ मील दूरी पर बड़गांव देहात ही प्राचीन नालन्दा था। पुरातत्वविदों ने वहाँ खुदाई की, और जो कुछ मिला वह एक पास के संग्रहालय में रखा गया है। इन वस्तुओं में विश्वविद्यालय की मुहर मिली है, जो पत्थर पर खुदी है। उस पर धर्मचक्र है। उसके दोनों ओर एक-एक मृगशावक है। उस पर यह लिखा है 'नालन्दा महाविहार महाभिक्षु-संघ'। इस मुहर से यह सिद्ध है कि यह विश्वविद्यालय अपने आप में पूर्ण एक ऐसी संस्था थी जिसमें अगणित विहार थे। ये विहार विविध सदियों में बनाए गए थे और इस प्रकार यह महाविहार बना था।

युआन-च्वांग और इ-त्सिंग दोनों ही एक और प्रमुख महाविहार का वर्णन करते हैं। वह पश्चिमी भारत का वलभी का महाविहार था। ई-त्सिंग लिखता है कि इन विश्वविद्यालयों में विद्यार्थी दो-तीन वर्ष तक अपना अध्ययन पूरा करने के लिए रहते थे। उस शती में वलभी हीनयानियों की सबसे बड़ी संस्था थी और नालन्दा महायानियों की।

विक्रमशीला

ऊपर बताए विश्वविद्यालयों के अलावा, अन्य कई बौद्ध विश्वविद्यालय भी थे जो मुस्लिमों के बिहार-बंगाल के विजय-काल तक चलते रहे। तिब्बती स्रोतों से उनका पता चलता है। तारानाथ के 'भारतीय बौद्ध-धर्म के इतिहास' के वर्णन से और अन्य ऐतिहासिक हस्तलिखित रचनाओं में तिथि के जो उल्लेख हैं, उनसे जान पड़ता

है कि विक्रमशीला इन विश्वविद्यालयों में सबसे बड़ा और प्रसिद्ध था। गंगा के दाहिने किनारे पर 'जहाँ पवित्र नदी उत्तर को बहती है', विक्रमशीला एक छोटी-सी पहाड़ी पर था। यह स्थान अभी तक निश्चित रूप से नहीं पाया गया। कदाचित् पानी के बरसों के कटाव से वह बह गया हो। अपने सबसे चरम काल में इसे बंगाल के बौद्ध पाल राजाओं का आश्रय प्राप्त था, यह बहुत बड़ा विद्यालय रहा होगा। इसके छः द्वार थे। हर द्वार पर एक विश्वविद्यालय का विद्वान रक्षक होता था, जो द्वार-पण्डित कहलाता था। इसमें पण्डित की अन्तिम उपाधि दी जाती थी।

तिब्बती अभिलेखों के अनुसार दीपंकर श्रीज्ञान (९८०-१०५३ ई०) के नाम से सम्बद्ध होने के कारण विक्रमशीला की कीर्ति थी। ओदंतपुरी में अपना अध्ययन पूरा करके यह विद्वान आचार्य १०३४-३८ ईस्वी में विक्रमशीला विश्वविद्यालय के मुख्य बने। बाद में तिब्बत के राजा के निमंत्रण पर वे तिब्बत में गए और बौद्ध-धर्म के सुधार का आन्दोलन उन्होंने शुरू किया। तब बौद्ध-धर्म तिब्बत का राजधर्म था।

वह अपनी साठ वर्ष की आयु में थे और विक्रमशिला के मुख्य थे, जब उन्हें तिब्बती राजा का निमंत्रण मिला और उनसे राजदूतों ने आग्रह किया। तब बहुत अनिच्छा से उन्होंने वहां जाने की बात कबूल की। रास्ता कठिन था और उसमें वे थक जाते थे। वे रास्ते के कई चक्करदार, हवा के सख्त झकोरों से भरे 'लास' (पहाड़ी मार्गों) से होते हुए हिमालय पार करके तिब्बत कैसे पहुँचे, वहाँ उनका कैसा ज़ोरदार स्वागत हुआ, यह सब बातें अतिश की तिब्बती जीवनी में दी गई हैं। अतिश दीपंकर श्रीज्ञान का तिब्बती नाम है। यह जीवनी दीपंकर के तिब्बती शिष्य नाग्चो ने लिखी है। उस ठण्डे और सख्त, ऊंची-नीची ज़मीन वाले देश में तेरह वर्षों के धर्म-प्रचार कार्य के बाद जब वे काफी प्रसिद्ध हो गए और उनकी आयु भी काफी हो गई तब, नेथन नामक एक अज्ञात अंतवर्ती स्थान में, वे स्वर्गवासी हुए। उनकी समाधि अभी भी वहाँ है। उसका वर्णन और चित्र कैप्टेन वाड्डेल के 'ल्हासा और उसके रहस्य' (१९०५) नामक ग्रन्थ में मिलेगा। वाड्डेल वहाँ बीसवीं शती के आरम्भ में गया था।

दीपंकर तिब्बत में लामावाद का प्रचारक-संस्थापक था और तिब्बत में उसे तिब्बती नाम से पूजा जाता है। दर्जिलिंग के घूम मठ में लामा देवताओं की भयानक तांत्रिक आकृतियों में एक अकेली मानवी प्रस्तर प्रतिमा अतिश की है।

जगद्दल और ओदन्तपुरी

बंगाल के बौद्ध पाल राजा बड़े विद्या-प्रेमी थे। राजा रामपाल (१०८४-११३० ई०) ने एक नई राजधानी गंगा और उसकी एक सहायक नदी

करतोया के संगम पर बनाई। उसका नाम रामावती रखा। यहाँ उसने जगद्दल नामक बौद्ध विश्वविद्यालय स्थापित किया। वह मुश्किल से डेढ़ सदी रहा होगा कि बिहार के मुस्लिम आक्रमण में वह भी नष्ट हो गया। परन्तु इस छोटे-से समय में उसमें कई विद्वान हुए जिनके नाम आज हमें केवल ग्रन्थों के तिथि और लेखकोल्लेख मात्र से पता चलते हैं। ये उल्लेख संस्कृत और तिब्बती दोनों भाषाओं में हैं।

ओदंतपुरी, जहाँ एक समय में एक हजार भिक्षु रहते थे, पालवंश से पहले विद्यमान था, परन्तु पाल राजाओं के समय उसे विश्वविद्यालय का रूप मिला। पाल राजाओं ने बहुत उदारतापूर्वक उसे बहुत दान दिया। यह कहा जाता है कि तिब्बत में जो पहला बौद्ध विद्यालय बना वह इसी विश्वविद्यालय के आदर्श पर था।

नालन्दा की परम्परा इन बाद के बौद्ध विश्वविद्यालयों ने आगे चलाई, मुस्लिम विजय काल तक। बाद में इन विश्वविद्यालयों से भाग कर कई विद्वान तिब्बत पहुँचे जहाँ उन्होंने अपने ग्रन्थ लिखे। बौद्ध-धर्म के तिब्बती विश्वकोश में उनका समावेश है, कुछ मूल तिब्बती में हैं, कुछ संस्कृत के अनुवाद हैं। तिब्बती लिपि भी दीपंकर श्रीज्ञान ने भारतीय लिपि ही निर्मित की, और इस कारण से इन प्रवासी विद्वानों को तिब्बती सीखने में कठिनाई नहीं जान पड़ी। उसी में उन्होंने ग्रन्थ-रचना भी की।

सातवाँ अध्याय

अशोक के उत्तरकालीन कुछ बौद्ध महापुरुष

भारत

शासक : मिनान्दर, कनिष्क, हर्ष

अशोक के बाद बौद्ध-धर्म की मशाल को मिलिन्द (मिनान्दर), कनिष्क, हर्ष और पालवंशीय शासकों (७५०-११५० ई०) के प्रयत्नों ने जलती हुई रखा। इण्डो-ग्रीक राजा मिनान्दर बौद्ध-धर्म का एक महान संरक्षक और सहायक था। मौर्य साम्राज्य की शक्ति के ह्रास के बाद की दो शताब्दियों में ग्रीक आक्रमणकारियों ने उत्तर-पश्चिमी भारत तथा अफगानिस्तान पर आधिपत्य स्थापित कर लिया। इस युग में करीब तीस शासक हुए, जिनमें से केवल मिनान्दर ही भारतीय मस्तिष्क पर अपनी स्थायी छाप छोड़ गया है। स्पष्टतः यह सद्धर्म के साथ उसके सम्बन्ध के कारण ही है।

राजा मिनान्दर पालि ग्रन्थ "मिलिन्द-पन्ह" में एक पात्र है। "मिलिन्द" ग्रीक शब्द मिनाण्ड्रोस का भारतीय रूपान्तर है। प्राचीन लेखकों ने इस ग्रीक राजा के नाम के कई अन्य भारतीय रूप भी प्रयुक्त किए हैं। जिन मुख्य स्रोतों से राजा मिनान्दर के सम्बन्ध में सूचना संकलित की जा सकती है, वे हैं: "मिलिन्द पन्ह", स्ट्रेबो, प्लूटार्क और जस्टिन जैसे ग्रीक इतिहासकारों के वर्णन और स्वयं राजा मिनान्दर के सिक्के जिन पर "बेसिलियस सोटेरोस मिनाण्ड्रोस" लेख पाया जाता है। ये सिक्के उत्तर-प्रदेश के पश्चिमी जिलों तथा काबुल और सिन्धु नदी की घाटियों में बाईस विभिन्न स्थानों पर पाए गए हैं।

राजा मिनान्दर की तिथि के सम्बन्ध में विद्वानों में काफी मतभेद है। स्मिथ के मतानुसार मिनान्दर का समय ईसा-पूर्व की द्वितीय शताब्दी का मध्य-भाग है। हेमचन्द्र रायचौधरी मिनान्दर के काल को प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व मानते हैं। स्वयं "मिलिन्द-पन्ह" में यह कहा गया है "परिनिब्बानतो पञ्चवस्ससते अतिक्कन्ते।" इसका तात्पर्य यह है कि राजा मिलिन्द भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण

के ५०० वर्ष बाद हुआ। इस प्रकार यह मानना युक्तिसंगत जान पड़ता है कि ग्रीक राजा मिनान्दर ने प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व या उसके आसपास शासन किया। अन्य तथ्यों के द्वारा भी इस बात का समर्थन होता है।

"मिलिन्द-पन्ह" में राजा मिनान्दर (मिलिन्द) का वर्णन योनकों (यवनकों-यवनों) के राजा के रूप में किया गया है। "योनकानां राजा मिलिन्दो।" पालि शब्द "योनक" या "योन" (सं० यवन) प्राचीन पारसी भाषा के "यौन" शब्द के समान है, जिसका मौलिक अर्थ "आयोनिया का निवासी ग्रीक" था, परन्तु बाद में जिसका प्रयोग ग्रीक मात्र के लिए होने लगा। मज्झिम-निकाय के अस्सलायण-सुत्तन्त से स्पष्ट है कि योन और कम्बोज लोगों के प्रदेश भारतीयों को छठी शताब्दी ईसवी पूर्व ज्ञात थे। इस सुत्त में कहा गया है कि भारतीय समाज के चार वर्णों के स्थान पर इन लोगों के प्रदेश में केवल दो ही वर्ण थे, आर्य और दास। यह एक सुविज्ञात तथ्य है कि पाटलिपुत्र में हुई तृतीय बौद्ध संगीति के बाद धर्म-प्रचारकों को दूरस्थ योन (यवन) देश के अन्तर्गत सीरिया के शासक एण्टियोकस द्वितीय, मेसिडोनिया के शासक एण्टिगोनस गोनेटस, आदि के राज्यों में भेजा गया था। अशोक के द्वितीय तथा त्रयोदश शिलालेखों में इस बात का उल्लेख है। यह भी कहा गया है कि ग्रीक भिक्षु धर्मरक्षित—योन धम्मरक्खित—को अपरान्त प्रदेश में धर्म-प्रचारार्थ भेजा गया था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मिनान्दर के पूर्व भी भगवान बुद्ध के सदुपदेश ग्रीक मनीषा को प्रभावित करने लगे थे। स्वयं राजा मिनान्दर को हम पहले बुद्ध की शिक्षाओं के सम्बन्ध में सन्देह और कठिनाइयाँ उपस्थित करते और फिर उन सन्देहों और कठिनाइयों का स्थविर नागसेन द्वारा निवारण कर दिए जाने के पश्चात् एक श्रद्धालु बौद्ध शासक के रूप में बौद्ध-धर्म का प्रचार करते देखते हैं।

"मिलिन्द पन्ह" में बताया गया है कि मिलिन्द राजा का जन्म अलसन्द (अलेक्ज़ेण्ड्रिया—आधुनिक कन्धार) के दीप (द्वीप-दोआब) में कलसि नामक ग्राम (कलसिगामो) में हुआ था।[1] उसकी राजधानी सागल नगरी थी, जिसे आधुनिक स्यालकोट से मिलाया गया है। मिनान्दर के राज्य में पेशावर, उत्तरी काबुल-घाटी, पंजाब, सिन्ध, काठियावाड़ और उत्तर-प्रदेश के पश्चिमी भाग सम्मिलित थे।

मिनान्दर एक बहुत विद्वान और प्रतिभाशाली तार्किक था। अनेक ज्ञान-शाखाओं में निष्णात और विशेषतः तर्क-विद्या में वह पारंगत था। बौद्ध-धर्म के

---

१. मिलिन्द, ८२

सच्चे सार को वह समझना चाहता था। इसमें अनेक कठिनाइयाँ और गुत्थीदार समस्याएँ उसके सामने आईं। अपने चित्त के समाधान के लिए वह अनेक धर्म-गुरुओं के पास गया, परन्तु कोई उसकी कठिनाइयों को दूर नहीं कर सका। सत्य का गम्भीर गवेषक तो मिनान्दर था ही। वह इससे अत्यन्त निराश हो गया। अपनी इसी निराशा की अवस्था में हम उसे उद्गार करते देखते हैं, "अरे, यह जम्बुद्वीप (भारतवर्ष) तुच्छ है। झूठ-मूठ का इतना नाम है। कोई भी श्रमण या ब्राह्मण यहाँ ऐसा नहीं है जो मेरे साथ बातचीत कर सके और मेरी शंकाओं को दूर कर सके।"[1] यह एक सौभाग्यपूर्ण संयोग ही था कि एक दिन राजा मिलिन्द ने एक बौद्ध-भिक्षु को देखा। इनका नाम नागसेन था और वे उस समय भिक्षा के लिए जा रहे थे। साधु के शान्त और संयत व्यक्तित्व का मौन किन्तु शक्तिशाली प्रभाव राजा के मन पर पड़ा। दूसरे दिन पाँच सौ यवनकों को साथ लेकर वह सागल के संखेय्य परिवेण नामक बौद्ध विहार में गया, जहाँ उस समय स्थविर नागसेन ठहरे हुए थे। उन दोनों में वहाँ संलाप हुआ, जिसे राजा की प्रार्थना पर बाद में राज-भवन में जारी रक्खा गया। संलाप से पूर्व इस असाधारण भिक्षु ने राजा से स्पष्टतः कह दिया कि वह इसी शर्त पर संलाप करने को प्रस्तुत होंगे कि शास्त्रार्थ 'पण्डितवाद' के ढंग पर हो, 'राजवाद' के ढंग पर नहीं। राजा ने इसे स्वीकार किया और भिक्षु के प्रति आदर प्रदर्शित किया। तदनन्तर उसने एक के बाद एक अपने सन्देहों और कठिनाइयों को भिक्षु के सामने रक्खा। सुयोग्य भिक्षु ने उन सब का समाधान कर दिया और राजा को परम सन्तोष प्राप्त हुआ। राजा मिलिन्द और भिक्षु नागसेन के इसी संलाप पर "मिलिन्द पन्ह" आधारित है। यह ग्रन्थ स्थविरवाद बौद्ध धर्म के अनु-पिटक साहित्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है और आचार्य बुद्धघोष ने इसे प्रमाण-स्वरूप उद्धृत किया है। हमारे लिए यहाँ इस ग्रन्थ की विषय-वस्तु के विस्तार में जाना शक्य न होगा। संक्षेप में यह कहना पर्याप्त होगा कि गम्भीरतम आध्यात्मिक समस्या जिससे राजा मिलिन्द पीड़ित हो रहा था, यह थी कि वह यह नहीं समझ पा रहा था कि किस प्रकार पुनर्जन्म ग्रहण करने वाली किसी आत्मा को न मानकर भगवान बुद्ध पुनर्जन्म में विश्वास कर सकते थे? इस गुत्थीदार समस्या को स्थविर नागसेन ने इस ग्रन्थ में अत्यन्त प्रभावशाली रूप में सब काल के लिए हल कर दिया है। संलाप के अन्त में, जब राजा के सब सन्देहों का समाधान हो चुका, तो उसने भिक्षु नागसेन के प्रति कृतज्ञता प्रकट की। राजा का मन

---

१. मिलिन्द, ५, २१

आध्यात्मिक आमोद से भर गया। उसने त्रि-रत्न की शरण प्राप्त की और स्थविर नागसेन से प्रार्थना की कि उस दिन से वह उन्हें जीवन-पर्यन्त उपासक के रूप में स्वीकार करें। "उपासकं मं भन्ते नागसेन धारेथ अज्जतग्गे पाणुपेतं सरणं गतं ति।"[1] बौद्ध-धर्म में दीक्षित होकर राजा मिलिन्द ने "मिलिन्द-विहार" नामक एक विहार का निर्माण करवाया और उसे स्थविर नागसेन को समर्पित कर दिया। भिक्षु-संघ को भी उसने उदारतापूर्वक दान दिया। "मिलिन्द पन्ह" के अनुसार राजा मिनान्दर अपने पुत्र को राज्य देने के बाद भिक्षु हो गए और उसी अवस्था में उनकी मृत्यु हुई। उन्होंने अर्हत्व को भी प्राप्त किया[2] जो स्थविरवाद बौद्ध-धर्म के अनुसार पवित्र जीवन का अन्तिम लक्ष्य है।

ग्रीक इतिहासकार प्लूटार्क का कहना है कि मिनान्दर की मृत्यु एक शिविर में हुई और उसके फूलों (भस्मावशेष) के लिए कई भारतीय नगरों में झगड़ा हुआ, जिसके परिणाम-स्वरूप उनका बँटवार हुआ और प्रत्येक के ऊपर विशाल स्तूपों का निर्माण किया गया। हम जानते हैं कि भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद बिलकुल ऐसी ही घटना हुई थी। इसके अलावा एक यह भी सार्थक तथ्य है कि मिनान्दर के सिक्कों में धर्म-चक्र अंकित हैं। यह इस बात का निश्चित चिन्ह है कि वह एक श्रद्धालु बौद्ध था। शिनकोट अभिलेख से यह बात निःसन्देह प्रमाणित हो जाती है कि इस ग्रीक राजा ने हिन्दुकुश और सिन्ध के बीच के प्रदेश में बौद्ध-धर्म का प्रचार किया था। प्लूटार्क का कहना है कि एक शासक के रूप में मिनान्दर न्याय का अत्यधिक ध्यान रखता था और उसकी जनता उसे हृदय से प्रेम करती थी। मिनान्दर ने जो शक्ति भारत में स्थापित की वह उसकी मृत्यु के साथ ही लुप्त हो गई, परन्तु इस न्यायी और सुधी बौद्ध शासक की स्मृति "मिलिन्द पन्ह" के पन्नों और धर्म-चक्र से अंकित स्वयं उसके सिक्कों में सदा स्थायी रहेगी।

मिलिन्द के बाद भारतीय इतिहास में एक दूसरा नाम आता है जो भारत के शासकों तथा बौद्ध परम्परा में उसके समान ही तेजस्वी है। यह नाम है कनिष्क का, जिसने अशोक के काम को पूरा किया और सम्पूर्ण एशिया में बौद्ध-धर्म के विजयपूर्ण प्रसार में सहायता दी। कनिष्क यूह्-ची जाति की कुषाण (क्यूई-स्वाँग) शाखा में उत्पन्न हुआ था। यूह्-ची जाति मूलतः चीनी तुर्किस्तान (आधुनिक सिंक्याँग) में निवास करने वाली थी। प्रथम कुषाण सर्दार जिसने भारत में आधिपत्य स्थापित

१. मिलिन्द, ४२०
२. मिलिन्द, ४२०

किया कडफिसीज़ प्रथम (कुजुल-कस) था। यह बौद्ध था। तक्षशिला के समीप जो खुदाई हुई है, उसमें उसके कुछ सिक्के मिले हैं, जिन पर खरोष्ठी लिपि में लिखा हुआ है—"कुजुल-कसस कुसण-यवुगस धर्मठिदस" अर्थात् धर्म में स्थित, कुषाण सर्दार कुजुल-कस का।" धर्म से तात्पर्य यहाँ बौद्ध-धर्म से ही है, यह इस बात से प्रकट होता है कि इसी शासक के जो कुछ अन्य सिक्के मिले हैं, उन पर "धर्म-ठित" के स्थान पर लिखा हुआ है—"सच्च-धर्म-ठित" अर्थात् "सत्य-धर्म में स्थित" जिस से स्पष्टतः तात्पर्य सद्धर्म या बौद्ध-धर्म से ही है। इस प्रकार के तेजस्वी पूर्वज की परम्परा में कनिष्क ने प्रथम शताब्दी ईस्वी के अन्तिम चतुर्थांश में भारत के शासन को प्राप्त किया।

कनिष्क का शासन (७८-१०१ ईस्वी) बौद्ध-धर्म तथा साहित्य के इतिहास में एक युग-परिवर्तन की सूचना देता है। इसने महायान बौद्ध-धर्म के उदय को देखा। पार्श्व, अश्वघोष और वसुमित्र आदि के द्वारा प्रवर्तित महान साहित्यिक कार्य का श्रीगणेश इसी समय हुआ। पालि के स्थान पर संस्कृत की प्रतिष्ठा इसी युग में हुई। कला के क्षेत्र में प्रसिद्ध गांधार-कला का आविर्भाव इसी समय हुआ और बुद्ध और बोधिसत्वों की मूर्तियाँ बनने लगीं। कनिष्क के शासन-काल में और उसके प्रयत्नों के परिणाम-स्वरूप ही प्रथम बार बौद्ध-धर्म का सफलतापूर्वक प्रचार मध्य-एशिया और पूर्वेशिया में किया गया। मध्य-एशिया से लेकर भारत के मध्य-देश तक फैले कनिष्क के विस्तृत साम्राज्य में धर्म-प्रचार का कार्य उसके शासन-काल में सतत रूप से चलता रहा, जिसके परिणाम-स्वरूप सच्चे अर्थों में एशिया की एक संश्लिष्ट संस्कृति का जन्म हुआ जो जीवन के उच्चतम उद्देश्यों पर आधारित थी, जिनके लिए ही बौद्ध-धर्म खड़ा हुआ था।

कनिष्क ने जिस प्रकार बौद्ध-धर्म ग्रहण किया, उसकी कहानी प्रायः अशोक के समान ही है। कहा जाता है यूह्-ची सम्राट का अपने जीवन के पूर्व भाग में बौद्ध-धर्म के प्रति बिलकुल आदर-भाव नहीं था। उसका कर्म के सिद्धान्त में विश्वास नहीं था और वह बौद्ध-धर्म को घृणा की दृष्टि से देखता था[1]। काश्गर, यारकन्द और खोतान की विजय करते समय उसने जो रक्तपात किया उसके पश्चात्ताप स्वरूप ही बौद्ध-धर्म की शान्तिदायिनी शिक्षाओं की ओर उसका झुकाव हुआ, जिनका उसने बाद में उत्साहपूर्वक प्रचार किया।

---

१. ऑन युआन च्वांग्स ट्रेवेल्स इन इण्डिया, टी० वाटर्स-कृत (टी० डब्ल्यू० रायस डेविड्स तथा एस. डब्ल्यू. बुशल, लन्दन, द्वारा सम्पादित, १९०४-५), जिल्द पहली, पृष्ठ २०८

सबसे महान सेवा जो इस इन्डो-सिथियन सम्राट ने बौद्ध-धर्म के लिए की वह उसके द्वारा एक बौद्ध संगीति को बुलवाना था, जो कुछ के मतानुसार काश्मीर के कुण्डल-वनविहार नामक विहार में हुई और कुछ के मतानुसार जालन्धर में। युआन-च्वांग, जो इस सम्बन्ध में सबसे अधिक प्रमाणपुरुष माने जाते हैं, यह मानते हैं कि यह सभा काश्मीर में ही हुई। बौद्ध संगीतियों के इतिहास में यह सभा चतुर्थ थी और इसका मुख्य उद्देश्य सर्वास्तिवाद बौद्ध-धर्म के अनुसार बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों का संकलन और उन पर भाष्य लिखना था। कनिष्क ने यह सभा पार्श्व नामक एक वृद्ध और विद्वान भिक्षु के आदेशानुसार बुलवाई। वसुमित्र इस सभा के सभापति चुने गए और आचार्य अश्वघोष, जिन्हें सम्पादन-कार्य में सहायता देने के लिए साकेत से बुलवाया गया, उप-सभापति बने। इस सभा में पाँच सौ भिक्षुओं ने भाग लिया और जिन भाष्यों का उन्होंने सम्पादन किया वे विभाषा-शास्त्र कहलाते हैं, जो बौद्ध-धर्म के तीन पिटकों पर लिखे गए थे। युआन च्वांग का कहना है कि इस सभा ने सूत्रों की व्याख्या करते हुए उपदेश-शास्त्र के रूप में एक लाख गाथाओं की रचना की। इसी प्रकार विनय की व्याख्या करते हुए एक लाख गाथाएँ लिखीं जो विनय-विभाषाशास्त्र कहलाईं। अभिधर्म की व्याख्या करते हुए इसी प्रकार एक लाख गाथाएँ लिखी गईं, जो अभिधर्म-विभाषा-शास्त्र कहलाईं। ऐसा माना जाता है कि महाविभाषा, जो आज भी चीनी भाषा में पाई जाती है, इस सभा के द्वारा तैयार किए हुए भाष्यों का प्रतिनिधित्व करती है। इस सभा के द्वारा तैयार किए हुए भाष्य ताम्र-पत्रों पर उतारे गए और पत्थर के संदूकों में बन्द कर सुरक्षापूर्वक एक स्तूप में रख दिए गए, जिसे कनिष्क ने इसी प्रयोजन के लिए विशेष रूप से बनवाया था। सभा की कार्यवाही की समाप्ति पर, कनिष्क ने, अशोक के उदाहरण का अनुसरण करते हुए, काश्मीर के राज्य को बौद्ध संघ को दान कर दिया।

कल्हण की 'राजतरंगिणी' के अनुसार कनिष्क ने अनेक विहार और चैत्य बनवाए। उसने कनिष्कपुर नामक एक नगर भी बसाया, जिसे आधुनिक काश्मीर के कनिसपुर नामक स्थान से मिलाया गया है। कनिष्क ने अपने नाम पर एक विशाल स्तूप भी बनवाया। इस स्तूप के पश्चिम में उसने एक बड़ा विहार बनवाया जो 'कनिष्क महाविहार' कहलाता था। ये दोनों भवन पुरुषपुर (आधुनिक पेशावर) में बनवाए गए थे। कनिष्क-स्तूप ४०० फुट ऊँचा था और उसका आधार १५० फुट ऊँचा था। फाहियान, सुंग-युन और युआन च्वांग जैसे चीनी यात्रियों ने इस स्तूप की बड़ी प्रशंसा की है। 'कनिष्क महाविहार' जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है, सातवीं शताब्दी में एक 'पुराने विहार' के रूप में विद्यमान था, जब कि

युआन च्वांग ने उसे देखा। अल्बरूनी ने पुरुषावर (पेशावर) में कनिष्क द्वारा निर्मित एक 'कनिक चैत्य' (कनिष्क चैत्य) का उल्लेख किया है। स्पष्टतः यह 'कनिष्क-महाविहार' ही था।

कुषाण-वंश के शासकों ने एक उदार आध्यात्मिक संस्कृति का परिचय दिया है। यह इस बात से प्रकट होता है कि इस वंश के शासक भिन्न-भिन्न धर्मों के अनुयायी थे। प्रथम कुषाण सरदार कडफिसीज़ प्रथम, जैसा हम पहले कह चुके हैं, एक श्रद्धालु बौद्ध उपासक था। उसका पुत्र कडफिसीज़ द्वितीय शैव था। कनिष्क, जो कडफिसीज़ द्वितीय का उत्तराधिकारी था, न केवल बौद्ध था बल्कि बौद्ध धर्म का उत्साही प्रचारक भी, यह हम अभी देख ही चुके हैं। यह कुछ कम ध्यान देने योग्य बात नहीं है कि कनिष्क का उत्तराधिकारी वाशिष्क भागवत धर्म का अनुयायी था।

धर्म के विषय में भारतीय संस्कृति में जो सदा उदारता रही है, उसका इसे एक निदर्शन माना जा सकता है। यद्यपि कनिष्क स्वयं एक निष्ठावान बौद्ध था, फिर भी अन्य धर्म-साधनाओं का वह आदर करता था, जैसा कि उसके सिक्कों से ज्ञात होता है। कनिष्क के सिक्कों पर सकयमो बोदो (शाक्यमुनि बुद्ध) के अलावा ओएशो (शिव), पारसी अग्नि-देवता अथशो (अतश) तथा ग्रीक सूर्य-देवता हेलियोस भी अंकित हैं। धर्म के विषय में यही उदारता कनिष्क से प्रायः छः शताब्दी बाद आने वाले बौद्ध शासक हर्ष ने दिखलाई, जिसने शिव और सूर्य की पूजा के सम्बन्ध में भी आदर-भाव प्रकट किया।

सम्राट हर्षवर्द्धन एक महान विजेता थे। छत्तीस वर्ष तक लगातार युद्ध करने के पश्चात वे समग्र भारत को एक राजनैतिक और सांस्कृतिक सूत्र में बाँध सके, जिसकी उस समय बड़ी आवश्यकता थी। विद्या के वे बड़े प्रेमी और संरक्षक थे। प्रसिद्ध संस्कृत कवि बाण भट्ट उनकी राज-सभा की शोभा थे। स्वयं सम्राट हर्ष एक अच्छे लेखक भी थे। उन्होंने तीन संस्कृत नाटक लिखे हैं, जिनके नाम हैं नागानन्द, रत्नावली और प्रियदर्शिका। कुछ विद्वान इन्हें हर्ष की रचना मानने में आपत्ति भी करते हैं। नागानन्द नाटक में जीमूतवाहन बोधिसत्व द्वारा एक नाग के लिए किए गए आत्म-बलिदान का वर्णन है।

हर्ष ने अपने जीवन के प्रारम्भिक काल में अपने परिवार में महान दुःख को देखा। उसकी माता यशोमती ने अपने पति के स्वर्गवास के बाद सरस्वती नदी के किनारे अपने को जीवित अवस्था में जला दिया। हर्ष के बड़े भाई राज्यवर्द्धन को गौड देश के राजा शशांक ने मार डाला। हर्ष की भगिनी राज्यश्री की

अभाग्यपूर्ण कथा सर्व-विदित ही है। उसके पति गृहवर्मा को मालवा के राजा ने मार दिया था और यह एक सौभाग्यपूर्ण दैवी घटना ही थी कि जब वह दुःखाभिभूत होकर चिता जला कर उस में बैठने वाली ही थी, उसी समय हर्ष ने वहाँ जाकर उसे बचाया। जीवन के इन वियोगों और दुर्भाग्यों का हर्ष के संवेदनशील मन पर अनिवार्य प्रभाव पड़ा। यही कारण था कि अपने अग्रज राज्यवर्द्धन की मृत्यु के बाद वह थानेश्वर के सिंहासन पर बैठने के लिए तैयार नहीं हुआ। इसी प्रकार जब गृहवर्मा की मृत्यु के बाद उसके किसी उत्तराधिकारी के अभाव में हर्षवर्द्धन से कन्नौज का राज्य स्वीकार करने के लिए कहा गया तो उसने इन्कार कर दिया। एक भिक्षु का जीवन वह व्यतीत करना चाहता था। परन्तु युग की आवश्यकताओं से पराभूत होकर वह यह नहीं कर सका। युआन च्वांग ने लिखा है कि राज्यवर्द्धन की मृत्यु के बाद जब अमात्य-गण हर्ष से सिंहासन पर बैठने के लिए आग्रह कर रहे थे, तो वह धर्म-संकट में पड़ गया। किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर वह गंगा के तट पर अवलोकितेश्वर बोधिसत्व की मूर्ति के समीप गया। उसे लगा कि भगवान अवलोकितेश्वर की यह इच्छा है कि वह बौद्ध-धर्म की सेवार्थ राज्य के काम को संभाले और अपने को राजा कह कर न पुकारे। केवल निष्काम कर्म की भावना से हर्ष ने देश का शासन संभाला, परन्तु उसने अपने नाम के साथ 'महाराज' शब्द का प्रयोग नहीं किया। वह केवल 'राजपुत्र' या 'शीलादित्य' कहलाता था।

हर्ष के पिता महाराज प्रभाकरवर्द्धन सूर्य-पूजक थे। हर्ष के बड़े भाई और बहिन श्रद्धालु बौद्ध उपासक थे। स्वयं हर्ष अत्यन्त श्रद्धावान बौद्ध उपासक था, परन्तु अपने पूर्वजों की परम्परा के प्रति आदर दिखाते हुए वह शिव और सूर्य की भी पूजा करता था। नालन्दा विश्वविद्यालय का वह एक संरक्षक था और उसने वहाँ एक विहार और एक कांस्य मन्दिर भी बनवाया था।[१] उसने कई हजार स्तूप गंगा के तट पर बनवाए।[२] यह कहा जाता है कि अपने प्रारम्भिक जीवन में हर्ष हीनयान बौद्ध-धर्म के साम्मितीय सम्प्रदाय का अनुयायी था, परन्तु बाद में युआन च्वांग के प्रभाव-स्वरूप महायान की ओर उसका झुकाव हुआ। सातवीं शताब्दी ईसवी के भारतीय धार्मिक जीवन की एक बड़ी विशेषता यह है कि इस समय पौराणिक हिन्दू-धर्म का उदय हुआ, जिसके परिणामस्वरूप मूर्ति-पूजा पर कुछ अधिक ज़ोर दिया जाने लगा और जाति-वाद के बन्धन कड़े कर दिए गए।

---

१. आन युआन च्वांग्स ट्रेवेल्स इन इण्डिया, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७१

२. वही, जिल्द पहली, पृष्ठ ३४४

इस कारण इस युग के बौद्धों और ब्राह्मणों में कुछ कटुता उत्पन्न हो गई। परन्तु राजकीय संरक्षण सब धर्म-सम्प्रदायों को बिना किसी भेद-भाव के दिया जाता था। युआन च्वांग ने हमें बताया है कि "राजकीय निवासों में १००० बौद्ध भिक्षुओं और ५०० ब्राह्मणों को प्रतिदिन भोजन दिया जाता था।"[1]

हर्ष के शासन की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना चीनी यात्री युआन च्वांग की भारत-यात्रा है। सन् ६३० से लेकर ६४४ ई० तक उसने इस देश में यात्रा की। हर्ष की पहली भेंट उससे राजमहल के समीप कजंगल नामक स्थान में हुई जब कि हर्ष उड़ीसा की विजय के बाद लौट रहा था। अत्यन्त पूज्य-बुद्धि और आतिथ्य के साथ हर्ष ने युआन च्वांग का स्वागत किया। वह उसे कन्नौज (कन्याकुब्ज) ले गया, जहाँ उसके सम्मान में एक विशाल सभा का आयोजन किया गया। इस सभा में हर्ष के सभी अधीन राजाओं ने भाग लिया, जिनमें कामरूप का नरेश भास्करवर्मा (जिसे कुमार भी कहा गया है) भी सम्मिलित था। इनके अतिरिक्त चार हज़ार बौद्ध भिक्षु भी इस सभा में सम्मिलित हुए थे, जिनमें एक हज़ार केवल नालन्दा विश्वविद्यालय से आए थे। तीन हज़ार जैन और ब्राह्मण विद्वानों ने भी इस सभा में भाग लिया था। युआन च्वांग को इस सभा का अध्यक्ष चुना गया। भगवान बुद्ध की एक स्वर्ण-प्रतिमा, जो आकार में राजा के बराबर थी, एक सौ फुट ऊँची अट्टालिका में प्रतिष्ठापित की गई। त्रि-रत्न—बुद्ध, धर्म, संघ—की पूजा बड़े समारोह के साथ की गई। इस सभा की कार्यवाही २१ दिन तक चलती रही। हर्ष को मारने का प्रयत्न भी इस समय कुछ लोगों ने किया, परन्तु वह विफल कर दिया गया।

इस सभा की कार्यवाही के बाद हर्ष अपने सम्माननीय अतिथि को गंगा-यमुना के संगम प्रयाग पर ले गया। यहाँ राजा का यह नियम था कि प्रति पाँचवें वर्ष आकर वह एक सभा करता था और इस प्रकार की यह छठी सभा थी। युआन च्वांग ने विस्तारपूर्वक उन समारोहों का वर्णन किया है जो यहाँ इस समय हुए। हर्ष के सभी अधीनस्थ राजाओं और सभी धर्म-सम्प्रदायों के विद्वानों ने इस सभा में भाग लिया, जो ७५ दिन तक चली। प्रथम दिन बुद्ध भगवान की पूजा हुई। दूसरे और तीसरे दिन क्रमशः सूर्य और शिव की प्रतिमाओं की पूजा हुई। हर्ष ने अपना सब कुछ विसर्जन कर दिया। युआन च्वांग ने लिखा है कि जब हर्ष अपना सब कुछ दे चुका तो उसने अपनी बहिन राज्यश्री से एक जीर्ण वस्त्र की भिक्षा प्राप्त की और उसे पहन कर उसने 'दसों दिशाओं के बुद्धों' की पूजा की।

---

१. आन युआन च्वांग्स ट्रेवेल्स इन इण्डिया, जिल्द पहली, पृष्ठ ३४४

प्रयाग के समारोहों को देखने के बाद दस दिन तक और युआन च्वांग सम्राट हर्ष के साथ रहा और उसके बाद उसने स्थलीय मार्ग से अपने देश के लिए प्रस्थान कर दिया। सम्राट हर्ष ने सेना की एक टुकड़ी के साथ भास्करवर्मा को युआन च्वांग के साथ भेजा, ताकि वह सुरक्षापूर्वक सीमान्त तक सम्माननीय अतिथि को पहुँचा आए। चीनी यात्री के भारत से प्रस्थान के साथ एक बौद्ध शासक के रूप में हर्ष के इस संक्षिप्त विवरण को हम समाप्त कर सकते हैं।

पालि ग्रन्थकार

नागसेन, बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल

यह एक आश्चर्य की बात है कि भारतीय साहित्य में पालि के अतुलनीय महत्त्व और मूल्य का सम्यक् अवधारण भारत में नहीं किया जाता, जैसा कि होना चाहिए। यह अनुभूति नहीं की जाती कि पालि भाषा और साहित्य ने न केवल हमारी आधुनिक भारतीय भाषाओं को प्रभावित किया है, बल्कि उनका प्रभाव सिंहल, बर्मा और स्याम की भाषाओं के विकास पर भी पड़ा है। यह नितान्त स्वाभाविक है कि इस भाषा का गहन अनुशीलन हमारे पड़ोसियों के साथ हमारे सांस्कृतिक सम्बन्धों को शक्तिशाली बनाने में सहायक सिद्ध होगा।

एक अन्य कारण जिसके लिए हमें अब से अधिक पालि के अध्ययन में रुचि उत्पन्न करनी चाहिए, यह है कि पालि साहित्य ऐसी आधारभूत उपादान-सामग्री का भण्डार है जो प्राचीन भारतीय इतिहास के कई एक अन्धकारावृत परिच्छेदों के दुबारा लिखने में हमारे लिए अनमोल सिद्ध होगा। चूँकि यह सम्पूर्ण साहित्य भगवान बुद्ध के व्यक्तित्व के चारों ओर चक्कर लगाता है, इसलिए इस तथ्य ने इसे बौद्ध-धर्म के विद्यार्थियों के लिए और अधिक मूल्यवान बना दिया है। न्यूमैन ने अपने मज्झिम-निकाय के अनुवाद की प्रस्तावना में लिखा है, "जो पालि जानता है, उसे बाहर के प्रकाश की आवश्यकता नहीं है।" यह एक भक्त के हृदय का भावोद्गार-सा भले ही लगे, परन्तु न्यूमैन का कथन सत्य से दूर नहीं है।

पालि लेखकों और बौद्ध-धर्म के व्याख्याकारों में, जिन्होंने भगवान बुद्ध के गहन उपदेशों को समझने में हमारी सहायता की है, चार तेजस्वी नाम प्रमुख रूप से हमारे सामने आते हैं—नागसेन, बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल। "मिलिन्द पन्ह", जिसके संकलनकर्त्ता महास्थविर नागसेन माने जाते हैं, पालि त्रिपिटक के बाद सम्भवतः सबसे अधिक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है।

"मिलिन्द पन्ह" की रचना के सम्बन्ध में जो बात निश्चयपूर्वक कही जा सकती है, वह यह है कि इस ग्रन्थ का प्रणयन मिनान्दर के समय में या उसके बाद, परन्तु बुद्धघोष के समय से पूर्व हुआ, क्योंकि बुद्धघोष ने नागसेन-कृत "मिलिन्द पन्ह" को अनेक बार प्रमाण-स्वरूप उद्धृत किया है। इसका अर्थ यह है कि "मिलिन्द पन्ह" की रचना १५० ई० पूर्व और ४०० ई० के बीच किसी समय हुई। यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाए कि "मिलिंद पन्ह" का ऐतिहासिक आधार भी कुछ न कुछ है, फिर भी इस पर विचार करना बाकी रह ही जाता है कि किसने इस ग्रन्थ का प्रणयन किया, इसका रचना-काल क्या है, क्या इसमें परिवर्द्धन और क्षेपक किए गए और यदि हाँ, तो कब?

यह सुझाव दिया गया है कि "मिलिन्द पन्ह" एक एकात्मताबद्ध रचना नहीं है। इसके विभिन्न अध्याय विभिन्न शैलियों में लिखे गये हैं। अतः यह सम्भव हो सकता है कि कुछ अध्याय बाद में जोड़े गए हों। इस मान्यता का एक अन्तिम सबूत यह है कि इस ग्रन्थ का एक चीनी अनुवाद सन् ३१७ और ४२० ई० के बीच "नागसेन-सूत्र" के नाम से हुआ और वहाँ "मिलिन्द पन्ह" के केवल प्रथम तीन परिच्छेद ही पाए जाते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि बाकी चार अध्याय "मिलिन्द पन्ह" में बाद में जोड़े गए। एक दूसरी बात जिससे उपर्युक्त मान्यता को समर्थन मिलता है यह है कि "मिलिन्द पन्ह" के तृतीय परिच्छेद के अन्त में यह कहा गया है कि मिलिन्द के प्रश्न समाप्त हो गए और चतुर्थ अध्याय का प्रारम्भ एक नए ढंग से होता है। उत्तरकालीन परिवर्द्धनों और क्षेपकों के लिए पूरी सम्भावना मानते हुए भी हमारे लिए इस मान्यता को सर्वथा दूर हटा देना उचित न होगा कि नागसेन या जो कोई भी इस ग्रन्थ का लेखक रहा हो, उसने "मिलिन्द पन्ह" को उसी रूप में लिखा, जिसमें वह आज हमारे सामने आया है, क्योंकि यह असम्भव नहीं है कि चीनी अनुवादक ने ही अपने अनुवाद को प्रथम तीन अध्यायों तक सीमित रखना उचित समझा हो।

"मिलिन्द पन्ह" जैसा हमें वह आज मिलता है, सात अध्यायों में है। इनमें से प्रथम अध्याय अधिकांश व्यक्तिगत और ऐतिहासिक है, जबकि शेष सब अध्याय सैद्धान्तिक हैं। यह एक आश्चर्यजनक बात है कि नागसेन ने अपने और राजा मिनान्दर के पूर्व जन्म के सम्बन्ध में तो सूचना देने का बहुत प्रयास किया है, परन्तु वर्तमान जीवन के सम्बन्ध में अधिक सूचना नहीं दी है। आत्म-विलोप की सीमा तक पहुँचने वाली विनम्रता हमारे प्राचीन लेखकों की एक साधारण प्रवृत्ति रही है। "मिलिन्द पन्ह" से इतनी सूचना तो निश्चयतः निकाली जा सकती है कि

स्थविर नागसेन का जन्म-स्थान कजंगल नामक प्रसिद्ध स्थान था जो हिमालय के समीप मध्य-देश की पूर्वी सीमा पर स्थित था और उनके पिता सोणुत्तर नामक एक ब्राह्मण थे। जब नागसेन तीनों वेद, इतिहास और अन्य विषयों के अच्छे जानकार हो गए तो उन्होंने स्थविर रोहण से बुद्ध के सिद्धान्तों को पढ़ा और तदनन्तर भिक्षु-संघ में प्रवेश किया। उसके बाद उन्होंने वत्तनिय के स्थविर अस्सगुप्त (अश्वगुप्त) की शिष्यता में अध्ययन किया। इसके बाद वे पाटलिपुत्र (पटना) गए, जहाँ उन्होंने बुद्ध-धर्म का विशेष अध्ययन किया। अन्त में वे सागल के संखेय्य-परिवेण में गए, जहाँ राजा मिलिन्द उनसे मिला।

मिनान्दर अपने समकालीन धर्म-गुरुओं से सन्तुष्ट नहीं था और उसके दर्प के भाव इन शब्दों में प्रकट हुए : "तुच्छ है यह जम्बुद्वीप ! प्रलाप मात्र है यह जम्बुद्वीप ! यहाँ ऐसा कोई श्रमण या ब्राह्मण नहीं है जो मेरे साथ वाद कर सके।" परन्तु स्थविर नागसेन के रूप में उसे एक ऐसा व्यक्ति मिल गया, जिसने न केवल अपनी उच्चतर मेधा-शक्ति से बल्कि अपने प्रभावशाली और दूसरे को मनवाने के लिए बाध्य करने वाले शब्द-संचय से उसे पूरी तरह पराभूत कर दिया। कहा गया है कि जैसे ही मिलिन्द और नागसेन एक-दूसरे से मिले, राजा ने भिक्षु से पूछा, "भन्ते ! आपका नाम क्या है ? आप किस नाम से पुकारे जाते हैं ?" नागसेन ने उत्तर दिया, "महाराज ! मेरा नाम नागसेन है। मेरे गुरु-भाई मुझे इसी नाम से पुकारते हैं। माता-पिता अपने पुत्रों के इस प्रकार के नाम रख देते हैं, जैसे नागसेन, शूरसेन आदि, परन्तु ये सभी केवल व्यवहार करने के लिए संज्ञाएँ भर हैं, क्योंकि यथार्थ में ऐसा कोई एक पुरुष (आत्मा) नहीं है।" बस नागसेन के इस उत्तर से प्रश्न और उत्तरों का एक तांता प्रारम्भ हो गया, जिसके परिणाम-स्वरूप नागसेन ने मिलिन्द को रथ की उपमा देते हुए बताया कि जिस प्रकार दण्ड, अक्ष, चक्के इत्यादि रथ के अवयवों के आधार पर व्यवहार के लिए "रथ" ऐसा एक नाम कहा जाता है, उसी प्रकार स्कन्धों के होने से एक सत्त्व (जीव) समझा जाता है।

पालि त्रिपिटक की बात यदि हम छोड़ दें तो अनात्मवाद का इतना अधिक गम्भीर और मन को लगने वाला प्रख्यापन सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य में अन्यत्र नहीं मिलता। इस प्रकार "मिलिन्द पन्ह" में हमें बौद्ध तत्वज्ञान की ही नहीं, बौद्ध नीति-शास्त्र और मनोविज्ञान की भी विस्तृत व्याख्या मिलती है। बौद्ध ग्रन्थ के रूप में इसके महत्त्व के अलावा, यह ऐतिहासिक और साहित्यिक दृष्टियों से भी एक मूल्यवान रचना है। प्रथम शताब्दी ईसवी के गद्य साहित्य का अनुत्तर साक्ष्य

हमें "मिलिन्द पन्ह" में मिलता है। संक्षेप में, तत्वज्ञान, साहित्य, इतिहास या भौगोलिक ज्ञान, किसी भी दृष्टि से हम देखें, "मिलिन्द पन्ह" का भारतीय साहित्य में अपना एक अलग स्थान है। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि सम्पूर्ण अनुपिटक साहित्य में कोई ऐसा बौद्ध ग्रन्थ नहीं है, जिसकी तुलना "मिलिन्द पन्ह" से की जा सके।

काल-क्रम की दृष्टि से "मिलिन्द पन्ह" के बाद पालि-त्रिपिटक के विभिन्न ग्रन्थों की अट्ठकथाएँ (व्याख्याएँ) लिखी गईं। परम्परा के अनुसार इनमें से आधी से अधिक आचार्य बुद्धघोष द्वारा रचित बताई जाती हैं। आचार्य बुद्धघोष पालि त्रिपिटक के सबसे बड़े अट्ठकथाकार थे।

आचार्य बुद्धघोष के जीवन और कार्य का विवेचन करने से पूर्व हमारे लिए यह वांछनीय होगा कि हम पहले आचार्य बुद्धदत्त के सम्बन्ध में कुछ विवरण दें। आचार्य बुद्धदत यद्यपि बुद्धघोष के समकालीन थे, परन्तु लंका में यह आचार्य बुद्धघोष से पहले गए थे। लंका में बुद्ध-वचनों का अध्ययन करने के पश्चात् जब आचार्य बुद्धदत्त भारत के लिए लौट रहे थे तो उनकी नाव का मिलान उस नाव से हुआ, जिसमें बैठकर आचार्य बुद्धघोष भारत से लंका जा रहे थे। जैसे वे एक-दूसरे से मिले, उन्होंने एक-दूसरे का अभिनन्दन किया और परिचय प्राप्त किया। आचार्य बुद्धघोष ने कहा, "भगवान् बुद्ध के सिद्धान्त (व्याख्याएँ) सिंहली भाषा में उपलब्ध हैं। मैं उन्हें मागधी भाषा में रूपान्तरित करने के लिए सिंहल जा रहा हूँ।" बुद्धदत ने उत्तर दिया, "आयुष्मन्! मैं भी सिंहल में इसी उद्देश्य के लिए आया था, परन्तु अब मेरी आयु थोड़ी है, मैं इस कार्य को समाप्त न कर सकूँगा।" जब ये दोनों स्थविर इस प्रकार संलाप कर रहे थे, तो नावें चल दीं और फिर उनकी बातें सुनाई नहीं दीं।

ऐसा लगता है कि जब उन्होंने एक-दूसरे से विदाई ली तो बुद्धदत्त ने बुद्धघोष से यह प्रार्थना की कि वे उन्हें अपनी अट्ठकथाओं की प्रतियाँ भारत भेजते रहें, जैसा बुद्धघोष ने सम्भवतः किया भी। बुद्धदत ने बाद में बुद्धघोष द्वारा की हुई अभिधर्म पिटक की अट्ठकथाओं का संक्षेप अभिधम्मावतार में और विनय-पिटक की अट्ठकथाओं का संक्षेप विनय-विनिच्छय में किया। आचार्य बुद्धदत्त चोल राज्य में उरगपुर (वर्तमान उरईपुर) के निवासी थे। आचार्य बुद्धघोष के समान उन्होंने भी अनुराधपुर के महाविहार में रह कर बुद्ध-धर्म का अध्ययन किया था। सिंहल से लौटकर उन्होंने कावेरी नदी के तट पर स्थित एक विहार में बैठकर, जिसे कृष्णदास या विष्णुदास नामक एक वैष्णव ने बनवाया था, अपने ग्रन्थों की रचना की।

बुद्धदत्त के ग्रन्थों में अभिधम्मावतार का स्थान सबसे ऊँचा है । यद्यपि यह बुद्धघोष द्वारा अभिधम्म-पिटक पर की गई अट्ठकथाओं का संक्षेप ही है, फिर भी बुद्धदत्त ने बुद्धघोष का अन्धानुकरण नहीं किया है । बुद्धघोष ने पाँच दार्शनिक तत्त्व रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान माने हैं, परन्तु आचार्य बुद्धदत्त ने उनका वर्गीकरण और विवेचन चित्त, चेतसिक, रूप और निब्बाण (निर्वाण) के रूप में किया है ।

अब हम अनुपिटक साहित्य के सबसे बड़े नाम (बुद्धघोष) की ओर आते हैं । बुद्ध-शासन की सेवा और उसे चिर-स्थिति प्रदान करने के लिए बुद्धघोष ने क्या किया ? यह निश्चित है कि उनके समान अन्य कोई उदाहरण नहीं है । न केवल विशालता की दृष्टि से बल्कि महत्त्व की दृष्टि से भी यह विश्वसनीय नहीं मालूम पड़ता कि एक व्यक्ति ने पालि साहित्य की समृद्धि में इतना बड़ा योग किस प्रकार दिया !

आचार्य बुद्धघोष के व्यक्तिगत जीवन पर जिन ग्रन्थों से कुछ प्रकाश पड़ता है, उनमें केवल महावंस ही ऐसा है जो समाश्रयणीय सामग्री देने का दावा कर सकता है । महावंस के अलावा बुद्धघोसुपत्ति, गन्धवंस और सासनवंस जैसे ग्रन्थ भी हैं, परन्तु उनमें उपयोगी सूचना अल्प मात्रा में ही पाई जाती है ।

महावंस के अनुसार बुद्धघोष का जन्म बोध-गया के समीप हुआ । एक मत यह भी है कि तेलंग देश उनकी जन्म-भूमि है । बर्मी लोगों का दावा है कि आचार्य बुद्धघोष का जन्म उनके देश में हुआ । सत्य कुछ भी हो, यह विश्वास किया जाता है कि आचार्य बुद्धघोष ने एक लम्बे समय तक बोध-गया में निवास किया । इस समय बोध-गया विहार सिंहल के भिक्षुओं के हाथ में था । चतुर्थ शताब्दी ईसवी में लंकाधिराज कीर्ति श्री मेघवर्ण ने महाराज समुद्रगुप्त की अनुमति से बोध-गया में वज्रासन की पूजार्थ आने वाले सिंहली तीर्थ यात्रियों की सुविधा के लिए एक विहार बनवाया था ।

बुद्धघोष के समय में भारत में पालि बौद्ध-धर्म इतना लोक-प्रिय नहीं रह गया था । संस्कृत का प्रभाव बढ़ रहा था । बौद्ध विद्वानों ने भी उसे अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में स्वीकार कर लिया था । प्रथम शताब्दी ईसवी के आचार्य अश्वघोष ने संस्कृत में अपनी काव्य-कृतियाँ लिखीं । इसी प्रकार नागार्जुन, वसुबन्धु और दिङ्नाग जैसे महान विचारकों ने संस्कृत में लिखा । गुप्तवंशीय राजाओं ने भी पालि में कोई अभिरुचि नहीं दिखाई और संस्कृत को ही संरक्षण दिया । इस प्रकार पालि और थेरवाद (स्थविरवाद) दोनों धीरे-धीरे भारत में नगण्य अवस्था को प्राप्त हुए ।

परन्तु बोध-गया के भिक्षु, पाँचवी शताब्दी में भी, जब बुद्धघोष भिक्षु-संघ में प्रविष्ट हुए, पालि के प्रति वही अचल निष्ठा रखते थे। उस समय बोध-गया के महाविहार के प्रधान महास्थविर रेवत थे।

उन दिनों हमारे देश में शास्त्रार्थों का होना एक सामान्य बात थी। घोष[1], जो वेद-वेदांग में पारंगत और तर्क-विचक्षण था, प्रतिवादियों की तलाश में इधर-उधर घूमने लगा। एक दिन महास्थविर रेवत ने उसे पतंजलि के सूत्रों का पाठ करते देखा। महास्थविर उसके उच्चारण की शुद्धता देखकर इतने प्रभावित हो गए कि सम्भवतः उसको बुद्ध-धर्म में दीक्षित करने के उद्देश्य से ही उन्होंने उससे शास्त्रार्थ करने का निश्चय किया। घोष ने महास्थविर से पूछा, "क्या तुम इन सूत्रों को समझते हो?" भिक्षु का उत्तर था, "हाँ, मैं समझता हूँ, वे दोष-युक्त हैं"।

महास्थविर रेवत ने योग-सूत्रों की इस प्रकार समालोचना की कि घोष अवाक् रह गया। तदनन्तर घोष की प्रार्थना पर महास्थविर रेवत ने अपने सिद्धान्त के प्रख्यापन-स्वरूप अभिधम्म-पिटक की कुछ पंक्तियों को पढ़ा, जिन्हें घोष न समझ सका और उसने पूछा,"यह किसका मन्त्र है?" महास्थविर ने उत्तर दिया, "यह बुद्ध-मन्त्र है।" घोष ने फिर पूछा, "क्या आप मुझे इसे सिखा देंगे?" महास्थविर का उत्तर था, "यदि तुम नियमानुसार संघ में प्रवेश करो।" घोष की उपसम्पदा हुई और तब से वह 'बुद्धघोष' कह कर पुकारा जाने लगा। महास्थविर रेवत की शिष्यता में बुद्धघोष ने धर्म और विनय का अध्ययन किया और बुद्ध के सिद्धान्तों के सबसे बड़े व्याख्याता के रूप में उनकी ख्याति हुई।

जिस विहार में बुद्धघोष की उपसम्पदा हुई थी, वहीं निवास करते हुए उन्होंने अपनी पहली पुस्तक "आणोदय" लिखी। तदनन्तर उन्होंने 'धम्मसंगणि' की अट्ठकथा 'अट्ठसालिनी' लिखी। इसके बाद जब वे परित्त-सूत्रों की अट्ठकथा लिखने वाले थे, तो उनके गुरु महास्थविर रेवत ने उनसे कहा, "यहाँ सिंहल से केवल मूल त्रिपिटक ही लाया गया है। यहाँ न अट्ठकथाएँ हैं और न विभिन्न आचार्यों की परम्पराएँ। परन्तु सिंहल द्वीप में महामति महेन्द्र द्वारा मूलतः ले जाई गई और बाद में सिंहली भाषा में अनुवादित अट्ठकथाएँ हैं। तुम वहाँ जाओ, उनका अध्ययन करो और फिर मागधी भाषा में उनका रूपान्तर करो, ताकि वे सब लोगों के लिए हितकारी हों।"

---

१. यह बुद्धघोष का मौलिक नाम माना जाता है।

अपने गुरु से इस प्रकार आदेश पाकर बुद्धघोष श्रीलंका गए। इस समय वहाँ महानाम नामक राजा राज्य कर रहा था। महाविहार के महाप्रधान नामक भवन में रह कर आचार्य बुद्धघोष ने स्थविर संघपाल से सम्पूर्ण सिंहली अट्ठकथाओं और आचार्यों की परम्पराओं को सुना। उन्हें निश्चय हो गया कि धर्म-स्वामी भगवान बुद्ध का यही अभिप्राय है। तब उन्होंने भिक्षु-संघ से यह विनम्र प्रार्थना की, "मैं अट्ठकथाओं का अनुवाद सिंहली भाषा से मागधी भाषा में करना चाहता हूँ। मुझे सब पुस्तकों को देखने की अनुमति दी जाए।" तब भिक्षुओं ने उनकी योग्यता की परीक्षा के लिए उन्हें दो पालि गाथाएँ दीं और उनकी व्याख्या करने के लिए कहा। बुद्धघोष ने उन दो गाथाओं के व्याख्यास्वरूप सम्पूर्ण त्रिपिटक के सिद्धान्तों का संकलन ही कर दिया और उसे "विसुद्धि-मग्ग" (विशुद्धि-मार्ग) नाम दिया। इससे अत्यधिक सन्तुष्ट होकर भिक्षुओं ने उन्हें अपने समग्र साहित्य को देखने की अनुमति दे दी। अनुराधपुर के ग्रन्थकार-परिवेण में निवास करते हुए आचार्य बुद्धघोष ने सिंहली अट्ठकथाओं के मागधी रूपान्तर किए। इसके बाद वे अपनी मातृ-भूमि भारत लौट आए, जहाँ आकर उन्होंने बोधि-वृक्ष की पूजा की।

प्रोफेसर धर्मानन्द कोसम्बी जैसे विद्वान कुछ कारणों से उत्तर-भारत को बुद्धघोष की जन्म-भूमि न मानकर बर्मी परम्परा के अनुसार दक्षिण-भारत को यह गौरव प्रदान करते हैं। प्रोफेसर कोसम्बी इस बात में भी सन्देह करते हैं कि बुद्धघोष ब्राह्मण थे। हम महावंस की इस परम्परा को मानने में कोई गम्भीर आपत्ति नहीं देखते कि बुद्धघोष ब्राह्मण थे और उनका जन्म उत्तरी भारत में हुआ था।

यह ठीक पता नहीं है कि इस महान पालि-व्याख्याकार का निर्वाण कहाँ हुआ? कम्बोडिया में एक प्राचीन विहार है, जिसका नाम, 'बुद्धघोष-विहार' है और वहाँ एक जीवित परम्परा यह है कि बुद्धघोष ने अपने जीवन के अन्तिम दिनों को उस देश में बिताया था। इस विश्वास में सन्देह करने का कोई कारण दिखाई नहीं पड़ता।

बुद्धघोष का सर्वप्रथम ग्रन्थ जिसे उन्होंने सिंहल में लिखा "विसुद्धि मग्ग" था। "महावंस" में इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में लिखा है कि "अट्ठकथाओं के सहित सम्पूर्ण त्रिपिटक का यह संक्षेप ही है"।

बुद्धघोष के अन्य ग्रन्थों के सम्बन्ध में हम उनके काल-क्रम का ठीक निश्चय नहीं कर सकते, क्योंकि प्रायः प्रत्येक अट्ठकथा में दूसरी अट्ठकथाओं का उल्लेख है। अतः आन्तरिक साक्ष्य इसमें हमारी सहायता नहीं करता। समन्तपासादिका विनय-पिटक की अट्ठकथा है। थेर बुद्ध सिरि की प्रार्थना पर यह विस्तृत अट्ठकथा लिखी

गई थी। इसके अलावा, बुद्धघोष ने पातिमोक्ख पर भी एक अट्ठकथा लिखी, जिसका नाम "कंखावितरणी" या "मातिकट्ठकथा" था। यह भी महाविहार की परम्परा पर आधारित थी और स्थविर सोण की प्रार्थना पर लिखी गई थी।

बुद्धघोष ने प्रथम चार निकायों पर भी अट्ठकथाएँ लिखीं। इस प्रकार दीघ-निकाय पर सुमंगलविलासिनी, मज्झिम-निकाय पर पपंचसूदनी, संयुत्त-निकाय पर सारत्थप्पकासिनी और अंगुत्तर-निकाय पर मनोरथपूरणी, ये चार अट्ठकथाएँ लिखी गईं। सुमंगलविलासिनी सुमंगल परिवेण के स्थविर दाठानाग की प्रार्थना पर लिखी गई थी। पपंचसूदनी की रचना थेर बुद्धमित्त की प्रार्थना पर हुई थी। स्थविर बुद्धमित्त आचार्य बुद्धघोष के मित्र थे, जिनके साथ वे दक्षिण-भारत के मयूर-पट्टन नामक विहार में रहे थे। सारत्थप्पकासिनी एक दूसरे स्थविर ज्योतिपाल (जोतिपाल) की प्रार्थना पर लिखी गई थी। यह कहा जाता है कि खुद्दक-निकाय के चार ग्रन्थों यथा धम्मपद, जातक, खुद्दकपाठ और सुत्त-निपात, पर भी बुद्धघोष ने अट्ठकथाएँ लिखीं। धम्मपदट्ठकथा के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का मत है कि यह बुद्धघोष-रचित नहीं है। शैली की विभिन्नता इसका मुख्य कारण बताई जाती है, परन्तु यह विषय की विभिन्नता के कारण भी हो सकती है। जातकट्ठकथा की रचना आचार्य बुद्धघोष ने अत्थदस्सी, बुद्धमित्त और बुद्धदेव नामक तीन स्थविरों की प्रार्थना पर की थी। खुद्दक-पाठ और सुत्त-निपात की अट्ठकथा का नाम परमत्थजोतिका है। अधिक सम्भावना यही है कि ये दोनों अट्ठकथाएँ आचार्य बुद्धघोष के द्वारा न लिखी जाकर इसी नाम के किसी अन्य व्यक्ति द्वारा लिखी गई थीं।

अभिधम्म-पिटक के सात ग्रन्थों पर भी आचार्य बुद्धघोष ने अट्ठकथाएँ लिखी हैं। इनमें अट्ठसालिनी धम्मसंगणि की अट्ठकथा है और सम्मोहविनोदनी विभंग की। शेष पाँच ग्रन्थों अर्थात् धातु-कथा, कथा-वत्थु, पुग्गलपञ्ञत्ति, यमक और पट्ठान की अट्ठकथाओं का संयुक्त नाम "पञ्चप्पकरणट्ठकथा" है। ये सब अट्ठकथाएँ प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं और महाविहार की परम्परा पर आधारित हैं।

बुद्धघोष के बाद एक अन्य अट्ठकथाकार का नामोल्लेख करना भी यहाँ आवश्यक होगा। यह थेर धम्मपाल हैं जो भारत के दक्षिण-पूर्वी किनारे पर बदरि-तित्थ नामक स्थान में रहते थे। सम्भवतः उनका जन्म भी दक्षिण-भारत में हुआ था। चूँकि उनकी अट्ठकथाओं में बुद्धघोष के नाम का उल्लेख है, अतः यह निश्चित है कि वे बुद्धघोष के बाद हुए। खुद्दक-निकाय के जिन ग्रन्थों पर आचार्य बुद्धघोष ने अट्ठकथाएँ नहीं लिखीं, इन पर अट्ठकथाएँ लिखने का काम आचार्य धम्मपाल ने किया। इस प्रकार धम्मपाल ने उदान, इतिवुत्तक, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरीगाथा

और चरियापिटक पर अट्ठकथाएँ लिखीं, जिनका संयुक्त नाम "परमत्थदीपनी" है। बुद्धघोष-कृत "विसुद्धि-मग्ग" पर उन्होंने "परमत्थमंजूसा" नामक टीका भी लिखी। धम्मपाल की अट्ठकथाएँ भी मौलिक सिंहली ग्रन्थों पर आधारित हैं और यह सम्भव है कि आचार्य धम्मपाल ने द्रविड़ भाषा में लिखित व्याख्याओं का भी कुछ आश्रय लिया हो, जो उन्हें दक्षिण-भारत में प्राप्त हो सकीं। पालि अट्ठकथाओं की तुलना अक्सर भाष्य-साहित्य से की जाती है, परन्तु यह सर्वांश में ठीक नहीं है। पालि अट्ठकथाओं की अपनी विशेषताएँ हैं जो संस्कृत के भाष्य-साहित्य में बिल्कुल नहीं मिलतीं। उदाहरणतः पालि अट्ठकथाकारों ने जिस ऐतिहासिक बुद्धि का परिचय दिया है, उस जैसी कोई वस्तु हमें संस्कृत के भाष्य-साहित्य में नहीं मिलती।

संस्कृत ग्रन्थकार

अश्वघोष, नागार्जुन, बुद्धपालित और भावविवेक, असंग और वसुबन्धु, दिङ्नाग और धर्मकीर्ति

जबकि थेरवाद बौद्ध-धर्म का साहित्य पालि में है, सर्वास्तिवादियों ने (जो हीनयानियों में गिने जाते हैं) तथा महायानियों ने संस्कृत को अपने धार्मिक साहित्य का माध्यम चुना है। संस्कृत बौद्ध-धर्म के इतिहास से सम्बन्धित कुछ ग्रन्थकारों का विवेचन यहाँ किया जाता है।

कनिष्क के समकालीन अश्वघोष एक महान बौद्ध कवि और दार्शनिक थे। न केवल बौद्ध दर्शन के इतिहास में, बल्कि संस्कृत काव्य की सम्पूर्ण परम्परा में उनका एक अपना स्थान है। महाकवि अश्वघोष, बाल्मीकि के, जिन्हें उन्होंने 'आदि कवि' और 'धीमान्' कह कर पुकारा है, एक महत्त्वपूर्ण उत्तराधिकारी थे और स्वयं कालिदास और भास के पूर्वगामी थे। भारत और उसके बाहर अनेक विद्वानों का विश्वास है कि कालिदास अनेक बातों में उनके ऋणी थे। बौद्ध विचार के इतिहास में सबसे महान कार्य जो अश्वघोष ने किया है, वह है बुद्ध-भक्ति पर उनके द्वारा बल देना। यद्यपि महायानी शिक्षाएँ अश्वघोष के समय से प्रायः दो या तीन शताब्दी पूर्व प्रचार में आ रही थीं, परन्तु उनकी सर्वप्रथम प्रभावशाली अभिव्यक्ति अश्वघोष की रचनाओं में ही हुई है, यद्यपि स्वयं अश्वघोष सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के अनुयायी थे।

अश्वघोष के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में हमारी जानकारी बहुत कम है। अपनी काव्य-कृतियों के अन्त में जो अल्प सूचना महाकवि ने दी है, उससे ज्ञात होता है कि वे साकेत (अयोध्या) के निवासी थे और उनकी माता का नाम सुवर्णाक्षी

था। बुद्ध-चरित, सौन्दरानन्द और सारिपुत्र-प्रकरण, इन अपनी तीन प्रसिद्ध काव्य-कृतियों में से प्रत्येक के अन्त में कवि ने कहा है, "आर्यसुवर्णाक्षीपुत्रस्य साकेतकस्य भिक्षोराचार्यभदन्ताश्ववोषस्य महाकवेर्महावादिनः कृतिरियम्।" इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि अश्वघोष एक महान कवि होने के साथ-साथ एक विद्वान आचार्य, आदरणीय बौद्ध-भिक्षु और न्यायविद्या में पारंगत एक महान तार्किक भी थे।

बुद्ध-चरित और सौन्दरानन्द महाकवि अश्वघोष के दो महत्त्वपूर्ण काव्य-ग्रन्थ हैं। बुद्ध-चरित एक महाकाव्य है, जिसमें एक उदात्त और परिशुद्ध शैली में, यद्यपि काफी संयम के साथ, बुद्ध की जीवनी का वर्णन किया गया है। यह काव्य अपने मौलिक रूप में, जैसा कि वह सातवीं शताब्दी ईस्वी में इ-त्सिंग को चीनी अनुवाद में विदित था, २८ सर्गों में था। तिब्बती अनुवाद में भी इतने ही सर्ग हैं। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस महाकाव्य के मौलिक संस्कृत रूप में भी इतने ही सर्ग रहे होंगे। इनमें से आज संस्कृत में केवल १७ सुरक्षित हैं, जिनमें भी प्रारम्भ के केवल १३ सर्ग ही प्रामाणिक माने जाते हैं। इ-त्सिंग ने लिखा है कि उनके समय में यह मनोरम काव्य भारत के पाँचों भागों तथा दक्षिणी समुद्र के देशों में सब जगह पढ़ा और गाया जाता था। इस महाकाव्य में अश्वघोष ने हमें भगवान बुद्ध के जीवन और उपदेशों का सर्वोत्तम विवरण ही नहीं दिया है, बल्कि भारत की पौराणिक परम्पराओं के सम्बन्ध में अपने विश्वकोश जैसे ज्ञान तथा प्राग्बौद्धकालीन दार्शनिक नयों, विशेषतः सांख्य, के सम्बन्ध में अपनी बहुज्ञता का भी परिचय दिया है। सौन्दरानन्द काव्य में भगवान बुद्ध के द्वारा अपने मौसेरे भाई नन्द को उप-सम्पादित करने का वर्णन है।

उपर्युक्त दो महत्त्वपूर्ण काव्य-ग्रन्थों के अतिरिक्त अश्वघोष ने तीन नाटक भी लिखे, जिनकी खोज एच० लूडर्स ने इस शताब्दी के आरम्भ में मध्य-एशिया के तुर्फान प्रान्त में की। इनमें सारिपुत्र प्रकरण, जो नौ अंकों में एक प्रकरण है, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। संस्कृत साहित्य का यह प्राचीनतम नाटक है जो अभी तक प्राप्त हुआ है। अश्वघोष ने एक गीति-काव्य भी लिखा जिसका नाम "गण्डी-स्तोत्र गाथा" है। इसमें स्रग्धरा छन्द में लिखी हुई २६ गाथाएँ हैं। ई० एच० जोहस्टन ने इसके अश्वघोष-कृत होने में सन्देह प्रकट किया है। परन्तु विंटरनित्ज़ का कहना है कि, "यह एक सुन्दर रचना है जो रूप और विषय दोनों दृष्टियों से अश्वघोष के अनुरूप है।" [1]

---

१. हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, (कलकत्ता विश्वविद्यालय, १६३३), पृष्ठ २६६।

नागार्जुन, जो शातवाहन राजा यज्ञश्री गौतमीपुत्र (१६६—१९६ ई०) के समकालिक और मित्र थे, एक अति उच्च व्यक्तित्व के बौद्ध दार्शनिक थे। बौद्ध दर्शन के इतिहास में उन्होंने एक युग का निर्माण किया और उसे एक नया मोड़ दिया। उन्होंने बौद्ध दर्शन के माध्यमिक सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया, जो शून्यवाद भी कहलाता है। नागार्जुन के समान तार्किक विश्व-इतिहास में कोई दूसरा नहीं हुआ। उनका महान दार्शनिक ग्रन्थ माध्यमिककारिका या माध्यमिक-शास्त्र है, जिसमें २७ परिच्छेदों में ४०० कारिकाएँ हैं। यह उनके दर्शन का आधारभूत ग्रन्थ है। महायान-सूत्रों में निहित उपदेशों का इस ग्रन्थ में संक्षेप किया गया है। इसमें ऊँची दार्शनिक उड़ान और लेखक की तर्क-विद्या में सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का परिचय मिलता है। इस एक ग्रन्थ से पता लग जाता है कि कितने महान मेधावी पुरुष नागार्जुन थे और किस प्रकार वे हमारे अतीत और वर्तमान के चिन्तकों में सबसे अधिक तेज के साथ चमकते हैं।

नागार्जुन की जीवनी के अनुसार, जिसका अनुवाद चीनी भाषा में कुमारजीव ने सन् ४०५ ई० में किया, नागार्जुन का जन्म दक्षिण-भारत में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। युआन च्वांग का कहना है कि उनका जन्म दक्षिण कोशल या प्राचीन विदर्भ (बरार) में हुआ था। नागार्जुन ने सम्पूर्ण त्रिपिटक का ६० दिन में अध्ययन कर लिया, परन्तु इससे उनको सन्तोष नहीं हुआ। हिमालय के निवासी एक अत्यन्त वृद्ध भिक्षु से उन्हें महायान-सूत्र प्राप्त हुए, परन्तु उनके जीवन का अधिकांश समय दक्षिण-भारत के श्री पर्वत या श्री शैलम् में बीता, जिसे उन्होंने बौद्ध-धर्म के प्रचार का एक अद्वितीय केन्द्र बना दिया। तिब्बती वर्णनों का कहना है कि नागार्जुन कुछ दिन नालन्दा में भी रहे। युआन च्वांग ने संसार को प्रकाशित करने वाले चार सूर्यों का उल्लेख किया है। उनमें एक नागार्जुन थे। शेष तीन थे अश्वघोष, कुमारलब्ध (कुमारलात) और आर्यदेव। निःसन्देह, एक विचारक के रूप में, नागार्जुन की भारतीय दर्शन के इतिहास में तुलना करने वाला कोई दूसरा नहीं है। टी० वाटर्स ने नागार्जुन को ठीक ही "उत्तरकालीन बौद्ध-धर्म का एक महान आश्चर्य और रहस्य" कहा है।[1]

चीनी अनुवादों में प्राप्त करीब बीस रचनाएँ नागार्जुन-कृत बताई जाती हैं। उनमें से १८ का उल्लेख बुनियु नंजियो ने अपनी पुस्तक-सूची में नागार्जुन-कृत रचनाओं के रूप में किया है। जैसा हम अभी निर्देश कर चुके हैं, नागार्जुन की

---

१. आन युआन च्वांग्स ट्रैवेल्स इन इण्डिया, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २०३।

प्रमुख रचना माध्यमिक-कारिका या माध्यमिक-शास्त्र है। नागार्जुन ने स्वयं इस ग्रन्थ की व्याख्या की जो "अकुतोभया" के नाम से प्रसिद्ध है।[1] यहाँ नागार्जुन की एक अन्य कृति का और निर्देश कर देना चाहिए और वह है "सुहृल्लेख", जिसे उन्होंने एक पत्र के रूप में अपने मित्र यज्ञश्री गौतमीपुत्र को लिखा। इ-त्सिंग ने अपनी भारत-यात्रा के समय इस प्रभूत नैतिक महत्त्व वाली रचना को बालकों के द्वारा कण्ठस्थ किए जाते और वयस्कों के द्वारा जीवन-पर्यन्त अनुशीलन किए जाते देखा था। यह रचना हमें असन्दिग्ध रूप से बताती है कि नागार्जुन ध्वंसात्मक विचारक मात्र न थे, बल्कि नीति और सदाचार का उनके दर्शन में भी उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान है जितना अन्य किसी दार्शनिक नय में।

नागार्जुन द्वारा प्रतिपादित शून्यवाद के मुख्य व्याख्याकारों में यहाँ स्थविर बुद्धपालित और भावविवेक (या भव्य) का नामोल्लेख करना आवश्यक होगा। ये दोनों विचारक पाँचवीं शताब्दी ईसवी में आविर्भूत हुए और बौद्ध दर्शन के इतिहास में उनका विशेष महत्त्व इस कारण है कि उन्होंने तर्क के क्रमशः 'प्रासंगिक' और 'स्वातन्त्र' सम्प्रदायों की स्थापना की। आर्यदेव, शान्तिदेव, शान्तरक्षित और कमलशील माध्यमिक सम्प्रदाय के अन्य प्रसिद्ध विचारक हैं।

दो तेजस्वी बन्धु, असंग और वसुबन्धु, जिनका समय ईसा की चौथी शताब्दी है, उन सृजनात्मक विचारकों में हैं, जिन्होंने बौद्ध दर्शन के शास्त्रीय युग को जन्म दिया। असंग वसुबन्धु के बड़े भाई थे। वसुबन्धु से छोटे एक और भाई थे जिनका नाम विरिञ्चिवत्स था। इस प्रकार ये तीन भाई थे। असंग और वसुबन्धु का जन्म गन्धार देश के पुरुषपुर (पेशावर) नगर में हुआ था। वे कौशिक गोत्र के ब्राह्मण थे और वैदिक ज्ञान में पारंगत थे। उनकी शिक्षा कश्मीर में हुई, जहाँ उन्होंने विभाषा-शास्त्र को पढ़ा। प्रारम्भ में असंग और वसुबन्धु सर्वास्तिवाद के अनुयायी थे, जिसका उन दिनों काश्मीर और गन्धार में बोलबाला था। उन्होंने कुछ दिनों के लिए अयोध्या की भी यात्रा की। वसुबन्धु के जीवनी-लेखक परमार्थ का कहना है कि वसुबन्धु की मृत्यु अयोध्या में ही अस्सी वर्ष की अवस्था में हुई।

असंग योगाचार या विज्ञानवाद बौद्ध मत के सबसे अधिक प्रभावशाली आचार्य माने गए हैं। उन्हीं की प्रेरणा से उनके अनुज वसुबन्धु ने भी सर्वास्तिवाद को छोड़कर विज्ञानवाद का सहारा लिया। असंग मैत्रेयनाथ के शिष्य थे जिन्हें

---

1. तिब्बती पाठ का संस्कृत-अनुवाद स्वर्गीया कुमारी इन्दु दातार ने बम्बई विश्व-विद्यालय की डाक्टर की उपाधि के लिए किया था, जो अभी प्रकाशित नहीं हुआ है।

विज्ञानवाद का प्रवर्तक माना जाता है। असंग के मुख्य ग्रन्थ हैं—महायान-संपरिग्रह, प्रकरण-आर्यवाचा, योगाचार-भूमि-शास्त्र और महायान सूत्रालंकार।[1] अन्तिम दो कृतियों का नैतिक और सैद्धान्तिक दृष्टियों से बहुत अधिक महत्त्व है। योगाचार-भूमि-शास्त्र के मूल संस्कृत रूप की खोज महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने की है। यह ग्रन्थ १७ भूमियों में विभक्त है और योगाचार मत के अनुसार साधना-मार्ग का वर्णन करता है। महायान-सूत्रालंकार असंग और उनके गुरु मैत्रेयनाथ की संयुक्त रचना है। कारिकाएँ मैत्रेयनाथ के द्वारा लिखी गई थीं और उनकी व्याख्या असंग के द्वारा।

वसुबन्धु, जिन्होंने अपने अग्रज असंग की प्रेरणा पर महायान बौद्ध-धर्म के विज्ञानवाद मत को स्वीकार कर लिया, सर्वास्तिवाद बौद्ध-धर्म की वैभाषिक शाखा के एक प्रसिद्ध आचार्य थे। उनका सबसे महान ग्रन्थ "अभिधर्म कोश" है, जो समग्र बौद्ध दर्शन का एक विश्व-कोश ही है। मूलतः इस ग्रन्थ की रचना सर्वास्तिवाद के वैभाषिक मत के अनुसार हुई थी जो उस समय काश्मीर में अत्यन्त प्रभावशाली था। लेखक ने इस ग्रन्थ के अन्त में स्वयं कहा है, "काश्मीर वैभाषिक नीति सिद्धः प्रायो मयायं कथितोऽभिधर्मः।" ६०० कारिकाओं में लिखे गए इस महान ग्रन्थ से एशिया में बौद्ध-धर्म के प्रचार में बड़ी सहायता मिली। अभिधर्म-कोश के दर्शन की व्याख्या यहाँ नहीं की जा सकती। यह कहना पर्याप्त होगा कि प्रारम्भ से ही इस ग्रन्थ की प्रशंसा बौद्ध क्षेत्रों में ही नहीं बल्कि अन्यत्र भी की गई है। सातवीं शताब्दी ईस्वी के महाकवि बाण भट्ट ने अपने 'हर्ष-चरित' में बौद्ध-भिक्षु दिवाकरमित्र के आश्रम का वर्णन करते हुए वहाँ शुकों को भी 'कोश' (अभिधर्म-कोश) की व्याख्या करते दिखाया है। "शुकैरपि शाक्यशासनकुशलै: कोशं समुपदिशद्भिः।" वसुबन्धु ने अपने 'अभिधर्म-कोश' पर स्वयं भाष्य लिखा। इस अभिधर्म-कोश-भाष्य[2] पर 'स्फुटार्था' नामक व्याख्या लिखने वाले आचार्य यशोमित्र का कहना है कि अपनी आध्यात्मिक प्राप्तियों के कारण आचार्य वसुबन्धु अपने समकालीनों में 'द्वितीय बुद्ध' के नाम से

---

१. इनमें अभी हाल में प्रोफेसर प्रह्लाद प्रधान द्वारा एक अपूर्ण हस्तलिखित प्रति के आधार पर सम्पादित और विश्वभारती स्टडीज, शान्ति निकेतन, द्वारा प्रकाशित "अभिधर्म-समुच्चय" को भी जोड़ा जा सकता है।

२. इसकी हस्तलिखित प्रति की खोज महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने तिब्बत में की है और ऐसा समझा जाता है कि प्रो० प्रह्लाद प्रधान ने इसका सम्पादन जयसवाल रिसर्च इन्स्टीटयूट, पटना, के द्वारा प्रकाशन के लिए किया है।

प्रसिद्ध थे। "यं बुद्धिमतामग्र्यं द्वितीयमिव बुद्धमित्याहुः।"[१] किसी मनुष्य के लिए यह प्रशंसा साधारण नहीं है। अभिधर्म-कोश पर जो विस्तृत व्याख्यापरक साहित्य लिखा गया हैं, उससे पता लगता है कि कितना विस्तृत प्रभाव इस ग्रन्थ का लोगों के मन पर पड़ा है। अभिधर्म-कोश के अलावा वसुबन्धु की एक अन्य महत्त्वपूर्ण कृति 'परमार्थ-सप्तति' है जो उन्होंने अपने समकालीन प्रसिद्ध सांख्याचार्य विन्ध्यवासी की रचना 'सांख्य-सप्तति' के खण्डन के रूप में लिखी थी। 'तर्क-शास्त्र' और 'वाद-विधि' नामक दो रचनाएँ वसुबन्धु ने न्याय पर भी लिखीं। एक महायानी आचार्य के रूप में उन्होंने सद्धर्म पुण्डरीक-सूत्र, महापरिनिर्वाण-सूत्र और वज्रच्छेदिका-प्रज्ञापारमिता पर व्याख्याएँ लिखीं। आचार्य वसुबन्धु ने एक छोटी और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना 'विज्ञप्ति-मात्रता-सिद्धि' भी हमें दी है, जो 'विंशिका' और 'त्रिंशिका' के दो रूपों में पाई जाती है, जिनमें क्रमशः बीस और तीस कारिकाएँ हैं।

बौद्ध न्याय के इतिहास में दिङ्नाग का स्थान अत्यन्त ऊँचा है। वे वस्तुतः बौद्ध न्याय के संस्थापक ही हैं और सामान्यतः मध्ययुगीन न्याय के वे पिता कहे गए हैं। उनका जीवन-काल पाँचवी शताब्दी का आदि भाग है। तिब्बती स्रोतों के अनुसार दिङ्नाग का जन्म काञ्ची के समीप सिंहवक्त्र नामक स्थान में एक ब्राह्मण-परिवार में हुआ। पहले वे हीनयान बौद्ध-धर्म के वात्सीपुत्रीय सम्प्रदाय के अनुयायी थे, परन्तु बाद में महायान के उपदेशों में उनका अनुराग हो गया। तिब्बती परम्परा के अनुसार वे वसुबन्धु के शिष्य थे। दिङ्नाग नालन्दा महाविहार में भी गए, जहाँ उन्होंने सुदुर्जय नामक एक ब्राह्मण तार्किक को शास्त्रार्थ में परास्त किया। उन्होंने शास्त्रार्थ करते हुए ओडिविश (उड़ीसा) और महारट्ठ (महाराष्ट्र) का भी भ्रमण किया। कहा जाता है कि उड़ीसा के एक जंगल में उनकी मृत्यु हुई। दिङ्नाग ने न्याय-सम्बन्धी करीब एक सौ पुस्तकें लिखीं। इनमें से अनेक तिब्बती और चीनी अनुवादों में सुरक्षित हैं और बुनियु नंजियो ने अपनी पुस्तक-सूची में उनका उल्लेख किया है। इ-त्सिंग ने लिखा है कि उसकी भारत-यात्रा के समय दिङ्नाग की पुस्तकों का अध्ययन पाठ्य-पुस्तकों की तरह होता था। दिङ्नाग का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रमाण-समुच्चय है। इसके अलावा उनके मुख्य ग्रन्थ हैं : न्याय-प्रवेश, हेतुचक्र-डमरू, प्रमाण-शास्त्र, न्याय-प्रवेश और आलम्बन-परीक्षा, जो सब क्लिष्ट और दुरूह शैली में लिखे गए हैं। दिङ्नाग ने अपने ग्रन्थों में आचार्य वात्स्यायन के द्वारा न्याय-भाष्य में प्रतिपादित कुछ सिद्धान्तों का खण्डन किया था। बाद में वात्स्यायन

---

१. स्फुटार्था की प्रारम्भिक पंक्तियाँ।

के पक्ष का समर्थन करते हुए उद्योतकर भारद्वाज ने अपना 'न्याय-वार्तिक' लिखा। इस प्रकार आचार्य दिङ्नाग बौद्ध और श्रोत परम्पराओं के न्याय को मिलाने वाली एक महत्त्वपूर्ण कड़ी हैं।

आचार्य धर्मकीर्ति दिङ्नाग के एक उत्तराधिकारी और अद्वितीय प्रतिभा के नैयायिक थे। उनका जन्म चोल देश के तिरुमलई नामक ग्राम में हुआ था। डा० श्चेरबात्स्की ने सच ही उन्हें भारत का "काण्ट" कहा है। उनके ब्राह्मण प्रतिवादियों ने भी उनकी तर्क-शक्ति की उत्कृष्टता को स्वीकार किया है। धर्मकीर्ति का समय सातवीं शताब्दी ईसवी है। दिङ्नाग के शिष्य ईश्वरसेन से उन्होंने न्याय पढ़ा। बाद में वे नालन्दा महाविहार चले गए और वहाँ के संघ-स्थविर और उस समय के प्रसिद्ध विज्ञानवादी आचार्य धर्मपाल के शिष्य हो गए। एक महान दार्शनिक विचारक और सूक्ष्म तार्किक के रूप में धर्मकीर्ति का नाम अभी तक अन्धकारावृत था। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने तिब्बत में धर्मकीर्ति के सबसे बड़े ग्रन्थ 'प्रमाण-वार्तिक' की उसके मूल संस्कृत रूप में खोज कर न केवल बौद्ध-धर्म की बल्कि सामान्यतः सम्पूर्ण भारतीय न्याय की अकथनीय सेवा की है।[1] धर्मकीर्ति द्वारा लिखित अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं : प्रमाण-विनिश्चय, न्याय-बिन्दु, सम्बन्ध-परीक्षा, हेतु-बिन्दु, वाद-न्याय और समानान्तरसिद्धि। इन सब ग्रन्थों का विषय प्रायः बौद्ध प्रामाण्यवाद है और इनमें उच्च दार्शनिक प्रतिभा और सूक्ष्म चिन्तन के दर्शन होते हैं। उत्तर कालीन बौद्ध-धर्म प्रमाण-मीमांसा में कितनी ऊँची उड़ान उड़ सका, इसके दर्शन हमें धर्मकीर्ति की रचनाओं में होते हैं। सम्पूर्ण भारतीय न्याय-शास्त्र के विकास में भी उनका अपना स्थान है। धर्मकीर्ति ने अपने ग्रन्थों में उद्योतकर के 'न्याय-वार्तिक' का खण्डन किया था। इससे प्रेरणा पाकर वाचस्पति मिश्र ने नवीं शताब्दी में अपनी 'न्याय-वार्तिक-तात्पर्य टीका' लिखी, जिसमें न्याय-वार्तिक कार के पक्ष का समर्थन किया गया।

तिब्बत

आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान

आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान का नाम उन भारतीयों में अग्रणी है, जिन्होंने भारत और तिब्बत को सांस्कृतिक रूप से समीप लाने के लिए निःस्वार्थ कार्य किया।

---

१. इस ग्रन्थ की व्याख्या, जिसका नाम 'प्रमाण-वार्तिक-भाष्य' या 'वार्तिक-अलंकार' है, प्रज्ञाकर गुप्त द्वारा लिखी गई थी, जिसे जयसवाल इन्स्टीट्यूट, पटना, ने सन् १९५३ में प्रकाशित किया है।

तिब्बत में उनका नाम केवल बुद्ध और पद्मसम्भव के बाद लिया जाता है। निःसन्देह जितने भारतीय विद्वान भारत से तिब्बत गए उनमें सबसे महान आचार्य शान्तरक्षित और उनके शिष्य कमलशील थे। आचार्य दीपंकर भी महान विद्वान थे और उपयुक्त दो की अपेक्षा वे इस बात में अधिक हैं कि उन्होंने अमूल्य संस्कृत ग्रन्थों को तिब्बती भाषा में लभ्य बनाया। तिब्बती लोग आचार्य दीपंकर को अतिश या स्वामी श्री अतिशया (जो-वो-जें पल-इन अतिश) कह कर भी पुकारते हैं।

आचार्य दीपंकर के पिता राजा कल्याण श्री थे। उनकी माता का नाम श्री प्रभावती था। उनका जन्म सन् ९८२ ई० में पूर्वी भारत के सहोर नामक स्थान में हुआ। जिस कल्याण श्री प्रासाद में दीपंकर का जन्म हुआ उसके अनतिदूर विक्रम-विहार था जो विक्रमशीला-विहार या विक्रमशिला-विहार भी कहलाता था। आचार्य दीपंकर का जन्म बंगाल में हुआ या बिहार में, इसके सम्बन्ध में एक व्यर्थ का विवाद चलता रहा है। प्रामाणिक तिब्बती स्रोतों का असन्दिग्ध कथन है कि आचार्य दीपंकर भागलपुर में पैदा हुए थे।

दीपंकर के माता-पिता का विक्रमशीला विहार से, जो उस समय बौद्ध जगत में विस्तृत रूप से ज्ञात था, घनिष्ठ सम्बन्ध था। अनुश्रुति का कहना है कि आचार्य दीपंकर के जन्म के समय उनके माता-पिता नवजात शिशु के साथ ५०० रथों के जुलूस को लेकर इस विहार में पूजा के लिए गए। राजा कल्याण श्री के तीन पुत्र थे, पद्मगर्भ, चन्द्रगर्भ और श्रीगर्भ। इनमें द्वितीय चन्द्रगर्भ ही भिक्षु होने के बाद दीपंकर श्रीज्ञान कहलाए।

जैसा उच्च वर्ग के लोगों के लड़कों के लिए उस समय रिवाज था, ज्योतिषियों ने चन्द्रगर्भ के जन्म के समय उसके सम्बन्ध में अनेक आश्चर्यजनक भविष्यवाणियाँ कीं। चन्द्रगर्भ एक चतुर बालक था और तीन वर्ष की अवस्था में ही पढ़ने भेज दिया गया। ग्यारह वर्ष की आयु तक उसने न केवल लिखना, पढ़ना और गणित सीख लिया, बल्कि वह एक वैयाकरण भी हो गया। चूँकि कुमार चन्द्रगर्भ अपने पिता का ज्येष्ठ पुत्र नहीं था, इसलिए सिंहासन पर बैठना उसके भाग्य में नहीं था।

उन दिनों उच्च शिक्षा केवल विहारों में मिल सकती थी। सौभाग्यवश विश्व-विख्यात विक्रमशीला महाविहार राज-प्रासाद से अधिक दूर नहीं था, परन्तु नालन्दा का फिर भी अधिक सम्मान था। एक दिन अकस्मात् राजकुमार चन्द्रगर्भ घूमते-घूमते पास के जंगल में निकल गया, जहाँ उसे एक कुटिया में निवास करते आचार्य

जितारि[1] मिले। जितारि उस समय के एक प्रसिद्ध विद्वान और वैयाकरण थे। उन्होंने कुमार से पूछा, "तुम कौन हो?" कुमार ने उत्तर दिया, "मैं इस देश के राजा का पुत्र चन्द्रगर्भ हूँ।" जितारि ने इस उत्तर को गर्वपूर्ण समझा और कुमार को फटकारते हुए कहा, "हमारे यहाँ राजा या दास कोई नहीं है। यदि तू देश का शासक है, तो यहाँ से भाग जा।"

यह चौरासी सिद्धों का युग था और तिलोपा और नारोपा अभी जीवित थे। यद्यपि जितारि की गणना चौरासी सिद्धों में नहीं थी, फिर भी कुमार को यह मालूम था कि जितारि ने एक महान विद्वान होते हुए भी संसार को छोड़ दिया है। अत्यन्त विनम्रता के साथ कुमार ने जितारि से कहा कि उसकी इच्छा संसार को छोड़ने की है। इस पर जितारि ने कुमार को नालन्दा जाने की सलाह दी, क्योंकि वह जानता था कि यदि कुमार अपने बाप की राजधानी के पास भिक्षु-पद की उपसम्पदा लेगा तो वह अपने अभिमान की भावना को जीत नहीं सकेगा।

किसी प्रकार अपने माता-पिता से अनुमति लेकर जब कुमार चन्द्रगर्भ कुछ सेवकों के सहित नालन्दा गया तो नालन्दा के राजा ने आश्चर्य प्रकट करते हुए पूछा, "विक्रमशीला-महाविहार तो तुम्हारे पड़ौस में ही है। तुम उसे छोड़कर यहाँ क्यों आए?" इस पर कुमार ने नालन्दा की प्रशंसा की। राजा ने उसकी सिफारिश नालन्दा विहार में लिए जाने की कर दी और कुमार चन्द्रगर्भ भिक्षु बोधिभद्र की सेवा में उपस्थित हुआ, जो उस समय नालन्दा विहार के प्रधान थे। भिक्षु होने के लिए चूँकि बीस वर्ष की आयु की आवश्यकता थी और कुमार चन्द्रगर्भ अभी ग्यारह वर्ष ही का था, इसलिए उसे नौ वर्ष अभी और ठहरना पड़ा। इस बीच आचार्य बोधिभद्र ने उसे श्रामणेर की दीक्षा दे दी और उसका नाम दीपंकर श्रीज्ञान रख दिया। 'दीपंकर' बौद्ध परम्परा में एक अत्यन्त पवित्र नाम है, क्योंकि इस नाम के एक बुद्ध ऐतिहासिक बुद्ध भगवान शाक्यमुनि से बहुत पहले हो चुके हैं। उनके नाम के साथ 'श्रीज्ञान' इसलिए जोड़ दिया गया कि आगे चल कर उनसे एक विद्वान बनने की आशा की जाती थी।

आचार्य बोधिभद्र के गुरु मैत्रीगुप्त उस समय जीवित थे। उन्होंने विद्वत्ता के मार्ग को छोड़कर सिद्धों की जीवन-पद्धति अपनाली थी। इसलिए उनका इस समय नाम मैत्रीपा अद्वयवज्र या अवधूतिपाद था। एक दिन बोधिभद्र अपने नवीन शिष्य दीपंकर श्रीज्ञान को लेकर, जिसकी अवस्था उस समय बारह वर्ष की थी,

१. इस नाम पर टिप्पणी इस अध्याय के अन्त में संलग्न परिशिष्ट में देखिए।

अवधूतिपाद के पास गए, जो राजगृह में उस समय रह रहे थे। बोधिभद्र ने अवधूतिपाद से प्रार्थना की वह दीपंकर श्रीज्ञान को अपना शिष्य बना लें, जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। अठारह वर्ष की अवस्था तक दीपंकर श्रीज्ञान इन्हीं सिद्ध आचार्य मैत्रीपा अद्वयवज्र या अवधूतिपाद के पास राजगृह में रहे और इस बीच उन्होंने धार्मिक ग्रन्थों का अनुशीलन किया।

उन दिनों मन्त्र-यान और सिद्ध-यान का जोर था। अतः इनका अध्ययन भी दीपंकर श्रीज्ञान ने आवश्यक समझा। इसके लिए उन्हें नारोपा (नाडपाद या नरोत्तमपाद) जैसा गुरु मिल गया। नारोपा न केवल एक सिद्ध था, बल्कि एक महान विद्वान भी। उन दिनों नालन्दा और विक्रमशीला के प्रवेशार्थियों को अनेक कठिन परीक्षाएँ उत्तीर्ण करनी पड़ती थीं। तभी उनका प्रवेश इन विश्वविद्यालयों में हो सकता था। विक्रमशीला के प्रत्येक दरवाजे पर एक कुशल विद्वान होता था। नारोपा के अधिकार में उत्तर का दरवाजा था। राजगृह से दीपङ्कर नारोपा के पास गये और ग्यारह वर्ष तक उनकी शिष्यता में रहे। दीपङ्कर के अतिरिक्त नारोपा के कई अन्य शिष्य भी थे, जैसे कि प्रज्ञारक्षित, कनकश्री और माणकश्री, जो सब बाद में प्रसिद्ध विद्वान हुए। विदेशों से भी नारोपा के पास पढ़ने के लिए विद्यार्थी आते थे। तिब्बत के प्रसिद्धतम सिद्ध और कवि मिला-रेपा के गुरु मर्पा नारोपा के एक शिष्य थे।

दीपङ्कर ने विक्रमशीला में अपना अध्ययन समाप्त कर लिया, परन्तु उनकी ज्ञान-पिपासा शान्त नहीं हुई। उन दिनों बोध-गया के वज्रासन महाविहार के प्रधान भिक्षु की विद्वत्ता के लिए बड़ी ख्याति थी। उनको वज्रासनीपाद (दोर्जे दन्पा) कह कर पुकारा जाता था, यद्यपि यह उनका वास्तविक नाम नहीं था। दीपङ्कर श्रीज्ञान वज्रासन के मति विहार में गये जहाँ उन्होंने महाविनयधर शीलरक्षित से दो वर्ष तक विनय-पिटक को पढ़ा। इस प्रकार ३१ वर्ष की आयु में दीपंकर श्रीज्ञान त्रिपिटक और तन्त्रों के महापण्डित हो गए।

उस समय सुवर्ण-द्वीप (आधुनिक सुमात्रा) के आचार्य धर्मपाल की विद्वता की बौद्ध जगत में बड़ी ख्याति थी। भारतीयों का उस समय ऐसा दावा नहीं रहता था कि ज्ञान का एकाधिकार उन्हीं के हाथ में है। वस्तुतः 'कलिकाल-सर्वज्ञ' कहे जाने वाले रत्नाकरशान्ति, जो चौरासी सिद्धों में से एक थे, आचार्य धर्मपाल के शिष्य थे। रत्नकीर्ति और तर्क-शास्त्र के महान व्याख्याकार ज्ञानश्री मित्र ने आचार्य धर्मपाल के चरणों में बैठ कर विद्या प्राप्त की थी। दीपंकर से इन विद्वानों की भेंट विक्रमशीला में हुई थी और उससे प्रभावित होकर उन्होंने सुमात्रा जाने का निश्चय कर लिया। बोध-गया से वे ताम्रलिप्ति (आधुनिक तमलुक) गए और वहाँ से १४

मास तक यात्रा करते हुए सुमात्रा पहुँचे। सुमात्रा में आज कुछ प्राचीन विहारों के भग्नावशेषों के अलावा बौद्ध-धर्म के अधिक चिन्ह नहीं हैं, परन्तु उस समय वह बौद्ध विद्या के लिए प्रसिद्ध था। पहले कुछ दिन तक एकान्त जीवन बिताने के बाद दीपंकर आचार्य धर्मपाल के दर्शनार्थ गए और बारह वर्ष तक उनके पास धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन करते हुए रहे। जिन ग्रन्थों का उन्होंने वहाँ अनुशीलन किया उनमें असंग-कृत 'अभिसमयालंकार' और शान्तिदेव-कृत 'बोधिचर्यावतार' आज भी विद्यमान हैं। तन्त्रों के रहस्य का भी उन्होंने वहाँ ज्ञान प्राप्त किया।

चौंतीस वर्ष की अवस्था में दीपंकर श्रीज्ञान सुमात्रा से विक्रमशीला लौट आए। अपनी असाधारण विद्वत्ता के कारण वह वहाँ के ५१ विद्वानों में प्रधान और विहार के १०८ मन्दिरों के अधिष्ठाता बनाए गए। सिद्ध भूतकोटिपाद, शान्तिपाद और अवधूतिपाद, इन सब ने आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान के निर्माण में योग दिया। दीपंकर श्रीज्ञान एक महान विद्वान ही नहीं, सिद्ध-यान के रहस्यों के ज्ञाता भी थे।

उस समय भारत में नालन्दा, उद्दन्तपुरी (बिहार शरीफ), वज्रासन और विक्रमशीला, ये चार महाविहार थे। इनमें विक्रमशीला सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था। विदेशों से यहाँ अध्ययनार्थ आने वाले विद्यार्थियों की संख्या नालन्दा की अपेक्षा अधिक थी। यहाँ १०८ विद्वान और आठ महापण्डित थे। आचार्य दीपंकर की गणना आठ महापण्डितों में होती थी। आचार्य रत्नाकरशान्ति विहार के प्रधान थे।

तिब्बत में बौद्ध-धर्म का उस समय प्रचार हुआ, जब उसका रूप बहुत कुछ तान्त्रिक हो चला था। तिब्बत के गुगे (शैन-शंग) प्रान्त के राजा के ज्येष्ठ पुत्र ने भिक्षु-पद की दीक्षा लेकर 'ज्ञानप्रभ' नाम धारण कर लिया था। ज्ञानप्रभ का आकर्षण तान्त्रिकता की ओर बिल्कुल नहीं था। बल्कि वह इसका एक कट्टर विरोधी था। ज्ञानप्रभ कट्टर बुद्धिवादी था और तिब्बत के तान्त्रिक बौद्ध-धर्म में सुधार करना चाहता था। उसने तान्त्रिकता के विरुद्ध एक पुस्तक भी लिखी, जिसके कारण तिब्बती तान्त्रिक बौद्धों का विश्वास है कि राजवंशीय भिक्षु को नरक जाना पड़ा। ज्ञानप्रभ जानते थे कि तान्त्रिकता के दोषों को दूर करना एक महान कार्य है और उनके अकेले किए यह समस्या हल नहीं होगी। इसलिए उन्होंने तिब्बत के २१ मेधावी तरुणों को चुना। उन्हें पहले तिब्बत में ही दस वर्ष तक शिक्षा दी गई और फिर बाद में काश्मीर उच्च अध्ययन के लिए भेजा गया, परन्तु वहाँ की जलवायु उन्हें अनुकूल नहीं पड़ी और केवल दो, रत्नभद्र (रिन-छेन-ज़ैंग-पो) और सुप्रज्ञ

(लेग्स-पहि-शेस-रब), को छोड़कर शेष की कास्मीर में ही मृत्यु हो गई। रत्नभद्र तिब्बत में सबसे बड़े अनुवादक माने जाते हैं। रत्नप्रभ जब कास्मीर में अपने अध्ययन को समाप्त कर तिब्बत पहुँचे तो देवगुरु ज्ञानप्रभ उन्हें देखकर अत्यन्त हर्षित हुए। परन्तु केवल एक विद्वान के सहयोग से वे तिब्बती तान्त्रिक बौद्ध-धर्म के सुधार की अधिक आशा नहीं कर सकते थे। तिब्बत के विद्यार्थियों को भारत की जलवायु अनुकूल नहीं पड़ती थी। इसलिए ज्ञानप्रभ को इसी निष्कर्ष पर आना पड़ा कि यदि भारत से ही कुछ विद्वान भिक्षु तिब्बत जाकर काम करें तो उन्हें अपने उद्देश्य में अधिक सफलता मिल सकती है।

पश्चिमी तिब्बत से विद्यार्थी भारतीय महाविहारों में अध्ययनार्थ आया करते थे। उनसे ज्ञानप्रभ को पता चला कि विक्रमशीला महाविहार में दीपंकर श्रीज्ञान नामक एक महाविद्वान आचार्य हैं। फलतः ज्ञानप्रभ ने कुछ आदमियों के दल को लम्बी यात्रा की सब आवश्यक सामग्री देकर विक्रमशीला भेजा ताकि वे आचार्य दीपंकर को तिब्बत आने का निमन्त्रण दें। ये आदमी विक्रमशीला आए, परन्तु दीपंकर ने तिब्बत की यात्रा पर जाना स्वीकार नहीं किया।

ज्ञानप्रभ इससे हताश होने वाले व्यक्ति नहीं थे। उन्होंने एक और दल को भेजने का निश्चय किया, परन्तु धन की कमी थी, इसलिए वे सोना इकट्ठा करने के लिए तिब्बत के गार्तोग प्रान्त में गए, जो मानसरोवर झील के उत्तर में स्थित था और जहाँ सोने की खान थी। यहाँ गार्तोग के राजा ने उसे कैद कर लिया और एक बड़ी धन-राशि उसकी मुक्ति-स्वरूप माँगी। जब ज्ञानप्रभ के बन्दी बनाए जाने की खबर उसके पुत्र बोधिप्रभ (ब्यंग-चब-ओद) के पास पहुँची तो उसने अपने पिता को छुड़ाने के लिए धन इकट्ठा करना शुरू किया। अभी आवश्यक रकम में कुछ कमी थी कि उसके पूर्व वह अपने पिता से मिलने जेल में गया। ज्ञानप्रभ ने उससे कहा, "मेरे पुत्र, तुम जानते हो कि मैं बुड्ढा हो गया हूँ। यदि मैं इस समय नहीं मरूँ तो आगे के दस वर्षों में तो मर ही जाऊँगा। इसलिए यदि तुम पैसा मेरे ऊपर व्यर्थ खर्च करोगे, तो हम एक विद्वान को भारत से नहीं बुला सकेंगे। यह कितना महान होगा यदि मैं यहीं अपने उद्देश्य के लिए मर जाऊँ और तुम सब सोना भारत विद्वान को बुलाने के लिए भेज सको। फिर यह भी निश्चित नहीं है कि माँगे हुए सोने को पाकर यह राजा मुझे छोड़ ही देगा। इसलिए हे मेरे पुत्र, मेरे लिए चिन्ता को छोड़ कर तुम एक दूत को अतिश के पास भेजो। मुझे विश्वास है कि वे भोटों के देश (तिब्बत) में आना स्वीकार कर लेंगे, विशेषतः जब वे मेरी वर्तमान दुरवस्था को सुनेंगे और हम पर करुणा करेंगे। यदि किसी

कारणवश वे न आ सकें तो तुम किसी दूसरे विद्वान को लाना, जिसने उनके नीचे काम किया हो।" इतना कह कर देवगुरु ज्ञानप्रभ ने अपने पुत्र के सिर पर हाथ रख कर उसे आशीर्वाद दिया और उससे अन्तिम विदाई ली।

उस समय तिब्बत में राजवंशीय भिक्षुओं को देवगुरु (ल्हा-ब्ला मा) कह कर पुकारने का रिवाज था। देवगुरु बोधिप्रभ ने अपने पिता के आदेश की पूर्ति के लिए दस आदमियों की एक मण्डली को चुना। ये सब लोग तिब्बत से नेपाल होते हुए विक्रमशीला आए। यहाँ उनका प्रथम परिचय विक्रमसिंह (स्सेन-सेन) नामक भिक्षु से हुआ जो ग्य (कुलू के मार्ग में लद्दाख का अन्तिम गाँव जो आजकल बसा हुआ नहीं है) का निवासी था। इस कुशल भिक्षु ने इन तिब्बती लोगों को बताया कि उन्हें एक दम ही अतिश के पास जाकर उनसे यह नहीं कह देना चाहिए कि वे उन्हें तिब्बत ले जाने के लिए आए हैं। ऐसा कह देने पर उन्हें सफलता नहीं मिलेगी। भिक्षु विक्रमसिंह ने उन्हें यह भी वचन दिया कि उपयुक्त समय पर वे उन्हें आचार्य अतिश (दीपंकर श्रीज्ञान) से मिला देंगे।

इन तिब्बती लोगों के आने के कुछ दिन बाद विक्रमशीला में विद्वानों की एक सभा हुई। विक्रमसिंह तिब्बती लोगों को लेकर सभा में गया जहाँ इन लोगों ने न केवल आचार्य अतिश को बल्कि उनके नीचे काम करने वाले रत्नकीर्ति, तथागतरक्षित, सुमतिकीर्ति, वैरोचनरक्षित और कनकश्री जैसे कई विद्वानों को भी देखा। किस प्रकार इन विद्वानों के द्वारा अतिश सम्मानित और सत्कृत थे, यह भी उन्होंने देखा। इसके कुछ दिन बाद विक्रमसिंह तिब्बती लोगों को आचार्य अतिश से मिलाने ले गया। उन्होंने अतिश को प्रणाम किया, सोना उनके सामने रख दिया और राजवंशीय भिक्षु ज्ञानप्रभ की जेल में मृत्यु की दुःख भरी गाथा उनके सामने कही। दीपंकर श्रीज्ञान भाव-विह्वल होकर बोले, "निःसन्देह ज्ञानप्रभ एक बोधिसत्व थे, क्योंकि उन्होंने धर्म के लिए अपने प्राणों का विसर्जन किया। मैं उनकी इच्छा को पूरा करूँगा, परन्तु तुम्हें यह ध्यान रखना चाहिए कि मेरे ऊपर १०८ मन्दिरों का भारी उत्तरदायित्व है। अन्य अनेक कर्त्तव्य भी मुझे करने हैं। इन सब कर्त्तव्यों से छुटकारा पाने में मुझे १८ महीने लगेंगे। तभी मैं तिब्बत चल सकूँगा। तब तक तुम इस सोने को अपने पास रक्खो।"

इस समय (१०३० ई०) अतिश की आयु ५७-५८ साल की थी, परन्तु उनकी वृद्ध अवस्था उनके संकल्प के मार्ग में खड़ी नहीं हो सकी। १८ महीने बीतने पर उन्होंने तिब्बती लोगों को बुलवाया। उनके द्वारा लाए गए सोने के एक चतुर्थांश को उन्होंने पण्डितों को दिया, दूसरे चतुर्थ भाग को बोध-गया के वज्रासन में पूजा

के लिए दिया, तीसरे चतुर्थांश को रत्नाकरशान्तिपाद को दिया और शेष को विभिन्न धार्मिक कृत्यों को करवाने के लिए राजा को दे दिया। भारत से प्रस्थान करने से पूर्व आचार्य दीपंकर एक बार उस स्थान (बोध-गया) के दर्शन करने और गए जहाँ सिद्धार्थ गौतम 'बुद्ध' बने थे। यात्रा करते हुए पहले दीपंकर और उनके साथी जिनमें उनके दुभाषिया विक्रमसिंह भी सम्मिलित थे, नेपाल पहुँचे। यहाँ से उन्होंने पालवंशीय राजा नयपाल (१०४०-१०५५ ई०) को एक पत्र भी लिखा। तंजूर-संग्रह में उनका यह पत्र तिब्बती अनुवाद के रूप में आज भी उपलब्ध है।[1] इसी प्रकार के अन्य पत्र जो बौद्ध गुरुओं ने लिखे, तिब्बती अनुवादों के रूप में आज भी सुरक्षित हैं।[2] नेपाल से चलकर दीपंकर और उनके साथी थुङ् विहार में पहुँचे, जहाँ विक्रमसिंह की मृत्यु हो गई। इससे आचार्य दीपंकर बहुत दुःखी हुए, क्योंकि विक्रमसिंह उनके दुभाषिया थे, जिनके अभाव में तिब्बत जाना ही दीपंकर को व्यर्थ लगता था। सौभाग्यवश जयशील जैसे कुछ अन्य दुभाषिये भी थे, जिन्होंने आचार्य दीपंकर को सान्त्वना दी और वे आगे बढ़े। जैसे ही तिब्बत के गुगे प्रान्त में उन्होंने प्रवेश किया, देवगुरु बोधिप्रभ के द्वारा भेजे हुए आदमियों ने उनका स्वागत किया। मानसरोवर प्रदेश में पहुँचने पर स्वयं राजा उनका स्वागत करने आया और उनको थो-लिन विहार में निवास प्रदान किया गया। इस विहार को स्वर्गीय राजा ज्ञानप्रभ ने बनवाया था। आचार्य दीपंकर ने आठ महीने इस विहार में रह कर धर्म-प्रचार किया। यहाँ उन्होंने अनेक ग्रन्थों का अनुवाद किया, और अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ "बोधिपथ-प्रदीप" लिखा। इस ग्रन्थ का तिब्बती अनुवाद आज भी मिलता है। मानसरोवर प्रान्त में अतिश ने तीन वर्ष तक निवास किया। सन् १०४४ में वे मानसरोवर के पूर्व में पुरङ (स्पु-रंस) नामक स्थान में चले गए, जहाँ उनके अनुरक्त शिष्य डोम-तोन-प उनसे मिले। छाया की तरह इस शिष्य ने आचार्य की मृत्यु तक उनका अनुसरण किया। डोम-तोन-प ने आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान की जीवनी भी लिखी है, जिसका नाम है "गुरुगुणधर्माकर।"

दूर-दूर से लोग आचार्य दीपंकर के उपदेश सुनने आने लगे। आचार्य दीपंकर सतत एक जगह से दूसरी जगह यात्रा करते रहते थे और जहाँ कहीं वे जाते उनका सम्मान होता था। अतिश को तिब्बती भाषा का ज्ञान प्राप्त करने का

---

१. म्दौ ह्ग्रेल, चौरानवे, ३३,३। स्थविर-महापण्डित दीपंकर श्री ज्ञानेन प्रेषितो "विमलार्थलेखो।"

२. देखिए इस अध्याय के अन्त में संलग्न प्रथम सूची।

समय नहीं मिला था। यात्रा करने के अतिरिक्त उन्हें ग्रन्थ लिखने पड़ते थे और महत्त्वपूर्ण संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद करने पड़ते और समीक्षाएँ तैयार करनी पड़ती थीं। तिब्बती भिक्षु रत्नभद्र, जिन्हें ज्ञानप्रभ ने उच्च अध्ययन के लिए काश्मीर भेजा था, वहाँ से संस्कृत के एक महान विद्वान होकर लौटे थे। इन रत्नभद्र के रूप में दीपंकर को उनका एक प्रबल भक्त और सहायक मिला, जिसने अनेक संस्कृत ग्रन्थों के तिब्बती अनुवाद में उनकी सहायता की।

तिब्बत में अपने कुल तेरह वर्ष के निवास में से अतिश ने तीन वर्ष नहरिस में, चार वर्ष मध्य-तिब्बत में और छः ने-थङ में बिताए। सन् १०४७ में वे मध्य-तिब्बत के सम-ये विहार में गए। शान्तरक्षित के द्वारा आठवीं शताब्दी में स्थापित यह प्रथम विहार था, जहाँ तिब्बती भिक्षुओं की उपसम्पदा हुई थी। अनेक संस्कृत ग्रन्थों का यहाँ अनुवाद भी किया गया था। इस विहार का पुस्तकालय इतना समृद्ध था कि कुछ पुस्तकें अतिश ने यहाँ ऐसी भी देखी थीं, जो भारत के विहारों में उपलब्ध नहीं थीं। जिन-जिन स्थानों की दीपंकर ने यात्रा की वहाँ वे आज तक स्मृत किए जाते हैं। सन् १०५० ई० में उन्होंने येर-व नामक विहार में निवास किया। यहीं उन्होंने सन् १०५१ में 'काल-चक्र' पर अपनी व्याख्या लिखी। ल्हासा से दक्षिण में आधे दिन की यात्रा के फासले पर एक स्थान है, जिसका नाम ने थङ है। यहीं पर दीपंकर ने अपने अन्तिम दिन बिताए और यहीं पर सन् १०५४ ई० में ७३ वर्ष की अवस्था में उन्होंने शरीर छोड़ा।

चीन

कुमारजीव

कुमारजीव (३४४-४१३ ई०) का जन्म एक भारतीय पिता और कूची की निवासिनी माता से हुआ। कुमारजीव के पिता कुमारायण एक उच्च कुलीन भारतीय थे, जो किसी कारणवश पामीर को पार करते हुए कूची में पहुँचे। यहाँ राजवंशीय कुमारी जीवा से उन्होंने विवाह कर लिया। कड़ा-शहर में इनके पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम कुमारजीव रखा गया। कुछ दिन बाद जीवा ने बौद्ध-धर्म स्वीकार कर लिया और वह भिक्षुणी हो गई। अपने पुत्र कुमारजीव को बौद्ध-दर्शन और साहित्य की उच्च शिक्षा दिलाने के लिए वह उसे साथ लेकर काश्मीर चली गई।

काश्मीर में आचार्य बन्धुदत्त से कुमारजीव ने बौद्ध-धर्म का अध्ययन किया और बाद में इस प्रतिभाशाली शिष्य ने अपने आचार्य को महायान-धर्म में दीक्षित किया। कुछ ही वर्षों में कुमारजीव ने बौद्ध-धर्म की विभिन्न शाखाओं में दक्षता

प्राप्त कर ली और अपनी माता के साथ वे कूची लौट गये। मार्ग में उन्होंने मध्य-एशिया के बौद्ध अध्ययन-केन्द्रों को देखा।

अनुश्रुति है कि जब कुमारजीव और उसकी माता काश्मीर से कूची की ओर लौट रहे थे तो मार्ग में उन्हें एक अर्हत् मिला जिसने भविष्यवाणी की कि यदि जीवा अपने पुत्र को उसकी पैंतीसवीं वर्ष की आयु तक युवावस्था के दोषों और प्रलोभनों से बचा सकी तो वह एक दिन जन-साधारण में बुद्ध-शासन का प्रचार कर उन्हें मुक्ति दिलाने वाला बनेगा।

एक विद्वान के रूप में कुमारजीव की इतनी अधिक ख्याति हो गई कि खोतान, काशगर, यारकन्द और तुर्किस्तान के अनेक भागों से बौद्ध लोग उनके पास आने लगे।

सन् ३९९ ई० में कुमारजीव ने काशगर की यात्रा की, जहाँ उनका परिचय महायानी आचार्य सूर्यसोम से हुआ। इनसे कुमारजीव ने माध्यमिक शास्त्रों को पढ़ा। काश्मीर के विमलाक्ष नामक भिक्षु ने मध्य-एशिया के मार्ग से पाँचवीं शताब्दी के प्रारम्भिक भाग में चीन की यात्रा की। इस भिक्षु से कुमारजीव ने सर्वास्तिवादी विनय की शिक्षा प्राप्त की। विमलाक्ष ने बाद में चलकर कुमारजीव को अनुवाद के कार्य में सहायता दी, जिसके लिये वे प्रसिद्ध हैं।

सन् ४०१ ई० में राजनैतिक कारणों से कुमारजीव चीन ले जाये गये, जहाँ वे पहले से ही प्रसिद्ध थे। चीनी इतिहासों का कहना है कि सन् ४०५ ई० में त्सिन वंश के राजा ने जो स्वयं बौद्ध था, कुमारजीव का बड़ा सम्मान किया। ८०० भिक्षुओं और विद्वानों का एक अनुवादक-दल संगठित किया गया। कुमारजीव के निरीक्षण में इस दल ने ३०० से अधिक जिल्दों का अनुवाद किया। कहा जाता है कि जब अनुवाद का काम चल रहा था तो स्वयं राजा मूल ग्रन्थ की प्रति को अपने हाथ में रख कर पढ़ता था। अपने जीवन के अन्त (सन् ४१३ ई०) तक कुमारजीव ने बौद्ध-धर्म के प्रचार में इतना अधिक कार्य किया कि उसके परिणाम-स्वरूप उत्तरी चीन में अनेक बौद्ध विहार स्थापित किये गये। साधारण जनता का ९/१० भाग बौद्ध-धर्म का अनुयायी हो गया।

कुमारजीव चीन में माध्यमिक सिद्धान्तों के प्रथम आचार्य और सत्य-सिद्धि (चेंग-शिह-त्सुंग) और निर्वाण (नीह-पन-त्सुंग) सम्प्रदायों के प्रथम व्याख्याकार माने जाते हैं।

कुमारजीव के ग्रन्थ चीन में बौद्धधर्म के प्रचार के एक नवीन युग के प्रवर्तन की सूचना देते हैं। बौद्ध दर्शन सम्बन्धी अपने गम्भीर ज्ञान तथा संस्कृत

और चीनी भाषाओं पर अपने अधिकार के कारण कुमारजीव अपने अनुवादों को वह स्पष्टता और विशेषता दे सके हैं जो उनके पूर्वगामी धर्म-प्रचारकों के लिए सम्भव नहीं थी।

सन् ४०२ और ४१२ ई० के बीच कुमारजीव ने अनेक ग्रन्थों के अनुवाद किए और चीनी भाषा में एक मौलिक ग्रन्थ और कई गाथाएँ भी लिखीं। ३००० से अधिक भिक्षु उनके शिष्य हो गए, जिनमें से दस ने महत्त्वपूर्ण बौद्ध ग्रन्थों की रचना की है।

कुमारजीव ने जिन अनेक बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया, उनमें कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण ये हैं।

१. त-च-तु-लुन (महाप्रज्ञापारमिता-शास्त्र)
२. पे-लुन (शत-शास्त्र)
३. फो-श्वो-ओ-मि-तो-चिन (सुखावत्यमृत-व्यूह)
४. म्यो-फ-ल्यन-हव-चिन (सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र)
५. मो-हो-पन-जो-पो-मि-चिन (महाप्रज्ञापारमिता सूत्र)
६. चिन-कन-पन-जो-पो-लो-मि-चिन (वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता सूत्र)

कहा जाता है कि कुमारजीव जब अपनी मरण-शय्या पर थे तो उन्होंने अपने अनुयायियों से कहा कि उन्हें उनके काम को स्वीकार करना चाहिए, परन्तु उनके जीवन को आदर्श नहीं मानना चाहिये। उन्होंने कहा, "कमल कीचड़ में पैदा होता है। कमल से प्रेम करो, कीचड़ से नहीं।"

कुमारजीव भारत और मध्य-एशिया के बीच सांस्कृतिक सहयोग के और बौद्ध विद्वानों ने भारतीय संस्कृति को चीन में फैलाने के जो प्रयत्न किये, उनके प्रतीक हैं।

परमार्थ

परमार्थ (पो-लो-मो-थो), जिन्हें गुणरत तथा कुछ अन्य नामों से भी पुकारा जाता है, संस्कृत विद्या के महान केन्द्र उज्जैन (यु-शन-नि) के एक श्रमण थे।

उज्जैन में अपनी बौद्ध-शिक्षा समाप्त कर परमार्थ पाटलिपुत्र चले गये, जहाँ से वे चीनी सम्राट की प्रार्थना पर उसके द्वारा भेजे गये दूतों के साथ चीन चले गये। परमार्थ अपने साथ अनेक बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों को भी लेते गये। उन्होंने समुद्री मार्ग से यात्रा की और सन् ५४८ ई० में नानकिंग पहुँचे। इस समय से लेकर अपनी मृत्यु (५६९ ई०) तक अर्थात् पूरे इक्कीस वर्ष तक उन्होंने बौद्ध-धर्म का प्रचार करते हुए अनेक संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद किये।

परमार्थ, बोधिरुचि और युआन च्वांग, विज्ञानवाद बौद्ध-धर्म के ये तीन प्रसिद्ध आचार्य हैं, जिन्होंने बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद चीनी भाषा में किये।

परमार्थ ने चीन में महायान-संपरिग्रह-शास्त्र-सम्प्रदाय (शे-लुन-त्सुंग) की स्थापना की, जिसके आधार उनके द्वारा किये गये बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद थे। इनमें महायान-संपरिग्रह-शास्त्र का स्थान प्रमुख था।

परमार्थ द्वारा किये गये बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों के चीनी अनुवाद २७५ जिल्दों में हैं, जिनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निम्न लिखित हैं :—

१. फो-श्वो-ची-त्सी-चिन (सन्धि-निर्मोचन-सूत्र)
२. चिन-कन-पन-जो-पो-लो-मि-चिन (वज्रच्छेदिका-प्रज्ञापारमिता-सूत्र)
३. शो-त-शन-लुन (महायान-संपरिग्रह-शास्त्र)
४. कुन-पीन-फन-पीह-लुन (मध्यान्त-विभाग-शास्त्र)
५. ओ-फि-त-मो-कु-शो-शिह-लुन (अभिधर्म-कोश-व्याख्या-शास्त्र)
६. शो-त-शन-लुन-शिह (महायान-संपरिग्रह-शास्त्र-व्याख्या)
७. लुह-र्‌ह-शि-र्‌ह-मिन-ल्यो-लुन (विनय-द्वाविंशति-प्रसन्नार्थ-शास्त्र)
८. शि-प-खुन-लुन (अष्टादशाकाश या अष्टादश-शून्यता-शास्त्र)

बोधिधर्म

यह तथ्य स्थापित किया जा चुका है कि बोधिधर्म या धर्मबोधि (त-म-फु-थि) एक भारतीय श्रमण थे, जिन्होंने सन् ५२६ ई० में भारत से चीन के लिए प्रस्थान किया। ५२८ या ५३६ ई० में उनकी मृत्यु हुई। उनके जीवन के विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं हैं।

बोधिधर्म ने अध्ययन की अपेक्षा ध्यान पर अधिक जोर दिया। इसलिए उनके प्रभाव के परिणाम-स्वरूप बौद्ध विहार बौद्धिक होने की अपेक्षा साधनात्मक अधिक हो गये।

जब बोधिधर्म ने चीन में प्रवेश किया तो उनका आदर हुआ। सम्राट त्यंग-वु-ति ने उन्हें नानकिंग में बुलाया। उसके साथ उनका जो संलाप हुआ उसे यहाँ दे देना आवश्यक होगा, क्योंकि उससे उनके सिद्धान्तों पर प्रकाश पड़ता है।

सम्राट ने पूछा, "जब से मैं राजगद्दी पर बैठा हूँ मैंने निरन्तर विहारों आदि की स्थापना की है। मुझे अपने इस शुभ कृत्य से कितना पुण्य मिलेगा ?" बोधिधर्म ने उत्तर दिया, "कुछ नहीं।" सम्राट ने पूछा, "क्यों नहीं ?" भिक्षु ने उत्तर दिया, "ये सभी चीज़ें विनाशी कारणों के परिणाम हैं, जिनमें कोई सत्यता नहीं है।" सम्राट ने पूछा, "तब फिर वास्तविक पुण्य क्या है ?" भिक्षु ने उत्तर दिया,

"इसे पवित्रता, निर्वाण और पूर्णता में खोजो। सांसारिक उपायों से पुण्य का संग्रह नहीं किया जा सकता।" सम्राट ने फिर पूछा, "सबसे बड़ा पवित्र सिद्धान्त क्या है?" भिक्षु ने उत्तर दिया, "प्रत्येक वस्तु शून्य-स्वभाव है, इसलिये 'पवित्र' कुछ नहीं है।" इस पर कुछ आवेश में सम्राट ने कहा, "तब फिर मुझे उत्तर देने वाले तुम कौन हो?" "मैं स्वयं नहीं जानता कि उत्तर देने वाला कौन है?" भिक्षु का उतना ही निर्भीक उत्तर था।

जैसा उपर्युक्त संवाद से स्पष्ट है, शून्यता बोधिधर्म के सिद्धान्त का सार है, शून्यता—जिसका शब्दों से प्रख्यापन नहीं किया जा सकता। बोधिधर्म के निषेधात्मक उत्तर का यही रहस्य था। बोधिधर्म के ध्यानवादी सिद्धान्तों का चीन के लोगों पर बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा और वहाँ से ज़ेन बौद्ध-धर्म के रूप में बौद्ध-धर्म के इस ध्यान-सम्प्रदाय का प्रवर्तन जापान में हुआ, जिसने वहाँ की संस्कृति को व्यापक रूप से प्रभावित किया।

अक्सर यह कहा जाता है कि बोधिधर्म का ध्यानवादी बौद्ध सम्प्रदाय बौद्ध-धर्म का विशुद्ध रूप न होकर कन्फ्यूशियन धर्म, ताओ-धर्म और बौद्ध-धर्म का एक संश्लिष्ट रूप है। परन्तु यह बात ठीक नहीं। जैसा बोधिधर्म ने कहा है, बौद्ध-धर्म की भावना ध्यानवादी सम्प्रदाय की भावना ही है।

बोधिधर्म ने शास्त्रों के अध्ययन को अधिक महत्व नहीं दिया। इसलिए उन्होंने अनुवादों के कार्य को न कर ध्यान-पद्धति के विकास पर अधिक जोर दिया। फिर भी उन्होंने एक बौद्ध संस्कृत ग्रन्थ का चीनी अनुवाद किया है और वह है त-पन-नी-फन-चिन-लुन (महापरिनिर्वाणसूत्र-शास्त्र)। बोधि-धर्म के पाँच उत्तराधिकारी हुए जिन्होंने उन्हीं के समान ध्यान का जीवन बिताया और जिनका तंग वंश के सम्राटों ने बड़ा आदर किया।

युआन च्वांग

युआन च्वांग (६०२-६६४ ई०) लो-यंग विहार के एक चीनी श्रमण थे, जिनकी सन् ६२२ ई० में उपसम्पदा हुई। सन् ६२६ ई० में उन्होंने अपनी प्रसिद्ध भारत-यात्रा के लिए प्रस्थान किया और सन् ६४५ ई० में वे चीन की राजधानी में वापस पहुँचे। इसके बाद अपने जीवन के अन्त तक वे अनुवाद के काम में लगे रहे। उनकी मृत्यु सन् ६६४ ई० में पैंसठ वर्ष की आयु में हुई।

भारत में युआन च्वांग ने नालन्दा में रह कर पाँच वर्ष तक बौद्ध-साहित्य तथा ब्राह्मण-साहित्य का अध्ययन किया। शीलभद्र से युआन च्वांग ने विज्ञानवाद के दर्शन को पढ़ा। भारत से लौटते समय युआन च्वांग अपने साथ बौद्ध साहित्य

के एक बड़े संग्रह को ले गया जिसका उसने बाद में चीनी भाषा में अनुवाद किया। भगवान बुद्ध की धातुओं के कुछ अवशेष और उनकी कुछ मूर्तियों को भी वह अपने साथ ले गया।

युआन च्वांग एक असाधारण प्रतिभा का अनुवादक ही नहीं था, वह एक मौलिक साहित्यकार भी था। अनुवाद की प्रक्रिया में उसने परमार्थ के ढंग को पूर्णतः न मानकर एक नवीन मार्ग की उद्‌भावना की। युआन च्वांग तथा उसके साथियों के द्वारा किये गये अनुवादों में निम्नलिखित अधिक महत्त्वपूर्ण हैं—

(१) त-पन-जो-पो-लो-मि-वो-चिन (महा-प्रज्ञा-पारमिता-सूत्र
(२) वी-शि-सन-शि-लुन (विद्यामात्र-सिद्धि-त्रिदश-शास्त्र)
(३) त-शन-चन-येह-लुन (कर्मसिद्ध प्रकरण-शास्त्र)
(४) वी-शिरह-शि-लुन (विद्यामात्र-सिद्धि-शास्त्र)
(५) पीन-चुन-पीन-लुन (मध्यान्त-विभाग-शास्त्र)
(६) शो-त-शन-लुन-पन (महायानसंपरिग्रह-शास्त्रमूल)
(७) ओ-फि-त-मो-शुन-चन-लिन (अभिधर्मन्यायानुसार-शास्त्र)
(८) यिन-मिन-निन-चन-लि-लुन (हेतुविद्या-न्यायप्रवेश-शास्त्र)
(९) यिन-मिन-चन-लि-मन-लुन-पन (न्यायद्वारतर्क-शास्त्र)
(१०) नन-स्वन-थिन-कन-पन-जो-पो-लो-मि-चिन (वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता-सूत्र)

बोधिरुचि

बोधिरुचि (५७१—७२७) का मौलिक नाम धर्मरुचि था। सम्राज्ञी वु-त्सो-थीन (६८४—७०५ ई०) के आदेश से उनका नाम धर्मरुचि से बदल कर बोधिरुचि कर दिया गया। बोधिरुचि का जन्म दक्षिण-भारत के एक काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण-परिवार में हुआ था।

तंग वंश के शासन के आदि भाग में सिंहल, भारत और जापान से अनेक भिक्षु चीन में गये। उन्हीं में एक बोधिरुचि थे जो स्थायी रूप से चीन में ही बस गये। चीनी ऐतिहासिक लेखों के अनुसार बोधिरुचि अनेक शास्त्रों के ज्ञाता थे और बारह वर्ष की अवस्था में उन्होंने बौद्ध-धर्म में प्रवेश किया था। चीन जाकर बोधिरुचि ने अपना सारा लम्बा जीवन बौद्ध ग्रन्थों के अनुवादों में बिताया। कहा जाता है कि बोधिरुचि की मृत्यु सन् ७२७ ई० में १५६ वर्ष की अवस्था में हुई। मृत्यु से पूर्व उन्होंने भोजन को बिल्कुल छोड़ दिया। जब उनका मरण-काल समीप था, उन्होंने अपने अनुयायियों से कहा कि वे उन्हें छोड़ कर चले जाएँ और अपने

एकान्त कमरे में उन्होंने निर्वाण में प्रवेश किया। सन् ६९३-७१३ के बीच बोधिरुचि ने ५३ बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों के चीनी अनुवाद किये। चीनी बौद्ध-धर्म के इतिहास में बोधिरुचि नाम के दो बौद्ध भिक्षु हो गये हैं जिनमें से एक बोधिरुचि तंग वंश के शासन-काल में हुए और दूसरे वी वंश के शासन-काल में। जिन बोधिरुचि का हमने ऊपर विवरण दिया है, वे तंग वंश के बौद्ध भिक्षु ही हैं। वी-वंश के शासन-काल में जिन बोधिरुचि भिक्षु की जीवन-धारा बही, उन्होंने चीन में एक सम्प्रदाय का भी प्रवर्तन किया जिसका नाम दशभूमिक सम्प्रदाय (ति-लुन-त्सुंग) है।

जापान

जापान में मुख्य बारह बौद्ध सम्प्रदाय हैं। इनमें से प्रत्येक का संस्थापक एक बौद्ध भिक्षु माना जाता है। यहाँ हम ऐसे चार बौद्ध भिक्षुओं के संक्षिप्त विवरण देंगे जिनका योगदान जापानी बौद्ध-धर्म के प्रति सर्वाधिक है।

कुकइ

जापान में कुकइ (७७४—८३५ ई०) से अधिक लोकप्रिय या सम्मानित अन्य कोई भिक्षु युगों से नहीं रहा है। कुकइ शिंगोन सम्प्रदाय के भिक्षु थे। उन्होंने इस सम्प्रदाय सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। कला, शिक्षा और सामाजिक कल्याण के क्षेत्र में उन्होंने जापान की संस्कृति को बहुत कुछ दिया है। जापान में एक कविता, जो आज भी लोकप्रिय है और जिसमें जापानी वर्णमाला के केवल ४७ अक्षरों में बौद्ध-धर्म के उपदेश बड़ी अच्छी तरह सिखाए गए हैं, कुकइ-रचित ही मानी जाती है। शिंगोन सम्प्रदाय के कोंगोबुजि नामक प्रसिद्ध विहार में उनकी मृत्यु हुई, परन्तु उनके अनुयायियों का विश्वास है कि उन्होंने केवल 'न्युजो' में प्रवेश किया, अर्थात् शाश्वत समाधि ली।

शिनरन

शिनरन (११७३—१२६२ ई०) जोदो-शिन सम्प्रदाय के संस्थापक थे। उनका सबसे बड़ा कार्य यह है कि उन्होंने बौद्ध-धर्म को साधारण जनता के हृदय तक पहुँचा दिया। भिक्षु शिनरन एक अत्यन्त सादा जीवन बिताते थे और कभी अपने को उपदेष्टा नहीं कहते थे। उन्होंने किसानों के बीच ग्रामीण जीवन बिताया और अमिताभ बुद्ध की भक्ति का उपदेश दिया।

डोजेन

भिक्षु डोजेन (१२००—१२५३ ई०) ने सोतो ज़ेन सम्प्रदाय की स्थापना की। एक ध्यानी बौद्ध होने के नाते उन्होंने सांसारिक सम्मान की कोई परवाह नहीं की। उन्होंने ध्यान सम्प्रदाय के ईहीजी नामक विहार की स्थापना की और उसके लिए जो नियम उन्होंने निर्दिष्ट किए उन्हें जापान के अन्य सब ध्यान-सम्प्रदाय के विहारों में मान्य किया गया। उन्होंने अनेक प्रवचन दिए जिनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण 'शो-बो-जेन-ज़ो, (सत्य सिद्धान्त का सार) है। उनके अनुयायियों द्वारा ही नहीं बल्कि जापान के अन्य सम्प्रदायों के द्वारा भी यह ग्रन्थ एक अद्वितीय दार्शनिक रचना माना जाता है।

निचिरेन

निचिरेन (१२२२—१२८२ ई०) जापान के एक देशभक्त भिक्षु थे। उनका आविर्भाव उस समय हुआ जब जापान पर चीन के मंगोलियन सम्राट के आक्रमण का भय था। निचिरेन का विश्वास था कि सद्धर्म-पुण्डरीक-सूत्र में उपदिष्ट धर्म ही बौद्ध-धर्म का एकमात्र सच्चा स्वरूप है और केवल वही उनके देश को विदेशी आक्रमण से बचा सकता है। उन्हें अपने विचारों के कारण अनेक बार अपने देश की सरकार से दण्डित भी होना पड़ा। परन्तु अपनी देश-भक्ति और अपने प्रवचनों की सरलता और सादगी से उन्होंने जापानी जनता के हृदय में स्थान प्राप्त कर लिया। उन्होंने एक सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया जो उनके नाम पर 'निचिरेन' सम्प्रदाय कहलाता है। निचिरेन सम्प्रदाय के अनुयायी उन्हें एक 'महाबोधिसत्त्व' मानते हैं, जिसने राष्ट्र को बचा लिया।

परिशिष्ट
सूची-१
तिब्बती भाषा में सुरक्षित भारतीय पण्डितों के पत्र

पत्र-प्रेषक का नाम	जिसके पास पत्र प्रेषित किया गया	पत्र नाम	समय	तंजुर (म्दो-ह्ग्रेल) में निर्देश
मातृचेट	कनिष्क	महाराज कनिष्क	प्रथम शताब्दी ईसवी	गि ३४, ने २९
नागार्जुन	उदायिभद्र (शातवाहन)	सुहृल्लेख	द्वितीय शताब्दी ईसवी	गि ३२, ने २७

चन्द्रगोमिन	वीररत्न कीर्ति	शिष्यलेख	छठी शताब्दी ईसवी	गि ३३, ने २८
जिवारि[1]	...	चित्तरत्न-विशोधन-क्रम	ग्यारहवीं शताब्दी ईसवी	गि ३३, ने ३०
बोधिभद्र (सोमपुरी)	...	गुरुलेख	ऊपर के समान	गि ३३, ने ३१
सज्जन	सूक्ष्मज्ञान	पुत्रलेख	ऊपर के समान	गि ३३, ने ३२
दीपंकर श्रीज्ञान	नयपाल	विमलरत्न-लेख	ऊपर के समान	गि १०३, ने ३३
जगन्मित्रानन्द	जयचन्द्र	चन्द्रराज-लेख	बारहवीं शताब्दी ईसवी	गि १०३, ने ३४

सूची २

तिब्बती अनुवादकों की सहायता से अतिश के द्वारा अनुवादित कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ

ग्रन्थ का नाम	लेखक	अनुवादक
माध्यमक-रत्न-प्रदीप	भव्य	ग्यं छोन, ग्रुस, सेन गे (विक्रमसिंह)
माध्यमक-हृदय-कारिका	भव्य	(नग-छो) छुल, खिम्स-ग्यंल व (शीलजय या जयशील), ल्हासा
माध्यमक-हृदय-कारिका-वृत्ति	भव्य	ऊपर के समान
माध्यमकार्थ-संग्रह	भव्य	ऊपर के समान
माध्यमकभ्रमघाट	आर्यदेव	ऊपर के समान
पञ्चस्कन्ध प्रकरण	चन्द्रकीर्ति	ऊपर के समान
रत्नाकरएडोद्घाट	दीपंकर श्रीज्ञान	ग्यं लोछ्वा और शीलजय (जयशील)
शिक्षासमुच्चयाभिसमय	सुवर्णद्वीपीय धर्मपाल	शीलजय
बोधि-पथ-प्रदीप	दीपंकर श्रीज्ञान	(शु०) द्गे-वहि-ब्लो ग्रोस

१. तोहोकु विश्वविद्यालय की पुस्तक-सूची (१९३४) के अनुसार यह नाम जेतारि है।

बोधि-पथ-प्रदीप-पञ्जिका	दीपंकर श्रीज्ञान	शीलजय (जयशील)
महासूत्रसमुच्चय	दीपंकर श्रीज्ञान	जयानन्द और (प छब) नि-म-ग्रग्स

आठवाँ अध्याय

चीनी यात्री

सातवीं शताब्दी ईसवी के करीब जब यूरोप 'अन्धकार-युग' में रह रहा था, भारत और चीन एक प्रगाढ़ राजनैतिक, बौद्धिक, धार्मिक और कलात्मक जीवन बिता रहे थे। बौद्ध-धर्म ने इन दोनों देशों के बीच जिस सम्बन्ध को स्थापित किया उसने मानवता की एक ऐसी धारा को जन्म दिया जो सिंहल से जापान तक फैल गई। तंग वंश के शासन-काल में चीन ने एक नवीन एकता प्राप्त की और भारत से आने वाले शान्तिदायक प्रभाव का उसने स्वागत किया, जिससे उसकी शक्ति में मृदुता आई। इस युग में अनेक चीनी तीर्थ-यात्री भारत में आये, जिनमें से केवल दो सुप्रसिद्ध, युआन च्वांग और इ-त्सिंग अपने लिखित विवरण छोड़ गये हैं जिनमें उस विस्तृत आन्दोलन की स्मृतियाँ अनुविद्ध हैं जिसमें जापान ने भी भाग लिया था। होर्युंजी का मन्दिर, जिसे शोतोकु तेशा ने नारा में सन् ६०७ ई० में बनवाया, इस परिवर्तन का साक्षी है। दो शताब्दी पूर्व फाहियान इस आन्दोलन का पूर्वगामी था। वह भारत आने वाला सर्वप्रथम चीनी यात्री था, जो अपनी यात्रा का विवरण लिखित रूप में छोड़ गया है।

फाहियान

फाहियान ने मध्य-चीन से गोबी के रेगिस्तान में होते हुए हिन्दूकुश तथा उत्तरी भारत को पार करते हुए बंगाल के ताम्रलिप्ति नामक बन्दरगाह तक की अपनी सारी यात्रा पैदल ही की। ताम्रलिप्ति से वह समुद्री मार्ग द्वारा सिंहल गया और वहाँ से भयानक समुद्री यात्रा के बाद, जिसमें वह कई बार मृत्यु से बाल-बाल बचा, वह अपने देश चीन में पहुँचा। वह अपने साथ अनेक बौद्ध-धार्मिक ग्रन्थ और बौद्ध देवताओं की मूर्तियाँ ले गया, जिनकी खोज में वह भारत आया था।

फाहियान चीन में बौद्ध विनय की दुरवस्था देख कर अत्यन्त खिन्न था। अनेक मित्रों के साथ भारत आकर विनय-नियमों को ले जाने का उसने संकल्प किया। चीन के चंगन नामक स्थान से प्रस्थान करने के बाद यात्रा करता हुआ वह तन-

हुआंग आया। यहाँ के राज्यपाल ने उसे गोबी रेगिस्तान को पार करने के लिए आवश्यक सहायता प्रदान की। गोबी के रेगिस्तान की भयानक यात्रा का वर्णन करते हुए फाहियान ने लिखा है कि अनेक दुष्ट आत्माएँ और गर्म हवाएँ इसमें निवास करती थीं जो किसी को नहीं छोड़ती थीं। न ऊपर चिड़ियाँ दिखाई पड़ती थीं, न नीचे पशु। मार्ग का चिन्ह पाने के लिए चारों ओर दृष्टि फैलाने पर भी सिवाय मरे हुए आदमियों की जलती हुई हड्डियों के और कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता था।

फाहियान ने मध्य-एशिया में जिन राज्यों की यात्रा की, उनमें उसने भारतीय संस्कृति का प्रचार देखा। लोप-नोर के दक्षिण में शन-शन के प्रदेश में उस समय हीनयान सम्प्रदाय के चार हज़ार भिक्षु थे और साधारण जनता भारतीय धर्म का ही कुछ परिवर्तनों के साथ अनुसरण करती थी। "इस स्थान से पश्चिम में चलकर जो राष्ट्र मिलते हैं वे भी इसी प्रकार के हैं। जो अपने घरबार को छोड़कर श्रमण और श्रामणेर बन गये हैं, वे सब भारतीय ग्रन्थों और भारत में बोली जाने वाली भाषाओं का अध्ययन करते हैं।" फाहियान ने दो मास और कुछ दिन कड़ा-शहर में बिताये। यहाँ हीनयान सम्प्रदाय के ४००० से अधिक भिक्षु उस समय थे।

आगे चलकर चीनी यात्री खोतान ठहरा जो एक समृद्ध और सुखी राष्ट्र था। यहाँ महायान के अनेक सहस्र भिक्षु निवास करते थे। इस देश के राजा ने फाहियान और उसके साथियों को विशाल और आरामप्रद 'गोमती-विहार' में निवास दिया। इस विहार का अनुशासन परिपूर्ण था। "एक घंटे की आवाज पर तीन हजार भिक्षु भोजन के लिए एकत्र हो जाते हैं। जब वे विहार की भोजन-शाला में प्रवेश करते हैं, तो उस समय उनका व्यवहार गम्भीर और शिष्टतापूर्ण होता है। नियमित क्रम में वे बैठ जाते हैं। सब मौन रहते हैं, उनके बर्तनों की भी कोई खनखनाहट नहीं होती। अधिक भोजन यदि वे परोसवाना चाहते हैं, तो परोसने वालों को वे बुलाते नहीं, बल्कि अपने हाथों से केवल संकेत कर देते हैं।"

फाहियान के कुछ साथी खोतान से काशगर की ओर बढ़ गये, परन्तु फाहियान और उसके कुछ अन्य साथी खोतान में तीन महीने और ठहर गये ताकि मूर्तियों के प्रभावशाली जुलूस को देख सकें। इस जुलूस में (हीनयान सम्प्रदाय को छोड़कर) चौदह विहारों के भिक्षु भाग लेते थे, जिनमें गोमती विहार के भिक्षुओं का प्रथम स्थान होता था। राजा और उसके दरबार के लोग ही नहीं, बल्कि रानियाँ भी इस समारोह में सम्मिलित होती थीं। यह समारोह हमारे आज के रथोत्सव के समान था, बल्कि उससे भी अधिक शानदार ढंग से मनाया जाता था। भिन्न-भिन्न प्रकार के रथ होते थे और प्रत्येक विहार का रथोत्सव अलग-अलग दिन होता था। खोतान

नगर से सात या आठ 'ली' (एक 'ली' करीब एक-तिहाई मील के बराबर होता है) पश्चिम में राजा के द्वारा निर्मित 'नवीन विहार' स्थित था, जो २५० फुट ऊँचा था और जिसके बनवाने में ८० वर्ष लगे थे।

खोतान में रथ-महोत्सव को देखने के बाद फाहियान काशगर को चल दिया, जहाँ वह तीन मास में पहुँचा। काशगर में उसने वहाँ के राजा के द्वारा बुलाई गई 'पंच-परिषद' को देखा। यह परिषद प्रति पाँचवें वर्ष बुलाई जाती थी। इसी प्रकार की परिषद को हम भारत में सातवीं शताब्दी में हर्षवर्द्धन द्वारा प्रयाग में बुलवाये जाते देखते हैं, जिसमें युश्रान च्वांग भी सम्मिलित हुआ। परन्तु काशगर की सभा अपेक्षाकृत छोटी ही रही होगी। काशगर के सम्बन्ध में फाहियान ने लिखा है, "इस देश में भगवान बुद्ध का एक पीकदान है। यह पत्थर का बना हुआ है और उनके भिक्षा-पात्र के रंग का है। भगवान बुद्ध का एक दन्त-धातु भी यहाँ है, जिसके ऊपर यहाँ के लोगों ने एक स्तूप का निर्माण किया है।"

बालोर-त्तघ पर्वत-श्रेणी के किनारे-किनारे सिन्धु नदी को प्रथम बार पार करने के भयानक दृश्य का फाहियान ने वर्णन किया है। चट्टानों को सीढ़ियों की सहायता से पार करने के बाद उसने इस नदी को रस्सियों के बने पुल से पार किया था। इसके बाद फाहियान उद्यान पहुँचा जो उस समय बौद्ध-धर्म का एक समृद्ध केन्द्र था। इसके बाद दक्षिण दिशा में चलकर फाहियान गन्धार और तक्षशिला में आया। पेशावर में उसने कनिष्क के द्वारा निर्मित स्तूप को देखा, जिसकी अतुलनीय विशालता का उसने वर्णन किया है।

पेशावर से आगे चलकर फाहियान नगरहार (हद्दा) आया। इस समय तक उसके सब साथी उसे छोड़ चुके थे। नगरहार में एक स्तूप था, जो भगवान बुद्ध की खोपड़ी की हड्डी के ऊपर बनवाया गया था। नगरहार के दक्षिण में आधे योजन की दूरी पर फाहियान ने एक गुफा देखी, जिसमें लोगों के कथनानुसार भगवान बुद्ध अपनी छाया छोड़ गये थे, "चारों ओर के देशों के अनेक राजाओं ने कुशल चित्रकारों को उसका रेखा-चित्र खींचने के लिए भेजा है, परन्तु कोई उसका ऐसा चित्र नहीं बना सका है।" नगरहार के पड़ोस के अन्य कई स्थानों का भी वर्णन फाहियान ने किया है।

सफेद कोह को पार करने के बाद फाहियान ने अफगानिस्तान में प्रवेश किया। यहाँ उस समय महायान और हीनयान सम्प्रदायों के तीन हज़ार भिक्षु रहते थे। बन्नू में भिक्षुओं की इतनी ही संख्या थी, परन्तु वे सब हीनयान सम्प्रदाय के थे। तदनन्तर पंजाब में भ्रमण करता हुआ चीनी यात्री मथुरा प्रदेश में आया, जहाँ बौद्ध-धर्म उस समय अत्यन्त लोक-प्रिय अवस्था में था और राजा और जनता सब भिक्षुओं

का आदर करते थे। आगे बढ़ता हुआ चीनी यात्री मध्य-देश में पहुँचा जिसे गुप्त साम्राज्य का हृदय कहा जा सकता था। इस प्रदेश का विस्तृत विवरण फाहियान ने दिया है। उसकी जलवायु की प्रशंसा करते हुए उसने वहाँ के निवासियों की समृद्धि का वर्णन किया है। राज्य-शासन और दण्ड-व्यवस्था का भी उसने वर्णन किया है। लोगों की सदाचार-प्रियता का वर्णन करते हुए उसने लिखा है, "सारे देश में कोई जीव-हिंसा नहीं करता, न कोई शराब पीता है, यहाँ तक कि लोग प्याज़ और लहसुन भी नहीं खाते......इस देश में सुअर और मुर्गियाँ नहीं पाली जातीं, पशुओं का क्रय-विक्रय नहीं होता, यहाँ के बाजारों में माँस बेचने वालों की दूकानें नहीं हैं और न शराब ही निकाली जाती है।" समाज में भिक्षुओं का सम्मान था और सब जगह लोग शयनासन, भोजन और वस्त्र से उनका आतिथ्य करते थे।

इसके बाद फाहियान ने क्रमशः संकाश्य (कपिथ), कन्नौज (कन्याकुब्ज-कुबड़ी कन्याओं का प्रदेश) और साकेत या अयोध्या (शा-कि) की यात्रा की। श्रावस्ती, कपिलवस्तु, वैशाली और पाटलिपुत्र भी वह गया। मगध देश की फाहियान ने बड़ी प्रशंसा की है। उसने लिखा है, "मध्य मण्डल के सब देशों में मगध में ही सबसे अधिक विशाल नगर और कस्बे हैं। इसके आदमी बड़े धनवान और समृद्ध हैं और हृदय की उदारता तथा अपने पड़ौसियों के प्रति कर्त्तव्य-पालन में एक-दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा करते हैं।" मगध के निवासियों को भी मूर्त्तियों के जुलूस निकालते फाहियान ने देखा था। उसने वहाँ के दातव्य औषधालयों का भी बड़ी प्रशंसापूर्वक उल्लेख किया है। नालंदा, राजगृह, गया, वाराणसी और उसके समीप ऋषिपतन मृगदाव तथा कौशाम्बी की भी फाहियान ने यात्रा की और इन सब का विशद वर्णन उसने किया है। कौशाम्बी के घोचिरवन (घोषितारास) में जिस समय वह था, उसने दक्षिण भारत के पारावत नामक विहार के बारे में सुना, जिसके सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता।

वाराणसी से फाहियान पाटलिपुत्र लौट आया। किस प्रकार उसने बौद्ध-धर्म सम्बन्धी हस्तलिखित पुस्तकें प्राप्त कीं, इसका विवरण फाहियान ने दिया है, जो काफी रोचक है। साधारणतः बौद्ध शास्त्र मौखिक परम्परा में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक चले आ रहे थे, परन्तु श्रावस्ती के एक महायानी संघाराम में फाहियान को एक हस्तलिखित प्रति मिली। फाहियान का कहना है कि यह प्रति बुद्ध-उपदेशों के उस पाठ के अनुसार थी जिसकी स्वीकृति प्रथम महासंगीति के अवसर पर की गई थी और जिसका प्रयोग भगवान बुद्ध के जीवन-काल में भी भिक्षु करते थे। फाहियान का यह कहना आधुनिक विद्वानों को स्वीकार नहीं हो सकता। फाहियान ने तीन वर्ष संस्कृत (या

पालि) लिखने और बोलने के सीखने में तथा विनय की प्रतिलिपि करने में बिताये। फिर वह चम्पा होता हुआ तमलुक (ताम्रलिप्ति) चला गया और वहाँ भी उसने दो वर्ष सूत्रों की अनुलिपि करने तथा मूर्त्तियों के चित्र खींचने में बिताये।

एक बड़े व्यापारिक जहाज में बैठकर फाहियान तमलुक से सिंहल के लिए चल दिया जहाँ वह चौदह दिन में पहुँचा। सिंहल में फाहियान दो वर्ष तक ठहरा और इस बीच वह चीन में अज्ञात संस्कृत ग्रन्थों का संग्रह और उनकी अनुलिपि करता रहा। सिंहल में निवास करते समय फाहियान को अपने घर की बुरी तरह याद आने लगी। चीन से चले उसे कई वर्ष हो गए थे। उसके कुछ साथी पीछे रह गए थे या मर गए थे। वह अकेलापन अनुभव कर रहा था। एक दिन जब एक व्यापारी को उसने अनुराधपुर के अभयगिरि विहार में भगवान बुद्ध की मूर्ति के सामने श्वेत रेशम से बने एक चीनी पंखे को अर्पित करते देखा तो वह अपनी भावनाओं को रोक नहीं सका और उसकी आँखों में आँसू आ गए। फाहियान ने सिंहल के विहारों, दन्तधातु-महोत्सव, मिहिन्तले और सामान्यतः सिंहली बौद्ध-धर्म का एक आकर्षक चित्र हमें दिया है।

सिंहल से पुनः एक बड़े व्यापारिक जहाज में बैठकर फाहियान अपने देश चीन की ओर चल पड़ा। रास्ते में दो दिन की यात्रा के बाद एक बड़ा तूफान आया जो तेरह दिन तक चलता रहा। एक बार तो यहाँ तक नौबत आई कि फाहियान को भय होने लगा कि कहीं नाविक उसकी पुस्तकों और मूर्तियों को समुद्र में न फेंक दें। परन्तु सौभाग्यवश ऐसा नहीं हुआ। जहाज में एक छेद का पता लगा जिसे एक टापू के पास बन्द कर दिया गया। इसके बाद एक और भयंकर तूफान आया, परन्तु ९० दिन की यात्रा के बाद फाहियान का जहाज सुरक्षित रूप से जावा पहुँच गया। यहाँ फाहियान उतर गया और पाँच महीने तक इस द्वीप में ठहरा। इस समय जावा में ब्राह्मण-धर्म समृद्ध अवस्था में था और बौद्ध-धर्म की अवस्था सन्तोषजनक नहीं थी। एक दूसरे व्यापारिक जहाज में बैठकर और उतनी ही भयंकर यात्रा के बाद फाहियान चीन के चिंग-चाउ नामक स्थान में पहुँचा जहाँ एक जाड़ा और एक गर्मी बिताने के बाद वह चीन की राजधानी नानकिंग में पहुँचा और जिन सूत्रों और विनय को वह भारत से ले गया था, उन्हें धर्म-गुरुओं को उसने अर्पित कर दिया।

फाहियान ने चीन के चंगन प्रान्त से भारत के मध्य-देश तक की यात्रा में छः वर्ष बिताए। छः वर्ष तक ही वह भारत में ठहरा। उसके बाद तीन वर्ष में वह चिंग-चाउ पहुँचा। करीब तीस देशों के बीच में होकर वह अपनी यात्रा में गुजरा।

उसने अपने व्यक्तिगत जीवन को महत्त्व नहीं दिया और न उसके बारे में कभी सोचा। गहन कान्तारों और पर्वत-श्रेणियों को उसने पार किया और भयंकर समुद्री यात्राएँ कीं, केवल इस उद्देश्य के लिए कि वह अपने देश के लोगों को बौद्ध-धर्म का संदेश सुना सके। त्रिरत्न के अनुभाव से उसकी रक्षा हुई और संकट के क्षणों में वह बचा लिया गया। जिन अनुभवों के बीच होकर वह गुजरा, उनका विवरण उसने बाँस के फलकों और रेशम पर इसलिए लिखा कि सौम्य पाठक भी इस सूचना में अपने भाग को प्राप्त कर सके।

युआन-च्वांग

युआन-च्वांग का जन्म सन् ६०२ ई० में लो-यंग में हुआ। जब वह आठ वर्ष का ही था, उसने कनूफ्यूशियन धर्म के विधि-विधान के पालन से अपने पिता को आश्चर्यान्वित कर दिया। उससे यह आशा की जाने लगी कि वह अपने अनेक पूर्वजों की भाँति परम्परावादी ढंग का प्रसिद्ध साहित्यकार बनेगा। परन्तु जब उसके बड़े भाई ने बौद्ध भिक्षु की दीक्षा ले ली तो उससे प्रभावित होकर युआन-च्वांग ने भी तेरह वर्ष की अवस्था में ही लो-यंग के बौद्ध विहार में जाकर शील ग्रहण कर लिया। उसने भारतीय दर्शन का अध्ययन शुरू किया और शीघ्र उसकी जटिलताओं पर अधिकार प्राप्त कर लिया। सन् ६१७ में चीन में राजनैतिक अव्यवस्था फैल गई, जिसके परिणामस्वरूप युआन-च्वांग को स्पु-चुआन के पर्वतों में शरण लेनी पड़ी। इस बीच उसका बौद्ध-धर्म का अध्ययन चलता रहा और उस पर प्रवचन भी वह देने लगा, जिसके कारण उसकी पर्याप्त ख्याति हो गई। सन् ६६२ ई० में चंग-अन (आधुनिक सि-अन-फु) उसके कार्य का केन्द्र बन गया। यह नगर नए राजवंश की राजधानी था और उस समय चीन में बौद्ध-धर्म का केन्द्र था। यहाँ रहते हुए युआन-च्वांग के मन में बौद्ध-धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों और सिद्धान्तों को देखकर शंकाएँ आने लगीं। उन्होंने संकल्प किया कि वे भारत जाकर वहाँ के ज्ञानी पुरुषों से मिलेंगे और अपनी शंकाओं का समाधान करेंगे।

उन्होंने इस उद्देश्य से चीन से प्रस्थान करने की सम्राट से अनुमति माँगी, परन्तु वह नहीं मिली। संकल्प के पक्के इस छब्बीस वर्षीय भिक्षु ने इसकी पर्वाह न करते हुए और आगे आने वाले भयों से न डरते हुए गुप्त यात्रा शुरू कर दी। रात में वह यात्रा करता और दिन में छिपा रहता। सीमान्त के एक किले के पास उस पर किसी ने तीर का निशाना लगाया, परन्तु वह बाल-बाल बच गया। बिना किसी की सहायता के और प्रत्येक संकट की उपेक्षा करते हुए युआन-च्वांग ने अकेले रेगिस्तान को पार किया और वह ह-मि पहुँचा जहाँ तुर्फान (जो उस समय

कओचंग कहलाता था) के राजा की ओर से, जो एक श्रद्धालु बौद्ध था, उसे एक निमन्त्रण मिला ।

तुर्फान गोबी के रेगिस्तान के मध्य में स्थित है । आज वह निष्प्राण है, परन्तु उन दिनों वहाँ जीवन का स्पन्दन था । जनता बौद्ध थी और समृद्ध आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक जीवन बिताती थी । तोखारीयन भाषा की एक उपभाषा बोली जाती थी । वहाँ का शासक चु-वेन-तइ (६२०-६४० ई०) चीनी वंश का था । वह तुर्की ख़ान के अधीन था और चीनी सम्राट से भी उसके सम्बन्ध थे । उसका निमन्त्रण वस्तुतः आदेश ही था और चीनी यात्री को करीब-करीब बलपूर्वक ही तुर्फान ले जाया गया । चु-वेन-तइ श्रद्धालु बौद्ध होते हुए भी कुछ अपरिष्कृत स्वभाव का आदमी था । हालां कि युआन-च्वांग का उसने अत्यन्त आदरपूर्वक आतिथ्य किया, परन्तु उसकी योजना यह थी कि वह युआन-च्वांग को अपने दरबार में ही धर्म-गुरुओं का प्रधान बना कर रख ले । उसने युआन-च्वांग से कहा, "मैं आपको यहाँ रखने का आग्रह करता हूँ ताकि मैं आपकी वन्दना कर सकूँ । पामीर के पर्वत को अपनी जगह से हटाना आसान है, परन्तु मेरे निश्चय को डिगाना कठिन है ।" युआन-च्वांग ने वीरतापूर्वक उत्तर दिया, "सद्धर्म के उद्देश्य के लिए मैं आया हूँ । राजा केवल मेरी हड्डियों को ही रख सकेगा । मेरी आत्मा या इच्छा-शक्ति पर उसका कोई अधिकार नहीं है ।" इस संकल्प के साथ युआन-च्वांग ने राजा के द्वारा भेजे गये भोजन को छुआ तक नहीं । तब राजा को चिन्ता हुई और उसने युआन-च्वांग की बात मान ली । युआन-च्वांग ने एक मास और वहाँ ठहरना स्वीकार कर लिया और इस बीच उन्होंने राजा के दरबार में धर्मोपदेश दिए । एक मास की समाप्ति पर राजा ने न केवल चीनी यात्री को सम्मानपूर्वक विदा किया, बल्कि उसके मार्ग पर पड़ने वाले सब राज्यों के राजाओं के लिए परिचय-पत्र भी दिये । एक परिचय-पत्र तुर्की ख़ान को भी दिया जिसका आदेश भारत के दरवाजों तक चलता था । इस प्रकार युआन-च्वांग का पद अब एक साधारण तीर्थ-यात्री के रूप में न रह गया, बल्कि उसे एक राजकीय महत्त्व मिला और भारत तक अपने मार्ग में वह जहाँ कहीं गया, उसे शानदार ढंग से सब आवश्यक वस्तुएँ मिलती गईं ।

तुर्फान से चलकर युआन-च्वांग कड़ा-शहर पहुँचा, जो एक तोखारी-भाषी नगर था । यहाँ उस समय दस संघाराम थे, जहाँ हीनयान मत के दो हजार भिक्षु निवास करते थे । एक रात यहाँ ठहर कर युआन-च्वांग कूचा (सं० कुचो) पहुँचा जो उस समय मध्य-एशिया का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण नगर था । इसकी भौतिक समृद्धि और उच्च सभ्यता से युआन-च्वांग बहुत प्रभावित हुआ । बीसवीं शताब्दी में

जो पुरातत्व-सम्बन्धी खोजें यहाँ हुई हैं, उनसे बहुत से ऐसे दृश्य सामने आए हैं जिनमें युआन-च्वांग ने भाग लिया होगा। कूचा गोबी के रेगिस्तान में एक नख़लिस्तान जैसा था और इसके शासकों को योद्धा होना अनिवार्य था, क्योंकि यह नगर चारों ओर से तुर्क-मंगोलों से घिरा हुआ था। कूचा की गद्दी पर इस समय एक तोखारी शासक बैठा हुआ था जिसका नाम सुवर्णदेव था, जो सुवर्णपुष्प का पुत्र और उत्तराधिकारी था। उसके राज्य में ५००० भिक्षु थे जिन्हें वह सब प्रकार का संरक्षण देता था। चीन के तंग-वंशीय सम्राट से भी उसके कूटनीतिक सम्बन्ध थे। हीनयान मत के भिक्षुओं से यहाँ युआन-च्वांग के शास्त्रार्थ हुए। इस समय कूचा में मोक्ष गुप्त नामक एक वृद्ध सन्त रहते थे जिनके साथ युआन-च्वांग के अच्छे सम्बन्ध हो गये। बुरे मौसम के कारण चीनी यात्री को कूचा में दो या तीन मास ठहरना पड़ा। जब उसने वहाँ से प्रस्थान किया तो राजा ने उसे नौकर, ऊँट और घोड़े, एक पूरा काफिला ही दिया और राजा के साथ भिक्षु तथा अन्य धार्मिक नागरिक-गण युआन-च्वांग को विदाई देने के लिए नगर की बाहरी सीमा तक आये।

कूचा छोड़ने के दो दिन बाद युआन-च्वांग पर डाकुओं ने आक्रमण किया और फिर वह टीन-शन के ढलाव पर स्थित हिम-नदी पर आया, जिसका उसने चित्रमय वर्णन किया है। आगे चलते हुए चीनी यात्री इस्सिककुल (गर्म झील) के पास आया, जहाँ उस समय पश्चिमी तुर्कों का ख़ान तम्बू डाले पड़ा था। यह सन् ६३० ई० की बात है। ख़ान धार्मिक संस्कृति से रहित नहीं था और बौद्ध-धर्म की ओर उसका झुकाव था, क्योंकि पचास वर्ष पूर्व उसके पूर्वजों को गन्धार के एक जिनगुप्त नामक बौद्ध भिक्षु से शिक्षा मिल चुकी थी। ख़ान ने युआन-च्वांग का सत्कारपूर्वक आतिथ्य किया और 'शुद्ध भोजन' खिलाया, अर्थात् चावल की रोटियाँ, मलाई, दूध, चीनी, शहद और किशमिशें। भोजन के बाद युआन-च्वांग ने उसे धर्म का उपदेश किया, जिसके बाद ख़ान ने प्रसन्नतापूर्वक कहा कि धर्म के उपदेश को वह श्रद्धापूर्वक स्वीकार करता है। ख़ान ने भी युआन-च्वांग को अपने पास रोकना चाहा, परन्तु जब यह सम्भव नहीं हुआ तो उसने उसे उसकी भारत तक की यात्रा में अपना राजकीय संरक्षण दिया, जिसके कारण युआन-च्वांग पामीर और बैक्ट्रिया के दर्रों को आसानी से पार कर सका।

युआन-च्वांग का आगे का पड़ाव समरकन्द (प्राचीन मरकन्द) में पड़ा, जो व्यापारिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नगर था, क्योंकि वहाँ भारत और चीन के काफिलों के मार्ग मिलते थे। यहाँ के लोग ज़ोरोष्ट्रियन धर्म और बुद्ध-धर्म के बीच

विचलित होते रहते थे। युआन-च्वांग की इस नगर की यात्रा से तुर्क-ईरानी राज्य में बौद्ध-धर्म को प्रकर्ष मिला। उसने यहाँ एक सभा की जिसमें अनेक भिक्षुओं को दीक्षित किया गया और पूजा के लिए अनेक प्राचीन विहारों का पुनरुद्धार किया गया।

समरकन्द से यात्रा करता हुआ चीनी यात्री कठिन पर्वत-मार्गों को पार करने के बाद पश्चिमी तुर्क-साम्राज्य की दक्षिणी सीमा पर पहुँचा। आक्सस नदी को पार कर युआन-च्वांग ने बैक्ट्रिया में प्रवेश किया, जो उस समय तर्दुशद के शासन में थी, जो तुर्कों के एक बड़े ख़ान का पुत्र था। तर्दुशद का विवाह तुर्फान के राजा की बहिन से हुआ था, जो एक श्रद्धालु बौद्ध था। बैक्ट्रिया में बौद्ध-धर्म का प्रचार सम्भवतः अशोक के धर्म-प्रचारकों द्वारा किया गया था। बैक्ट्रिया की राजधानी बलख थी। बलख और बैक्ट्रिया में उस समय अनेक विहार थे जहाँ हीनयानी भिक्षु निवास करते थे। यहाँ के प्रज्ञाकर नामक एक विद्वान भिक्षु का उल्लेख युआन-च्वांग ने किया है, जिसके साथ सत्संग का उन्होंने लाभ उठाया था। आगे चलकर युआन-च्वांग ने हिन्दूकुश को पार किया और वह बामियान पहुँचा, जिसके दृश्य का उसने सही वर्णन किया है। इस समय बामियान में दस बौद्ध विहार थे जिनमें कई हजार भिक्षु रहते थे। युआन-च्वांग ने दो विशाल बुद्ध-मूर्तियों का भी उल्लेख किया है, जिनकी ऊँचाई, क्रमशः १७० और ११५ फुट थी।

बामियान से चल कर ६००० फुट ऊँचे शिबर दर्रे को पार कर युआन-च्वांग कपिश (काबुल के उत्तर में आधुनिक बेगराम गाँव) पहुँचा जो उस समय एक समृद्ध व्यापारिक नगर था। शिबर दर्रे को पार करते हुए युआन-च्वांग को डाकुओं का सामना करना पड़ा। कपिश में उस समय एक बौद्ध राजा राज्य करता था जो महायान में श्रद्धावान था। यहाँ युआन-च्वांग ने विभिन्न बौद्ध सम्प्रदायों की सभा की, जो पाँच दिन तक चलती रही। सन् ६३० में युआन-च्वांग लम्पक होते हुए जलालाबाद (प्राचीन नगरहार) पहुँचा। यहाँ उसने प्रथम बार भारतीय भूमि पर पैर रखा और उसे जलवायु और निवासियों के स्वभाव में एक विशेष अन्तर दिखाई पड़ने लगा। गन्धार में गत छः शताब्दियों से प्रबल ग्रीक-रोमन प्रभाव में बौद्ध कला विकसित हो रही थी और वह बौद्ध-धर्म का द्वितीय पवित्र स्थान माना जाता था। पेशावर उस समय हूणों के आक्रमणों के कारण नष्ट-भ्रष्ट अवस्था में था। करीब दस लाख बौद्ध विहार भग्न अवस्था में पड़े थे और वहाँ कोई नहीं रहता था। स्तूप भी टूटी-फूटी अवस्था में पड़े थे। उद्यान या उड्डियान

देखने भी युआन-च्वांग गया, जिसे हूणों ने गन्धार से भी अधिक नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। किसी समय यहाँ १४०० विहार और १८००० भिक्षु थे। जनता अब भी प्रायः बौद्ध थी और हीनयान और महायान दोनों ही प्रचलित थे, परन्तु महायान का रूप तान्त्रिक होता जा रहा था। उड्डियान और गन्धार से प्रस्थान करने के बाद युआन-च्वांग ने उदभण्ड या उदकखण्ड के समीप सिन्धु नदी को पार किया और तक्षशिला में प्रवेश किया। यहाँ भी उसने हूणों के द्वारा विनष्ट अनेक बौद्ध विहार देखे। यहाँ से कुछ समय के लिए युआन-च्वांग काश्मीर गया, जहाँ उस समय बौद्ध-धर्म का प्रचार था। यहाँ इस समय एक सौ बौद्ध विहार और ५००० भिक्षु थे और लोगों को अशोक और कनिष्क की स्मृतियाँ प्रिय थीं। काश्मीर के राजा ने अपनी राजधानी प्रवरपुर (श्रीनगर) में युआन-च्वांग का सम्मानपूर्वक स्वागत किया। यहाँ युआन-च्वांग ने एक सत्तर वर्षीय महायानी भिक्षु के दर्शन किये जिनसे उन्होंने विज्ञानवाद की विशुद्ध परम्परा के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें सीखीं। युआन-च्वांग ने मई सन् ६३१ से लेकर अप्रैल सन् ६३३ ई० तक अर्थात् पूरे दो वर्ष काश्मीर में बिताये और इस बीच उन्होंने वहाँ बौद्ध दर्शन का अध्ययन किया और अपने साथ चीन ले जाने के लिए अनेक सूत्रों और शास्त्रों की प्रतिलिपियाँ भी करवाईं।

काश्मीर से चल कर युआन-च्वांग पहले साकल (स्यालकोट) में रुका जो पूर्व काल में ग्रीक राजा मिनान्दर और हूण अत्याचारी शासक महिरकुल (या मिहिरकुल) की राजधानी रहा था और जहाँ युआन-च्वांग से दो शताब्दी पूर्व तेजस्वी दार्शनिक वसुबन्धु ने भी निवास किया था। स्यालकोट से चीनी यात्री व्यास नदी के बायें किनारे पर स्थित चीनभुक्ति नामक स्थान पर आया जहाँ उसे माध्यमिक मत में निष्णात एक वृद्ध ब्राह्मण मिला जिसके साथ सत्संग करते हुए उसने एक महीना एक गाँव में गुजारा। चीनभुक्ति में युआन-च्वांग एक वर्ष तक ठहरा और सन् ६३४ की वर्षा में यह जालन्धर पहुँचा। यहाँ से चीनी यात्री मथुरा आया जो उस समय बौद्ध कला के लिए प्रसिद्ध थी। मथुरा से यमुना की ओर ऊपर जाते हुए वह कुरुक्षेत्र के समीप स्थाणेश्वर भी गया। उसके बाद चीनी यात्री कपिथ (प्राचीन संकाश्य) गया, जहाँ से वह कन्याकुब्ज (कन्नौज) गया, परन्तु इस समय उसकी राजा हर्ष से भेंट नहीं हुई क्योंकि राजा पूर्व में गया हुआ था। बाद में हर्ष युआन-च्वांग का परम मित्र और संरक्षक हो गया। युआन-च्वांग ने हर्ष के व्यक्तित्व और शासन की प्रशंसा की है। अयोध्या को देखने के बाद जब चीनी यात्री गंगा के किनारे-किनारे प्रयाग जा रहा था तो रास्ते में उसे ठगों ने पकड़ लिया

और दुर्गा को उसे बलि देने का प्रयत्न किया, परन्तु किसी प्रकार युआन-च्वांग की जान बची। प्रयाग में उस समय बौद्ध-धर्म की अवस्था अधिक अच्छी नहीं थी। प्रयाग से चीनी यात्री ने कौशाम्बी जाकर वहाँ भगवान बुद्ध के स्मृति-चिन्हों को देखा।

प्रयाग में युआन-च्वांग ने भगवान बुद्ध के जन्म-स्थान की यात्रा करने का संकल्प किया। इसलिए वह वहाँ से उत्तर की ओर चल पड़ा, और श्रावस्ती (सहेत-महेत) होता हुआ कपिलवस्तु और लुम्बिनी-वन पहुँचा। इसके बाद रामग्राम और कुशीनगर (कसिया) भी चीनी यात्री गया। यहाँ से लौटते हुए चीनी यात्री वाराणसी आया, जहाँ से वह उत्तर में वैशाली (बसाढ़) गया। वैशाली से पाटलिपुत्र और वहाँ से बोध-गया चीनी यात्री दर्शनार्थ गया। नालन्दा महाविहार के भी युआन-च्वांग ने दर्शन किए। इस समय वहाँ दस हज़ार भिक्षु थे जो सब महायान के अनुयायी थे। युआन-च्वांग १५ महीने ठहरा। योगाचार-सिद्धान्तों और संस्कृत का उसने यहाँ विस्तृत अध्ययन किया। यहीं से राजगृह के दर्शनार्थ भी चीनी यात्री गया। नालन्दा से प्रस्थान कर युआन-च्वांग ने सन् ६३८ का वर्ष बंगाल और चम्पा में बिताया, जिसके बाद वह ताम्रलिप्ति पहुँचा, जहाँ से उसने हीनयान बौद्ध-धर्म के अध्ययनार्थ श्रीलंका की समुद्री यात्रा करने का विचार किया, परन्तु भिक्षुओं के परामर्श के अनुसार उसने समुद्री यात्रा नहीं की और उड़ीसा, महाकोशल, आन्ध्र और तेलगु प्रदेश में होते हुए काञ्चीपुरम् पहुँचा जहाँ उसे पता चला कि सिंहल में राजनैतिक अशान्ति चल रही है। इसलिए उसने सिंहल जाने का विचार छोड़ दिया और उत्तर की ओर चलते हुए उसने भरुकच्छ (भड़ौंच) और वलभी की यात्रा की। सिन्ध और मुल्तान की यात्रा के बाद युआन-च्वांग फिर नालन्दा में ठहरने के लिए लौट आया। कामरूप (असम) के राजा भास्कर वर्मा के निमन्त्रण पर वह उसके दर्बार में भी गया, जिसके बाद हर्ष से उसकी भेंट हुई। हर्ष के द्वारा बुलाई गई दो सभाओं में, जो कन्नौज और प्रयाग में हुईं, युआन-च्वांग ने भाग लिया। इन सभाओं का विस्तृत विवरण युआन-च्वांग ने दिया है। कन्नौज से प्रस्थान कर जालन्धर और तक्षशिला में होते हुए युआन-च्वांग अपने पूर्व मार्ग से ही नगरहार पहुँचा जहाँ एक विहार में निवास करने के पश्चात् उसने सन् ६४४ में हिन्दुकुश को पार किया और काशगर, यारकन्द और खोतान की यात्रा करते तथा कुछ समय के लिए तुन-हुआंग विहार में विश्राम करते हुए सन् ६४५ ई० में चंगन पहुँचा जहाँ राजधानी के राज-पदाधिकारियों और भिक्षुओं ने उसका उत्साहपूर्वक स्वागत किया। सम्राट ने उसे बिना अनुमति जाने के अपराध के लिए न केवल क्षमा कर दिया,

बल्कि उसका इस बात के लिए अभिनन्दन भी किया कि सबके कल्याण के लिए उसने अपने जीवन को इतने संकट में डाला। सम्राट ने मन्त्री बनने के लिए युआन-च्वांग के सामने प्रस्ताव रक्खा जिसे उसने स्वीकार नहीं किया। शेष जीवन युआन-च्वांग ने एक बौद्ध भिक्षु की ही तरह एक विहार में बिताया जिसे सम्राट ने विशेषतः उनके लिए बनवाया था। यहाँ भारत से ले जाए गए ६०० ग्रन्थों के चीनी अनुवाद का काम उन्होंने स्वयं और अन्य अनुवादकों की सहायता से करना शुरू किया। अनुवादकार्य और धर्मोपदेश करते हुए इस महान साधक चीनी भिक्षु ने, इस बात की अभिज्ञा के साथ कि उसने एक अच्छा और सोद्देश्य जीवन बिताया है, सन् ६६४ ई० में शान्ति पद निर्वाण में प्रवेश किया।

इ-त्सिंग

जब युआन-च्वांग भारत की यात्रा के बाद चीन पहुँचा, उस समय इ-त्सिंग दस वर्ष का बालक था, परन्तु उसने बौद्ध भिक्षु के जीवन की तैयारी कर ली थी। चौदह वर्ष की अवस्था में उसने भिक्षु-संघ में प्रवेश किया। यद्यपि उसने सन् ६५२ ई० में ही भारत की यात्रा करने का संकल्प कर लिया था, परन्तु सन् ६७१ ई० अर्थात् अपनी ३७ वर्ष की अवस्था में ही वह अपनी इच्छा को कार्यरूप में परिणत कर सका। इ-त्सिंग २५ वर्ष तक अर्थात् सन् ६७१ से लेकर सन् ६९५ ई० तक अपने देश के बाहर रहा और इस बीच उसने ३० से अधिक देशों की यात्रा की। सन् ६९५ ई० में वह चीन लौटा। अपने साथ ४०० ग्रन्थों को वह भारत से चीन ले गया था। इनमें से ५६ ग्रन्थों का उसने स्वयं चीनी भाषा में अनुवाद किया। सन् ७१३ ई० में ७९ साल की अवस्था में उसकी मृत्यु हो गई।

इ-त्सिंग ने अपनी भारत-यात्रा दोनों ओर से समुद्री मार्ग द्वारा की। उसके यात्रा-विवरणों में यद्यपि युआन-च्वांग के समान वैज्ञानिक रुचि और विविधता नहीं हैं, परन्तु मानवीय तत्व की अधिकता है। भारत के अलावा उसने सुमात्रा, श्रीविजय (आधुनिक पलेमबंग) और मलाया की भी यात्रा की। सन् ६७३ ई० में वह ताम्रलिप्ति में उतरा और तदुपरान्त मगध में यात्रा करता हुआ बोध-गया आया जहाँ उसने बोधि-वृक्ष की पूजा की। दस वर्ष उसने सद्धर्म का अध्ययन करते हुए और ग्रन्थों का संग्रह करते हुए नालन्दा में बिताये। ताम्रलिप्ति के मार्ग से ही उसने सन् ६८५ ई० में भारत से प्रस्थान किया। श्रीविजय पहुँच कर वहाँ उसने चार वर्ष संस्कृत के अध्ययन में बिताये जिसके बाद एक बार वह चीन जाकर फिर श्रीविजय लौट आया और अन्त में सन् ६९५ ई० में चीन लौट गया, जहाँ सम्राट और नागरिकों की ओर से उसका उसी प्रकार सम्मान किया गया जैसा युआन-च्वांग का किया गया था।

इ-त्सिंग ने लिखा है कि कोरिया के अनेक भिक्षुओं ने भी मध्य-एशिया के मार्ग से और समुद्री मार्ग से भारत की यात्रा की थी, परन्तु यात्रा की कठिनाइयों के कारण वे भारत में ही मर गये और कभी अपने देश वापस नहीं पहुँचे। इ-त्सिंग ने चीन से भारत आने वाले यात्रियों के लिए सिफारिश की है कि उन्हें भारत में प्रवेश करने से पूर्व श्रीविजय में अपनी संस्कृत की शिक्षा पूरी कर लेनी चाहिये। वस्तुतः इस युग में हिन्द-चीन और हिन्देशिया में भारतीय संस्कृति का प्रभाव अत्यधिक था और विचारों, पुस्तकों और कला-कृतियों का निरन्तर आदान-प्रदान भारत, सिंहल, जावा, कम्बोडिया, चम्पा और चीन के कान्टन प्रदेश के बीच चलता रहता था।

इस प्रकार एशिया के इतिहास के इस प्रकाशवान युग में महान तंग-वशीय इन चीनी तीर्थ-यात्रियों ने अपनी यात्राओं और धार्मिक ग्रन्थों के अनुवादों से सुदूर पूर्व को भारत के साथ एक प्रेम-सूत्र में बाँध दिया।

नौवाँ अध्याय

बौद्ध कला का संक्षिप्त पर्यवेक्षण

भगवान बुद्ध के अनुयायी अधिकतर व्यापारी वर्ग के थे, इसलिए उन्होंने विशाल स्तूप और चैत्य बनवाये, जैसे कि सांची और भरहुत मध्य-भारत में, अमरावती और नागार्जुनकोण्डा दक्षिण-भारत में और कार्ले और भज पश्चिमी भारत में। भिक्षु और भिक्षुणी संघ की रचना भगवान बुद्ध की करुणा का परिणाम थी। ये भिक्षु और भिक्षुणियाँ अक्सर देश में चारिकाएँ करते रहते थे। जैसे-जैसे इनकी संख्या बढ़ती गई, गृहस्थ उपासकों ने, जिनमें अशोक अग्रणी था, उनके लिए चैत्य, स्तूप और विहारों का बनवाना शुरू किया। अनेक गुफा-मन्दिर शान्त और सुरम्य प्राकृतिक वातावरण में बनवाये गये जैसे कि बम्बई राज्य के अन्तर्गत कार्ले, कान्हेरी और भज में तथा दक्षिण में अजन्ता में। चित्रकला और मूर्तिकला का भी उपयोग भगवान तथागत के गौरव और उनके जीवन की महत्ता को दिखाने के लिए किया गया और इसी उद्देश्य से जातक और अन्य कहानियाँ भी कला-कृतियों के रूप में अंकित की गईं।

तृतीय शताब्दी ईस्वी पूर्व से लेकर तृतीय शताब्दी ईस्वी तक के समय में बौद्ध कला और संस्कृति का विस्मयकारी विकास हुआ। अनेक स्तूप और चैत्य इस युग में बनाये गये जिनमें भगवान बुद्ध के पूर्व-जन्म की कथाओं को भी अंकित किया गया। बौद्ध कला को धर्म से प्रेरणा मिली। बौद्ध विहारों की मूर्ति-कला सम्बन्धी समृद्धि यह दिखलाती है कि धर्म का अर्थ कर्मकाण्ड या सिद्धान्त ही नहीं है, बल्कि वह एक अन्तर्हित आध्यात्मिक गुण है जो किसी न किसी प्रकार अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति प्राप्त करता है। भारत के उत्तर-पश्चिम में यूनान और रोम के प्रभाव के कारण एक मिश्रित कला का विकास हुआ और एक पूर्ण बौद्ध लाक्षणिक निदर्शन की गन्धार नाम से विवृति की गई।

बौद्ध कला में स्तूप

बौद्धों के लिए पूजा की सर्वोच्च वस्तुएँ त्रि-रत्न अर्थात् बुद्ध, धर्म और संघ हैं। इनके अलावा बुद्ध, प्रत्येक बुद्ध और अर्हतों के धातुओं पर बनाये गये स्मारक

भी हैं। इन धातुओं को हम तीन श्रेणियों में बाँट सकते हैं, (१) शारीरिक, (२) उद्देशिक, और (३) पारिभोगिक।

परम्परा के अनुसार भगवान बुद्ध के प्राचीनतम शारीरिक धातु वे बाल थे जो उपासक तपस्सु और मल्लिक को दिये गये थे और जिन पर उन्होंने अपने देश उड़ीसा में एक चैत्य बनवाया था।

मुख्य 'शारीरिक' धातु वे माने जाते हैं जो मृत्यु के बाद जलाने से बचते हैं। जब भगवान बुद्ध का महापरिनिर्वाण मल्लों के देश में हो गया तो राजगृह के अजातशत्रु, वैशाली के लिच्छवि, कपिलवस्तु के शाक्य, अल्लकप्प के बुलि, पावा के मल्ल, कुशीनगर के मल्ल, राम-ग्राम के कोलिय और वेठ द्वीप के एक ब्राह्मण, इन सब लोगों ने भगवान के धातुओं को आठ भागों में बाँट लिया और उन पर क्रमशः राजगृह, वैशाली, कपिलवस्तु, अल्लकप्प, पावा, कुशीनगर, रामग्राम और वेठ द्वीप में स्तूप बनवाये। इनके अलावा पिप्पलिवन के मौर्यों तथा द्रोण नामक एक ब्राह्मण ने भी भगवान की धातुओं के कुछ अंशों पर स्तूप बनवाए। इनके अलावा भगवान के तीन दन्त-धातुओं का भी उल्लेख है, जिसमें से एक की पूजा स्वर्ग में होती है, एक की गन्धार देश में और एक कलिंग देश में नागों द्वारा पूजा जाता है। भगवान के एक दन्त-धातु के कलिंग की राजधानी दन्तपुर में ले जाये जाने की भी कथा है।

भगवान बुद्ध और अन्य अर्हतों द्वारा प्रयुक्त वस्त्र, पात्र, वृक्ष आदि की भी पूजा की जाती है। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इन स्मारकों की पूजा कब आरम्भ हुई, परन्तु इतना असन्दिग्ध है कि मध्य-युग से पूर्व इस प्रकार की पूजा उत्तर और दक्षिण दोनों में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो चुकी थी। फाहियान ने पेशावर में बुद्ध के भिक्षा-पात्र को देखा था। भगवान बुद्ध के काषाय वस्त्र और संघाटी जैसे अन्य स्मारकों का वर्णन चीनी यात्रियों ने किया है। पालि ग्रन्थ 'दीपवंस' में न केवल भगवान बुद्ध बल्कि उनके पूर्ववर्ती बुद्धों की भी प्रयुक्त वस्तुओं का उल्लेख किया गया है। चीनी यात्री युआन-च्वांग ने भगवान बुद्ध के द्वारा छोड़ी गई छाया का भी उल्लेख किया है, जिसके दर्शन उसने कौशाम्बी, गया और नगर में किये थे। इसी प्रकार भगवान बुद्ध के द्वारा छोड़े गये पद-चिन्ह भी पूजे जाते हैं।

'चैत्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'चिता' से है। चिता की अवशिष्ट किसी भी वस्तु पर जो स्मारक खड़ा किया जाय, वह चैत्य कहलाता है। इस प्रकार के स्मारक बुद्ध-पूर्व काल में भी खड़े किये जाते थे। पारिभाषिक अर्थों में चैत्य से

अर्थ एक टीले से होता है, जिसमें किसी महापुरुष की हड्डियाँ, राख, दाँत या बाल जैसी कोई वस्तु रक्खी गई हो। इस प्रकार यह एक पूजा का स्थान भी होता है। स्तूप का अर्थ भी एक टीला होता है, या साधारणतः जो कोई भी वस्तु उठाई जाय, या स्थापित की जाय, वह स्तूप कहलाती है।

स्तूप को कभी-कभी दगोबा भी समझ लिया जाता है, परन्तु वस्तुतः दगोबा स्तूप का वह एक भाग होता है जहाँ स्मारक रक्खे जाते हैं। सभी स्तूपों के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वहाँ स्मारक वस्तुएँ रक्खी ही जाएँ। केवल किसी पूज्य स्थान पर ही स्मारक-स्वरूप स्तूप बना दिये जाते थे। भगवान बुद्ध ने जहाँ वाराणसी के समीप धर्मचक्र-प्रवर्तन किया था और जहाँ ५०० प्रत्येक बुद्धों ने निर्वाण प्राप्त किया था, वहाँ दो स्तूपों की स्थापना की गई थी।

प्राचीनतम स्तूपों के नमूने सांची और भरहुत हैं। इनके आधार वृत्तात्मक या वर्गाकार हैं और इनके चारों ओर कहीं पाषाण-वेष्टनियाँ हैं और कहीं नहीं भी हैं। ईंट का बना प्राचीनतम स्तूप पिपरावा का है जो नेपाल की सीमा पर है। सम्भवतः इसका निर्माण ४५० ई० पूर्व किया गया। इस स्तूप से यह प्रकट होता है कि चट्टानों की स्थापत्य-कला से पूर्व ईंटों का प्रयोग किया जाता था।

सांची का स्तूप बौद्ध कला में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। कहा जाता है कि तृतीय शताब्दी ईस्वी-पूर्व अशोक ने इसका निर्माण करवाया। एक शताब्दी बाद इसमें कुछ परिवर्द्धन किए गए। इसकी पाषाण-वेष्टनियाँ इसी प्रकार के परिवर्द्धनों में हैं। सांची का स्तूप सुमेरु पर्वत को अभिव्यक्त करता है और उसके प्रत्येक भाग का अभिव्यंजनात्मक अर्थ है। पहले सांची के स्तूप में केवल एक ही छत्र था, परन्तु बाद में उनकी संख्या में वृद्धि कर दी गई जिससे उसका आकार एक प्रासाद के समान हो गया और गुम्बज की लम्बाई बढ़ गई। इसी प्रकार की बात हमें नेपाल के स्वयम्भूनाथ-मन्दिर और अनुराधपुर के थूपाराम दगोबा (२४६ ई० पूर्व) में देखने को मिलती है। जावा के बोरोबुदूर और बर्मा के मिंग्युन स्तूपों की सांची के स्तूप से तुलना करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि स्तूप-निर्माण-कला विकास करते हुए उस अवस्था में पहुँची जब स्तूप सीढ़ियों के समान अनेक भागों से युक्त प्रासाद के आकार में बनाये जाने लगे। सिंहल के पोलोन्नरुवा नामक स्थान में स्थित महल-प्रासाद इसका एक उदाहरण है।

मूर्तिकला और कांस्य मूर्तियां

पत्थर और काँसे की बनी मूर्तियाँ भारत में केवल कला की वस्तुएँ ही नहीं, बल्कि धार्मिक पूजा की आलम्बन भी मानी जाती रही हैं। आज उनका महत्त्व

पुरातत्व और प्रतिमा-विद्या की दृष्टि से भी हो गया है, परन्तु फिर भी उनका प्रभाव अधिकतर उनकी सौन्दर्य शक्ति के कारण ही है। तृतीय शताब्दी ईस्वी-पूर्व भारतीय मूर्ति-कला ने अनेक महिमाशाली रूप प्राप्त किये। सारनाथ का सिंह-स्तम्भ-शीर्षक तथा रामपुरवा का पाषाण वृषभ अपने ओज और अभिव्यक्ति के कारण मौर्ययुगीन मूर्तिकारी की सर्वश्रेष्ठ कला-कृतियाँ माने जाते हैं। इनके अलावा परखम और पटना में प्राप्त यक्ष यथा दीदारगंज (तृतीय शताब्दी ईस्वी-पूर्व) में प्राप्त यक्षिणी की मूर्तियाँ अपने आकार और रूप के कारण अत्यन्त महिमाशालिनी हैं, यद्यपि उनकी आध्यात्मिक अभिव्यक्ति उतनी विशद नहीं है। मौर्य-युग के लोक-जीवन को अभिव्यक्त करने वाली कांस्य-मूर्तियाँ अभी प्राप्त नहीं हुई हैं। द्वितीय शताब्दी ईस्वी-पूर्व भारतीय कला के इतिहास में एक गहन क्रियाशीलता का युग शुरू हुआ। बौद्ध धर्म के प्रभाव-स्वरूप इस युग में सांची, भरहुत, अमरावती और नागार्जुनकोण्डा की समृद्ध मूर्तिकारी का जन्म हुआ। अमरावती और उसके पड़ोस में भगवान बुद्ध की कुछ काँसे की बनी हुई मूर्तियाँ मिली हैं, जिनका समय दूसरी शताब्दी ईस्वी से पूर्व का नहीं हो सकता। दूसरी शताब्दी के बाद धातु की बनी बुद्ध-मूर्तियाँ भी काफी लोकप्रिय हुईं और काफी संख्या में मिलती हैं। यद्यपि धातुओं से मूर्ति बनाने की कला अत्यन्त प्राचीन है, परन्तु इस प्रकार की बनी मूर्तियाँ प्रथम शताब्दी ईस्वी से पूर्व की नहीं मिलतीं। इस युग की कुछ छोटी मूर्तियाँ उत्तर में तक्षशिला और दक्षिण में अमरावती में मिली हैं।

प्रथम शताब्दी ईस्वी में मूर्ति-कला का एक जीवित और बहुफलदायक सम्प्रदाय मथुरा में चल पड़ा जिसका पूर्ण विकास गुप्त-युग (चौथी-पाँचवी शताब्दी ईस्वी) में हुआ। गुप्त-युग सम्पूर्ण भारतीय कला का ही स्वर्ण-युग माना जाता है। मथुरा, सारनाथ, और विहार की बुद्ध-मूर्तियाँ इस पूरे युग के आदर्शों की प्रतिनिधि-स्वरूप हैं। आध्यात्मिक आभा से इन मूर्तियों के मुख प्रकाशित हैं और उनके प्रसन्न वदन और नमित अवलोकन सब प्राणियों के प्रति बुद्ध की करुणा को प्रकट करने में समर्थ हैं। गुप्त-युग की कांस्य मूर्तियाँ पाषाण मूर्तियों के समान ही कलापूर्ण हैं, जैसे कि विहार राज्य के सुलतान गंज (पाँचवी शताब्दी ईस्वी) में प्राप्त बुद्ध-मूर्ति, जो आज बरमिंघम आर्ट गेलरी में है और इसी प्रकार सिंध के मीरपुर-खास स्तूप से प्राप्त ब्रह्मा की मूर्ति। आठवीं शताब्दी ईस्वी से धातु-निर्मित मूर्तियाँ अधिकाधिक लोकप्रिय होने लगीं। पाल-वंश (नौवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक) की धातु-मूर्तियाँ, जो विहार राज्य में नालन्दा और कुर्किहार से प्राप्त हुई हैं, अपने रूप के परिष्कार और आध्यात्मिक अभिव्यक्ति की समृद्धि के लिए प्रसिद्ध हैं।

नालन्दा का प्रभाव बौद्ध कला की दृष्टि से भी अत्यन्त महान रहा है। जावा, सुमात्रा, नेपाल और बर्मा तक उसने कला-कृतियों के द्वारा बौद्ध संस्कृति के सन्देश को भेजा है।

बौद्ध कांस्य-मूर्तियाँ दक्षिण में, विशेषतः तंजोर जिले में, कुछ मात्रा में मिली हैं, जिनका समय दसवीं शताब्दी ईस्वी से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी ईस्वी तक है। अमरावती, नालन्दा और नागपट्टिनम् की बौद्ध मूर्तियों के अध्ययन से हमें यह स्पष्ट मालूम पड़ता है कि कहाँ तक भारतीय कला ने बर्मा, थाईलैण्ड, मलाया, सुमात्रा, जावा और हिन्द-चीन की कला को प्रभावित किया है।

चित्रकला

जातक और अन्य बौद्ध साहित्य में चित्र-कला सम्बन्धी अनेक निर्देश मिलते हैं। बौद्ध कला के प्राचीनतम अवशेष हमें अजन्ता के चैत्य-भवन में मिलते हैं, जिनका समय द्वितीय शताब्दी ईस्वी-पूर्व है। गुप्त-काल (पाँचवीं-छठी शताब्दी ईस्वी) में बौद्ध चित्रकला का विकास हुआ। इस युग के सर्वोत्तम उदाहरण हमें बाघ (मध्य-भारत) और अजन्ता में मिलते हैं। इनमें बुद्ध के जीवन-सम्बन्धी तथा अनेक जातक-कथाओं सम्बन्धी चित्र मिलते हैं, जो अपने शान्त, विरागमय प्रभाव और कोमलता तथा भाव-गाम्भीर्य के लिये प्रसिद्ध हैं।

एशिया के अन्य देश

बौद्ध कला का एशिया पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा है कि उसकी किसी अन्य से तुलना नहीं की जा सकती। बौद्ध कला का भारत और एशिया में निर्बाध विकास अध्ययन का एक मनोरम विषय है। भारत के प्राचीनतम ऐतिहासिक स्मारक बौद्ध ही हैं और सतत रूप से राजवंशों के लोगों के संरक्षण-स्वरूप जो महान स्मारक निर्मित किये गए, वे धार्मिक श्रद्धावान पुरुषों के लिए ही नहीं बल्कि विश्व के समस्त कला-निर्णायकों के लिए भी आदर की वस्तु हैं।

सम्राट अशोक के अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि विदेशी राजाओं से उसके सम्बन्ध थे। इसलिए यह माना जा सकता है कि सम्भवतः उसके स्तम्भों के शीर्ष-भाग पर पारसी प्रभाव पड़ा हो। मथुरा के क्षत्रपों के समय में और कुषाण-युग में भारत की आदिम कला-शैलियों और बिदेशी कला-शैलियों का सम्मिश्रण हुआ। कुषाण-काल की मूर्तियों में एक शक्तिशाली रूप में गन्धार प्रभाव दृष्टि-गोचर होता है। अफगानिस्तान के बेगराम नामक स्थान में जो हाथीदांत पर कढ़ी हुई कृतियाँ मिली हैं, उनकी मथुरा से प्राप्त प्रथम और द्वितीय शताब्दी ईस्वी की कुषाण मूर्तियों से आश्चर्यजनक समानता है। शृंगार-सज्जा का दृश्य भी अद्भुत

कला-कृति है और सांची के इस सम्बन्धी चित्र के समान ही है। ग्रीक-रोमन परम्पराओं का प्रभाव गन्धार-कला पर पड़ा, जिसके परिणाम-स्वरूप बुद्ध और बोधिसत्वों की कुछ सर्वोत्तम मूर्तियों का निर्माण किया गया। मानवीय रूप में भगवान बुद्ध की प्राचीनतम मूर्तियाँ गन्धार-कला की ही हैं जो कम से कम मथुरा और अमरावती की देशी प्रणालियों की समकालीन अवश्य थीं। यहाँ शास्ता को मानवीय सौन्दर्य के साथ चित्रित किया गया है, ग्रीक देवता अपोलो के शारीरिक सौन्दर्य के अनुकरण पर। उनके वस्त्रों पर जो यहाँ सिकुड़नें दिखाई गई हैं वे भी ग्रीक-रोमन मूर्ति-कला की एक विशेषता ही हैं। गन्धार-कला के कलाकारों ने शारीरिक अंगों के चित्रण में बड़ी दक्षता का परिचय दिया है। गन्धार-कला की एक मूर्ति बुद्ध के क्षीणकाय रूप में भी मिली है, जो लाहौर के संग्रहालय में रखी हुई है। गन्धार-कला की एक अन्य विशेषता यह भी है कि वहाँ बुद्ध के अंग-रक्षक के रूप में वज्रपाणि को चित्रित किया गया है, जिसकी कल्पना का आधार ग्रीक वीर हरकुलीज़ है। बामियान (अफगानिस्तान) में पूर्ववर्ती गन्धार-कला के आधार पर दो विशाल बुद्ध-मूर्तियाँ निर्मित की गईं जिनका काल तीसरी और चौथी शताब्दी ईस्वी है। इन १७५ और १२० फुट ऊँची दो बुद्ध-मूर्तियों को युआन-च्वांग ने अपने मार्ग में देखा था। एक पहाड़ी को काटकर ये मूर्तियाँ बनाई गईं थीं, जिनके चारों ओर का करीब एक मील का प्रदेश बौद्ध विहारों और चैत्यों से घिरा हुआ था। उत्तरकालीन गन्धार-कला की यह एक विशाल सृष्टि है। फोन्दु-किस्तान (अफगानिस्तान) में भी बुद्ध और बोधिसत्वों की कुछ मूर्तियाँ मिली हैं, जो असाधारण रूप से सुन्दर हैं और जिन पर कुशलता से काम किया गया है।

चीनी-तुर्किस्तान और जावा में हारीति का चित्रण किया गया है जो माता के वात्सल्य की प्रतीक है। कूचा-प्रदेश के किज़िल नामक स्थान में एक चित्र बुद्ध-जीवन सम्बन्धी मिला है। नेपाल के दो प्राचीनतम स्तूप शम्भुनाथ और बोधिनाथ हैं। तिब्बत का ग्यन-त्से स्तूप जावा के बोरोबुदूर स्तूप की याद दिलाता है।

नेपाल और तिब्बत में बौद्ध-धर्म नालन्दा से गया था, अतः पालवंशीय कला का इन दोनों देशों की कला पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। अनेक बुद्ध और बोधिसत्वों का चित्रण इस प्रकार इन देशों में किया गया है, यथा ध्यानी बुद्ध, मानुषी बुद्ध, भैषज्य बुद्ध, मैत्रेय बुद्ध आदि। तारा, मारीचि, लोकपाल और जम्भाल जैसे अनेक देवी-देवताओं के भी चित्रण किए गए हैं। आचार्य पद्मसम्भव और अतिश जैसे भारतीय महापण्डितों के चित्र भी तिब्बती कला में अंकित किए गए हैं।

बौद्ध कला के कुछ अत्यन्त विस्मयकारी स्मारक श्रीलंका में पाए जाते हैं। एक अत्यन्त प्राचीन काल की महत्त्वपूर्ण बुद्ध-मूर्ति ध्यान-मुद्रा में हमें अनुराधपुर में देखने को मिलती है। सिंहली कला की एक अद्भुत कृति ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी की महापरिनिर्वाण मुद्रा में प्राप्त बुद्ध-मूर्ति है। यह मूर्ति सिंहल के पोलोन्नरुवा नामक स्थान में पाई गई है। सिरिगिरिय में प्राप्त अप्सराओं आदि के चित्र पल्लव-चित्रकला से गहरे रूप से सम्बद्ध और प्रभावित हैं। अनुराधपुर का थूपाराम दगोबा सिंहली स्तूप-रचना का एक अति उत्तम उदाहरण है।

बर्मा के प्राचीनतम स्तूप सादे और भारतीय ढंग के हैं। पेगन का दसवीं शताब्दी ईस्वी का गक्ये-नदौन स्तूप सारनाथ के धमेक-स्तूप की शैली का है। उत्तरी बर्मा का क्वांग मुदाउ स्तूप साँची के स्तूप से काफी समानता रखता है। पेगन के पूर्वी पेतलेक पेगोडा में जातक की कहानियों से अनेक चित्र अंकित किए गए हैं। नागार्जुनकोण्डा में भी इसी प्रकार के चित्र पाए जाते हैं।

ज्ञान-प्राप्ति के बाद भगवान बुद्ध की एक तूफान में नाग मुचलिन्द ने रक्षा की थी। इस दृश्य का अंकन स्याम में बड़ी लोकप्रियता के साथ किया गया है। त्रायस्त्रिंश लोक से संकाश्य में भगवान बुद्ध के उतरने के दृश्य को भी स्याम के कलाकारों ने अनेक प्रकार से चित्रित किया है।

जावा में शैलेन्द्रों के युग में, अर्थात् आठवीं शताब्दी ईस्वी से लेकर दसवीं शताब्दी ईस्वी तक, बौद्ध कला का सर्वाधिक विकास हुआ। भारत के पाल और चोल वंश के राजाओं से शैलेन्द्र नरेशों का सतत सम्बन्ध रहा। जावा की कला यद्यपि भारतीय काल से ही मूलतः उत्पन्न थी, फिर भी उसने विकसित होकर स्वयं नालन्दा और नागपट्टिनम् की कला को प्रभावित किया। चण्डी मेन्दुत के मन्दिर में बुद्ध भगवान बोधिसत्त्वों से घिरे चित्रित किए गए हैं। जावा की यह एक सुन्दर कला-कृति है। बोरोबुदूर स्तूप के पास भगवान बुद्ध के जीवन और विभिन्न जातकों से चित्र उपस्थित किए गए हैं, जो अपने कलात्मक सौन्दर्य के लिए विख्यात हैं। बोरोबुदूर का स्तूप अद्भुत सौन्दर्य का स्मारक है और उसकी रचना श्रीचक्र के नमूने पर सर्वतोभद्र शैली में हुई है। इस स्तूप का महान अभिव्यंजनात्मक महत्त्व है, क्योंकि इसमें सुमेरु पर्वत की रचना के साथ कर्म के शुभाशुभ परिणामों की भी मूर्तिबद्ध अभिव्यक्ति की गई है। जहाज़ का तो मूर्तिबद्ध निदर्शन इतना सुन्दर कहीं किया ही नहीं गया। जावा के सिंगसारी नामक स्थान में प्रज्ञापारमिता की एक मूर्ति मिली है जो बारहवीं या तेरहवीं शताब्दी ईस्वी की है। इस देवी की यह मूर्ति विश्व की सम्भवतः श्रेष्ठतम मूर्ति है। धातुओं की बनी हुई कई बुद्ध-मूर्तियाँ

भी जावा में मिली हैं, जिनमें एक पद्मपाणि बोधिसत्व की चाँदी की मूर्ति भी है, जो जकार्ता के संग्रहालय में रक्खी हुई है।

भारत से बाहर बौद्ध कला ने मूर्तिकारी की एक समृद्ध रचना की है जिसके कई विशिष्ट नमूने भारत में भी अपनी तुलना नहीं रखते। मूर्तिकारों ने अपनी श्रेष्ठ कला-कृतियों में जिस विशाल कल्पना-शक्ति और विचार का परिचय दिया है, उसके कारण वे विश्व के विद्वानों और कला-निर्णायकों के ध्यान और आदर की वस्तु बन गई हैं।

दसवाँ अध्याय

बौद्ध महत्त्व के स्थान

उत्तरी भारत

गौतम बुद्ध भारत-भूमि में अपने पद-चिन्ह और सम्पूर्ण मानव-जाति की आत्मा पर अपनी छाप छोड़ गए हैं। इस मानवीय शिक्षक ने स्वर्गीय देवताओं को भी निष्प्रभ कर दिया और जिन स्थानों को उसने अपनी विद्यमानता से पवित्र किया, वे पूजा के महान स्थान बन गए। भगवान बुद्ध ने अपने महापरिनिर्वाण से पूर्व कहा था कि श्रद्धावान आर्य श्रावक को इन चार स्थानों का विराग की वृद्धि के हेतु दर्शन करना चाहिए। वे चार स्थान हैं—(१) लुम्बिनी वन, जहाँ तथागत का जन्म हुआ, (२) बोध-गया, जहाँ उन्होंने ज्ञान प्राप्त किया, (३) ऋषिपतन मृगदाव (सारनाथ), जहाँ उन्होंने प्रथम धर्मोपदेश दिया, और (४) कुशीनगर, जहाँ उन्होंने अनुपाधि-शेष निर्वाण में प्रवेश किया।

उपर्युक्त चार स्थानों के अतिरिक्त चार अन्य स्थान हैं, जो बौद्ध धार्मिक साहित्य में अत्यन्त पवित्र माने गए हैं। वे हैं बुद्धकालीन कोसल देश की राजधानी श्रावस्ती, संकाश्य, मगध की राजधानी राजगृह और लिच्छवियों की वैशाली। उपर्युक्त आठों स्थान मिला कर बौद्ध साहित्य में 'अट्ठ-महाठानानि' या आठ महा-स्थान कहलाते हैं।

लुम्बिनी

लुम्बिनी में भगवान बुद्ध का जन्म हुआ था। इस स्थान की आधुनिक स्थिति रुम्मिनदेई है जो नेपाल की तराई में स्थित है। भगवान बुद्ध की जन्म-भूमि होने के कारण इसका महत्त्व बढ़ा और कई विहार आदि यहाँ स्थापित किए गए, जिनमें आज कोई विद्यमान नहीं हैं। हाँ, अशोक का स्तम्भ अवश्य विद्यमान है, जिस पर अंकित अभिलेख से हमें पता लगता है कि सम्राट अशोक ने अपने राज्याभिषेक के बाद बीसवें वर्ष में इस स्थान की यात्रा की थी। अशोक के इस अभिलेख पर ये शब्द अंकित हैं, "यहाँ भगवान बुद्ध उत्पन्न हुए थे।" इससे असन्दिग्ध रूप से भगवान

बुद्ध के जन्म-स्थान की पहचान हो जाती है। अशोक-स्तम्भ के अलावा यहाँ एक प्राचीन चैत्य भी है, जिसमें एक मूर्ति पर भगवान बुद्ध के जन्म का दृश्य अंकित है।

बोध-गया

बोध-गया में भगवान बुद्ध ने सम्यक् सम्बोधि प्राप्त की थी। यह स्थान हिन्दुओं के तीर्थ-स्थान गया से ६ मील दक्षिण में स्थित है। श्रद्धालु बौद्धों के लिए इस स्थान से अधिक पवित्र स्थान और कोई दूसरा नहीं है। अनेक विहार, चैत्य और स्मारक इस स्थान के चारों ओर स्थापित किए गए हैं और चीनी यात्री युआन-च्वांग ने इसका जो वर्णन किया है, उससे पता लगता है कि कितना वैभवशाली इसका अतीत रह चुका है।

युआन-च्वांग के वर्णनानुसार मौलिक बोधि चैत्य की स्थापना अशोक ने की थी। अशोक के एक शिला-लेख में भी सम्राट के द्वारा की गई 'सम्बोधि' की यात्रा का उल्लेख है। इस 'सम्बोधि' स्थान से तात्पर्य बोध-गया से ही हो सकता है। सम्भव है अशोक ने इस स्थान पर कोई चैत्य बनवाया हो, परन्तु आज हमें उसके कोई चिन्ह नहीं मिलते। युआन-च्वांग के वर्णन से यह जान पड़ता है कि आज जिस आकार और शक्ल में यह मन्दिर विद्यमान है, ठीक उसी आकार और शक्ल में यह सातवीं शताब्दी ईस्वी में भी विद्यमान था। महाबोधि मन्दिर करीब १६० फुट ऊँचा है और उसमें भूमि-स्पर्श करती हुई मुद्रा में भगवान बुद्ध की एक मूर्ति स्थापित है। मन्दिर के चारों ओर अन्य अनेक स्थान हैं, जो बुद्धत्व-प्राप्ति के समय और उससे कुछ दिन बाद के भगवान बुद्ध के जीवन की घटनाओं से सम्बद्ध हैं।

सारनाथ

सारनाथ में भगवान बुद्ध ने अपना प्रथम उपदेश दिया, इसलिए इसे बौद्ध-धर्म के जन्म का सूचक मानना चाहिए। यह धर्मचक्र-प्रवर्तन का स्थान है। इसलिए शिलालेखों में इसका निर्देश 'सद्धर्मचक्र-प्रवर्तन-विहार' के नाम से किया गया है। भगवान बुद्ध के जीवन-काल में सारनाथ का नाम ऋषिपतन मृगदाव (इसिपतन मिगदाय) था। इसके प्रारम्भिक इतिहास का पता नहीं लगता। अशोक के समय से इसकी अधिक प्रसिद्धि हुई। अशोक ने यहाँ कई स्मारक स्थापित किए, जिनमें प्रसिद्ध अशोक-स्तम्भ जिसके शीर्ष-भाग पर चार सिंह-मूर्तियाँ अंकित हैं, एक अद्भुत कलाकृति है। चारों दिशाओं में निर्भीकतापूर्वक शान्ति और सद्भावना के बुद्ध-सन्देश की घोषणा का यह प्रतीक है। पाँचवीं और सातवीं शताब्दी ईस्वी में क्रमशः फाहियान और युआन-च्वांग ने इस स्थान की यात्रा की और उसके विषय में महत्त्वपूर्ण विवरण दिए हैं। परवर्ती युग में भी इस

स्थान पर अनेक विहार और चैत्य आदि बनवाए गये और पुरानों की मरम्मत होती रही। बारहवीं शताब्दी के पूर्व भाग में कन्नौज के राजा गोविन्दचन्द्र की रानी कुमारदेवी ने यहाँ एक मन्दिर भगवान बुद्ध के धर्मचक्र-प्रवर्तन के स्मारक के रूप में बनवाया था। सारनाथ के भग्नावशेष एक काफी लम्बे क्षेत्र में फैले हैं। वाराणसी से सारनाथ की ओर आने पर सारनाथ के समीप जो एक ऊँचा भग्न स्तूप दिखाई पड़ता है, जिसे आजकल चौखण्डी कहते हैं, यही वह स्थान है जहाँ भगवान बुद्ध को, जब वे गया से सारनाथ को जा रहे थे, प्रथम बार पंचवर्गीय भिक्षु मिले थे, जिन्हें उन्होंने बाद में अपने धर्म में दीक्षित किया। सारनाथ के भग्नावशेषों में सब से अधिक महत्त्वपूर्ण धमेक-स्तूप है जो उस स्थान को सूचित करता है जहाँ भगवान बुद्ध ने अपना प्रथम धर्मोपदेश पंचवर्गीय भिक्षुओं को दिया था। आस-पास की भूमि से यह स्तूप करीब १४० फुट ऊँचा है। पुरातत्व की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण सामग्री, जो तृतीय शताब्दी ईस्वी पूर्व से लेकर बारहवीं शताब्दी ईस्वी तक के विस्तृत युग के विभिन्न स्तरों से सम्बन्ध रखती है, सारनाथ के भग्नावशेषों में प्राप्त हुई है। धर्मचक्र-प्रवर्तन मुद्रा में रेतीले पत्थर की बनी भगवान बुद्ध की मूर्ति जो यहाँ मिली है भारतीय अभिघटन-कला की एक अद्वितीय कृति ही है।

कुशीनगर

कुशीनगर या कुसिनारा भगवान बुद्ध की परिनिर्वाण-भूमि है। यहीं के शाल-वन में अस्सी वर्ष की अवस्था में भगवान ने निर्वाण प्राप्त किया था। इस स्थान की पहचान आजकल के उत्तर-प्रदेश के गोरखपुर जिले में स्थित कसिया नामक स्थान से की गई है। अन्य बौद्ध तीर्थ-स्थानों की तरह कुशीनगर भी भगवान बुद्ध के जीवन-काल के बाद एक महत्त्वपूर्ण तीर्थ-यात्रा का स्थान हो गया और यहाँ अनेक विहारों और चैत्यों का निर्माण किया गया। फाहियान और युआन-च्वांग ने कुशीनगर को उजड़ी हुई अवस्था में देखा था। कुशीनगर में स्थित परिनिर्वाण-चैत्य गुप्त-काल में निर्मित किया गया। अशोक ने भी यहाँ एक स्तूप बनवाया था। कुशीनगर में 'माथा कुंवर का कोट' नामक स्थान में भगवान बुद्ध की परिनिर्वाण-प्राप्ति की मुद्रा में एक भव्य मूर्ति मिली है। कुशीनगर में 'रामा-भार' नामक स्थान उस स्थिति को सूचित करता है जहाँ भगवान बुद्ध का दाह-संस्कार किया गया था और उनके फूलों के आठ भाग किए गए थे।

श्रावस्ती

श्रावस्ती (आधुनिक सहेत-महेत) प्राचीन कोसल देश की राजधानी थी। यहाँ भगवान बुद्ध ने अपना सब से बड़ा ऋद्धि-प्रदर्शन किया था, जिसका चित्रण

बौद्ध कला में प्रारम्भिक युग से किया गया है। श्रावस्ती के प्रसिद्ध सेठ अनाथ-पिण्डिक ने यहाँ भगवान बुद्ध और भिक्षु-संघ के निवास के लिए प्रसिद्ध 'जेतवन-विहार' या जेतवनाराम बनवाया था।

सहेत-महेत दो अलग स्थान हैं जो भग्नावशेषों पर स्थित हैं। इनमें महेत जो बड़ा है और जिसका क्षेत्रफल करीब ४०० एकड़ है, श्रावस्ती नगर की स्थिति को सूचित करता है और सहेत जिसका क्षेत्रफल करीब ३२ एकड़ है प्राचीन जेतवन-विहार है। यहाँ भगवान बुद्ध की एक विशाल मूर्ति और उनकी धातुओं के कुछ अंश भी मिले हैं।

संकाश्य

संकाश्य (आधुनिक संकिसा-बसन्तपुर, जिला फरुखाबाद, उत्तर-प्रदेश) में भगवान बुद्ध त्रायस्त्रिंश लोक से उतरे थे। यहाँ भी प्राचीन काल में अनेक बौद्ध विहार, चैत्य और स्मारक निर्मित किए गए। फाहियान और युआन-च्वांग ने इस स्थान की यात्रा की और इन दोनों चीनी यात्रियों ने इसके सम्बन्ध में मनोरंजक विवरण दिए हैं।

राजगृह

राजगृह (आधुनिक राजगिर, पटना जिले में) मगध राज्य की राजधानी था, जिसका बौद्धों के लिए अनेक दृष्टियों से महत्त्व है। यहाँ भगवान बुद्ध ने अनेक बार वर्षावास किया और यहीं देवदत्त ने उनकी जान लेने का भी प्रयत्न किया। इसी नगर के वैभार पर्वत की सप्तपर्णी (सत्तपण्णि) गुफा में भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद प्रथम बौद्ध संगीति हुई। अनेक प्राचीन स्थानों की खोज राज-गिर के भग्नावशेषों में की जा सकती है। जरासन्ध की बैठक को कुछ विद्वानों ने पिप्पल का निवास-स्थान माना है। कुछ पालि ग्रन्थों में प्रथम संगीति के संयोजक महाकाश्यप के निवास-स्थान को पिप्पल-गुहा कहा गया है। गृध्रकूट पर्वत, जहाँ भगवान बुद्ध अक्सर निवास करते थे, राजगृह के समीप ही है।

वैशाली

लिच्छवियों की राजधानी वैशाली (आधुनिक बसाढ़, जिला मुजफ्फरपुर, बिहार) प्रारम्भिक युग में बौद्धों का एक प्रधान केन्द्र थी। भगवान बुद्ध अपने जीवन-काल में इस नगरी में तीन बार गए। यहीं भगवान बुद्ध ने यह घोषणा की थी कि तीन मास बाद वे महापरिनिर्वाण में प्रवेश करेंगे। भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद लिच्छवियों ने उनके धातुओं में से प्राप्त अपने भाग पर एक स्तूप का निर्माण वैशाली में किया था। बुद्ध-परिनिर्वाण के करीब सौ वर्ष

बाद वैशाली में द्वितीय बौद्ध संगीति की बैठक हुई थी। 'राजा विशाल का गढ़' नामक स्थान जो बसाढ़ में है, वैशाली के प्राचीन गढ़ को सम्भवतः सूचित करता है। फाहियान और युआन-च्वांग ने इस स्थान की यात्रा की। युआन-च्वांग ने इस नगर का विस्तार करीब १० या १२ वर्गमील बताया है और उसके अन्दर पाए जाने वाले असंख्य स्मारकों का उल्लेख किया है। राजा विशाल के गढ़ से दो मील उत्तर-पश्चिम में कोल्हुआ नामक स्थान है, जहाँ रेतीले पत्थर का एक स्तम्भ है जो आस-पास की सतह से २२ फुट ऊँचा है। यह अशोक की शैली का स्तम्भ है, परन्तु इस पर अशोक के अभिलेख के कोई चिन्ह नहीं हैं। सम्भवतः यह उन कई अशोक-स्तम्भों में से ही है जिनका उल्लेख युआन-च्वांग ने किया है। इसके समीप दक्षिण में 'रामकुण्ड' नामक एक कुण्ड है जिसे कनिंघम ने प्राचीन 'मर्कटह्रद' माना है, जिसे बन्दरों ने भगवान के उपयोग के लिए खोदा था। इसके उत्तर में एक भग्न टीला है जिसे युआन-च्वांग द्वारा देखे गए अशोक-स्तूप की स्थिति माना गया है।

उपर्युक्त आठ स्थानों के अतिरिक्त अन्य कई ऐसे स्थानों का नामोल्लेख कर देना भी यहाँ अनावश्यक न होगा, जहाँ बौद्ध विहार, चैत्य तथा अन्य स्मारक पाए गए हैं। इस प्रकार के स्थानों में साँची, तक्षशिला, कौशाम्बी और नालन्दा जैसे स्थान अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

साँची

साँची (बम्बई से ५४६ मील) का सम्बन्ध गौतम बुद्ध के जीवन से यद्यपि नहीं है और न उसका अधिक उल्लेख ही प्राचीन बौद्ध साहित्य में हुआ है। चीनी यात्रियों ने भी उसके सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा है। फिर भी यह निश्चित है कि प्रारम्भिक बौद्ध कला की सर्वोत्तम निधियाँ हमें साँची में ही मिलती हैं। साँची के स्मारकों का आरम्भ अशोक के युग से हुआ। साँची के बड़े स्तूप का व्यास १०० फुट है। अपने मौलिक रूप में इसे अशोक के काल में ईंट से बनवाया गया था। बाद में इसके आकार को दुगुना किया गया। अशोक के द्वारा की गई बोध-गया की यात्रा का एक स्मारक चित्र साँची के बड़े स्तूप में पाया जाता है। अन्य कई छोटे स्तूप यहाँ हैं। अग्र श्रावक धर्म-सेनापति सारिपुत्र और महामौद्गल्यायन के धातुओं के अवशेष साँची में ही मिले थे, जो वहाँ आज एक नव-निर्मित विहार में स्थापित किए गए हैं।

[तक्षशिला (टैक्सिला) आधुनिक पश्चिमी पाकिस्तान में है। भगवान बुद्ध के जीवन-काल में यह एक प्रसिद्ध स्थान था, जहाँ दूर-दूर से विद्यार्थी शिल्पों की शिक्षा प्राप्त करने के लिए जाते थे। कौशाम्बी भगवान बुद्ध के जीवन-काल में

वत्स-राज्य की राजधानी थी। यहाँ प्रसिद्ध घोषिताराम विहार था। कौशाम्बी की पहचान आधुनिक कोसम गाँव के रूप में की गई है, जो इलाहाबाद जिले में यमुना नदी के किनारे पर स्थित है।

नालन्दा

नालन्दा (राजगिर के समीप आधुनिक बड़गाँव) उत्तरकालीन बौद्ध-धर्म के इतिहास में एक प्रसिद्ध विश्वविद्यालय बन गया। भगवान बुद्ध ने इस स्थान की अनेक बार यात्रा की और अशोक के समय से ही यहाँ संघाराम आदि बनने शुरू हो गए, परन्तु जो भग्नावशेष यहाँ मिले हैं वे प्रायः गुप्त-काल तक के ही हैं। युआन-च्वांग ने कुछ समय नालन्दा महाविहार में रहकर अध्ययन किया था और उसने इस विहार का विस्तृत वर्णन किया है। पाँचवी शताब्दी ईस्वी से लेकर बारहवीं शताब्दी ईस्वी तक नालन्दा विश्वविद्यालय के महावैभवशाली दिन थे और एक शिक्षा-केन्द्र के रूप में वह सम्पूर्ण बौद्ध जगत में प्रसिद्ध था। चीनी यात्री इ-रिंग ने भी नालन्दा के भिक्षुओं के जीवन का वर्णन किया है। आचार्य शीलभद्र, शान्तरक्षित और अतिश (दीपङ्कर) जैसे अनेक तेजस्वी विद्वानों का निवास-स्थान नालन्दा महाविहार कई शताब्दियों तक बौद्ध-धर्म के प्रकाश को चारों दिशाओं में विकीर्ण करता रहा।

पश्चिमी भारत

यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि सौराष्ट्र में बौद्ध-धर्म का प्रवेश कब हुआ। परन्तु वहाँ अशोक के समय से पूर्व बौद्ध-धर्म का किसी न किसी रूप में प्रचार अवश्य था। जूनागढ़ के समीप गिरनार में अशोक का एक शिलालेख मिला है, जिससे प्रकट होता है कि सौराष्ट्र में इसी समय व्यापक रूप से बौद्ध-धर्म का प्रचार किया गया।

गिरनार

जूनागढ़ में गिरनार के समीप अशोक का शिलालेख प्राप्त हुआ है, यह हम ऊपर कह चुके हैं। युआन-च्वांग ने सातवीं शताब्दी ईस्वी में जूनागढ़ की यात्रा की थी। युआन-च्वांग के वर्णनानुसार उस समय यहाँ कम से कम ५० विहार थे जिनमें स्थविरवाद सम्प्रदाय के तीन हज़ार भिक्षु निवास करते थे। जूनागढ़ के आस-पास कई गुफाएँ हैं जो तीन मँजिलों तक की हैं, परन्तु इनमें किसी अभिलेख की प्राप्ति नहीं हुई है।

धाँक

जूनागढ़ से ३० मील उत्तर-पश्चिम और पोरबन्दर से ७ मील दक्षिण-पूर्व

भारत
बौद्ध-धर्म के महत्त्वपूर्ण स्थान
जम्मू और काश्मीर
उश्कर
हरवन
हेमिस
हिमाचल प्रदेश
प० पाकिस्तान
पंजाब
दिल्ली
राजस्थान
संकाश्य
सहेत महेत (श्रावस्ती)
रुम्मिनदेई (लुम्बिनी)
कसिया (कुशीनगर)
नेपाल
भूटान
प० बंगाल
वैशाली
पाटलिपुत्र
नालन्दा
राजगिर (राजगृह)
बोधगया
सारनाथ
बिहार
आसाम
मणिपुर
त्रिपुरा
पू० पाकिस्तान
बर्मा
साँची
मध्य प्रदेश
उड़ीसा
सिद्धसर
ढांक
वलभी
जूनागढ़
तालाजा
सनाह
अजन्ता
एल्लोरा
जुन्नर
कान्हेरी
कान्दीवली
कार्ले
कोन्डाणे
बेडसा
कुडा
भाजे
महाड
करहाड
कोल्हापुर
गोआ
अरब सागर
अमरावती
नागार्जुनकोण्ड
काञ्ची
मद्रास
तंजौर
त्रिवांकुर-कोचीन
श्री लंका
बंगाल की खाड़ी
अन्दमान-निकोबार
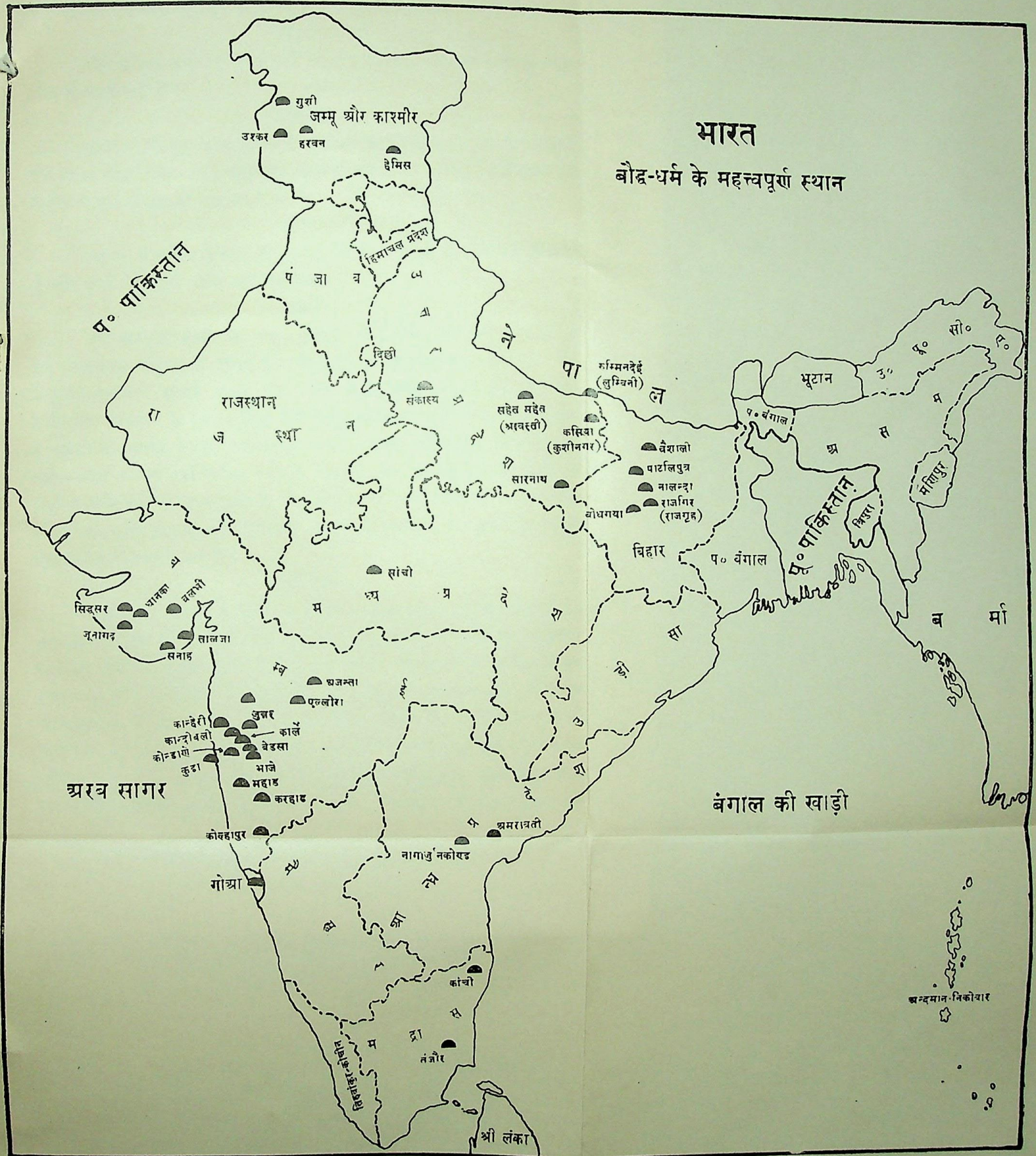
वत्स-राज
पहचान
नदी के

इतिहास
अनेक
हो गए,
युआन-
उसने
बारहवीं
और प
यात्री
शीलभ
निवास
दिशाओ

कब हु
में प्रच
मिला
का प्र

आस
की प्र

में धाँक नामक स्थान है, जहाँ चार सादी गुफाएँ पाई गई हैं। इनमें अनेक उत्तरकालीन पौराणिक मूर्तियाँ हैं। मञ्जुश्री के नाम पर एक कुआँ भी है।

सिद्धसर

धाँक से कुछ मील दूर पश्चिम में सिद्धसर है जहाँ कई गुफाएँ हैं जो बौद्ध दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

तलाजा

भावनगर से तीस मील दक्षिण में तलाजा नामक स्थान है जो किसी समय एक महान बौद्ध केन्द्र था। यहाँ ३६ गुफाएँ और एक कुण्ड है। सम्भवतः ये अशोक के युग के कुछ ही बाद की हैं।

सान्हा

तलाजा से दक्षिण-पश्चिम में सान्हा की ६२ गुफाएँ हैं। ये सादे ढंग की हैं और इनमें चित्रकारी आदि नहीं पाई जाती।

वलभी

छठी शताब्दी ईस्वी के बाद सौराष्ट्र में वलभी, जो आज भावनगर से २२ मील उत्तर-पश्चिम में स्थित है, बौद्ध-धर्म का केन्द्र हो गई। सन् ६४० ई० में युआन-च्वांग ने इसकी यात्रा की। उस समय यहाँ १०० विहार थे जिनमें साम्मितीय सम्प्रदाय के ६००० भिक्षु रहते थे। उस समय एक विद्या-केन्द्र के रूप में वलभी की ख्याति केवल नालन्दा के बाद थी और स्थिरमति और गुणमति जैसे प्रख्यात आचार्य यहाँ निवास करते थे। सातवीं और आठवीं शताब्दी ईस्वी के ताम्रपत्र-अभिलेखों से ज्ञात होता है कि वलभी के मैत्रक शासकों ने पन्द्रह बौद्ध विहारों को भूमि दान की थी। ये विहार वलभी के राजवंश के सदस्यों तथा अन्य व्यक्तियों द्वारा बनवाए गए थे।

काम्पिल्य

गुजरात में नवसारी के समीप काम्पिल्य नामक स्थान का बौद्ध महत्त्व है। गुजरात के राष्ट्रकूट वंश के दन्तिवर्मा (८६७ ई०) नामक राजा का एक ताम्रपत्र-अभिलेख मिला है जिससे ज्ञात होता है कि स्थविर स्थिरमति के आदेश से इस राजा ने पुरावी (आधुनिक पूर्णा, सूरत जिले में) नदी में स्नान कर काम्पिल्य-विहार को भूमि दान की थी। इस विहार में उस समय सिन्धु देश के संघ के पाँच सौ भिक्षु रहते थे। राष्ट्रकूट राजा धारावर्ष के एक अन्य अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने सन् ८८४ ई० में इसी प्रकार का भूमि-दान इस विहार के लिए किया था। ऐसा मालूम होता है कि मुसलमानी आक्रमण से त्रस्त होकर बौद्ध संघ सिन्धु देश

से यहाँ आ गया था, क्योंकि यह स्थान पहले से ही बौद्ध-धर्म की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था। यहाँ आकर उन्होंने काम्पिल्य-विहार की स्थापना की थी, जिसके सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है।

अशोक के काल से ही बौद्ध-धर्म महाराष्ट्र में लोक-प्रिय हो गया था। पश्चिमी महाराष्ट्र के सह्याद्रि पर्वत में अनेक बौद्ध गुफाएँ पाई जाती हैं, जिनमें कहीं-कहीं चित्रकारी भी की गई है। चट्टानों को काटकर गुफाएँ बनाने की स्थापत्य-कला के लिए महाराष्ट्र के जो स्थान प्रसिद्ध हैं उनमें भज, कोण्डाणे, पितलखोरा, अजन्ता, बेदसा, नासिक, कार्ले, कान्हेरी और एलोरा (वेरूल) अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

भज

भज में द्वितीय शताब्दी ईस्वी पूर्व का प्राचीनतम बौद्ध चैत्य-भवन पाया जाता है।

कोण्डाणे

कोण्डाणे की बौद्ध गुफाएँ भज की गुफाओं से कुछ बाद की हैं।

पितलखोरा

पितलखोरा की बौद्ध गुफाओं में सात चित्रित अभिलेख मिले हैं, जिनमें कुछ भिक्षुओं के नाम भी अंकित हैं।

अजन्ता

अजन्ता में विभिन्न आकार की २६ गुफाएँ हैं। इनके भित्ति-चित्र भारत की ही नहीं विश्व की अन्यतम कला-कृतियों में हैं।

बेदसा

बेदसा का चैत्य-भवन कमशेत स्टेशन से चार मील दक्षिण पूर्व में है।

नासिक

प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व से लेकर दूसरी शताब्दी ईस्वी तक की २३ गुफाएँ नासिक में हैं। छठी और सातवीं शताब्दी ईस्वी में इनमें से कई को महायानी रूप दिया गया।

जुन्नर

जुन्नर में करीब १३० गुफाएँ पाई जाती हैं। ऐसा लगता है कि यहाँ प्राचीन काल में पश्चिमी भारत का सबसे बड़ा बौद्ध संघाराम था।

कार्ले

कार्ले का चैत्य-भवन सामान्यतः भज के समान ही है। एक अभिलेख में इसे चट्टान काट कर बनाया गया जम्बुद्वीप का सर्वश्रेष्ठ प्रासाद कहा गया है।

कान्हेरी

कान्हेरी में प्राचीन काल में एक विशाल बौद्ध संघाराम था। यहाँ एक सौ से अधिक बौद्ध गुफाएँ पाई गई हैं, जिनका काल दूसरी शताब्दी ईस्वी से लेकर आज तक है।

गोआ

कुछ अभिलेखों से ज्ञात होता है कि छठी शताब्दी ईस्वी में गोआ में और उसके आस-पास बौद्ध-धर्म का प्रचार था।

कर्नाटक

अशोक के समय से ही कर्नाटक में बौद्ध-धर्म का प्रभाव स्थापित हो गया था। शातवाहन राजाओं के समय में भी यहाँ अनेक विहारों का निर्माण किया गया।

दक्षिणी भारत

जिस प्रकार महाराष्ट्र चट्टान से काटकर बनाई गई स्थापत्य-कला के लिए प्रसिद्ध है, उसी प्रकार आन्ध्र अपने विशाल बौद्ध स्तूपों के लिए प्रसिद्ध है। अशोक के काल में आन्ध्र में बौद्ध-धर्म का प्रचार किया गया। कृष्णा नदी की दक्षिणी घाटियों और गोदावरी के बीच के प्रदेश में अनेक विशाल बौद्ध विहारों का निर्माण समृद्ध व्यापारियों के द्वारा किया गया। अमरावती और नागार्जुनकोण्डा के स्तूप जो गुन्टूर जिले में हैं और भट्टिप्रोलु, जगय्यपेटा, गुसिवाडा और घण्टिशाल के स्तूप जो कृष्णा जिले में हैं, दूसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व और तीसरी शताब्दी ईस्वी के बीच निर्मित किए गए। इस प्रदेश का सबसे प्राचीन स्तूप भट्टिप्रोलु स्तूप है जो दूसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व बनाया गया। इस बात के प्रमाण हैं कि यह एक महा-स्तूप था, जिसमें भगवान बुद्ध की धातुओं का अंश प्रतिष्ठापित किया गया था।

अमरावती

अमरावती गुन्टूर के १६ मील पश्चिम में स्थित है। आन्ध्र राज्य में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बौद्ध स्थान यही है। अमरावती का स्तूप विशालतम और प्रसिद्ध-तम है। इसका प्रथम निर्माण द्वितीय शताब्दी ईस्वी-पूर्व किया गया था, परन्तु १५०-२०० ई० में नागार्जुन के प्रयत्नों से इसका परिवर्द्धन किया गया। बुद्ध के जीवन के अनेक चित्र इसकी पाषाण-वेष्टनियों पर अंकित किए गए हैं। कलात्मक सौन्दर्य और विशालता में अमरावती के स्तूप की तुलना उत्तर के साँची और भरहुत के स्तूपों से की जा सकती है। मूर्तिकला के गन्धार और मथुरा के सम्प्रदायों की भाँति अमरावती का मूर्तिकला-सम्प्रदाय भी बड़ा प्रभावशाली था। इसके द्वारा निर्मित कला-कृतियाँ श्रीलंका और दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों तक गईं।

नागार्जुनकोण्डा

नागार्जुनकोण्डा के महास्तूप की खोज आज से केवल पच्चीस वर्ष पूर्व हुई। गुन्टूर जिले में कृष्णा नदी के किनारे यह स्थित है। सम्भवतः अशोक के समय में इसका निर्माण किया गया। बाद में तीसरी शताब्दी में इसका पुनः निर्माण और परिवर्द्धन किया गया। नागार्जुनकोण्डा के समीप अन्य अनेक स्थानों में काफी बड़ी संख्या में बौद्ध स्तूप पाए गए हैं।

नागपट्टम्

मद्रास के समीप नागपट्टम् में चोलों के समय में एक बौद्ध विहार था, ऐसा हमें ग्यारहवीं शताब्दी के एक अभिलेख से मालूम होता है। आचार्य धम्मपाल ने नेत्ति-पकरण की अपनी अट्ठकथा में इस स्थान का उल्लेख किया है और कहा है कि इसी के धर्माशोक विहार में रहकर उन्होंने अपनी यह अट्ठकथा लिखी।

श्रीमूलवासम्

पश्चिमी घाट के श्रीमूलवासम् नामक स्थान में इसी नाम के राजा के शासन-काल में एक बौद्ध संघाराम था। तंजोर के मन्दिर में भी बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित चित्र अंकित किए गए हैं।

काञ्ची

दक्षिण में काञ्ची एक प्रसिद्ध बौद्ध केन्द्र था, जहाँ एक राज-विहार और सौ अन्य बौद्ध विहार थे। इस नगर के समीप पाँच बुद्ध-मूर्तियाँ भी मिली हैं। प्रसिद्ध पालि अट्ठकथाचार्य बुद्धघोष ने मनोरथ-पूरणी (अंगुत्तर-निकाय की अट्ठकथा) की रचना काञ्चीपुरम् में अपने मित्र जोतिपाल के साथ निवास करते हुए उनकी प्रार्थना पर की थी। युआन-च्वांग ने भी काञ्ची के धर्मपाल नामक एक प्रसिद्ध आचार्य का उल्लेख किया है जो नालन्दा में शिक्षक थे। चौदहवीं शताब्दी ईस्वी तक काञ्चीपुरम् बौद्ध-धर्म का एक केन्द्र बना रहा।

ग्यारहवाँ अध्याय

बौद्ध-धर्म में उत्तरकालीन परिवर्तन

हिन्दू-धर्म के प्रति दृष्टिकोण

भगवान बुद्ध और उनके समकालीन ब्राह्मणों के सम्बन्ध अत्यन्त सौहार्दपूर्ण थे, इसे श्रीमती रायिस डेविड्स ने अच्छी प्रकार दिखाया है। उन्होंने ठीक ही यह निर्दिष्ट किया है कि भगवान बुद्ध ने प्रत्येक व्यक्ति में समाई हुई ब्रह्म की सत्ता के सिद्धान्त का विरोध नहीं किया है। जिस चीज़ का उन्होंने निषेध किया है वह तो भौतिक आत्मा है जिसकी ओर उपनिषद् के कुछ वाक्य संकेत करते हैं। इस प्रकार श्रीमती रायिस डेविड्स के अनुसार यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि भगवान बुद्ध के उपदेश उस समय के ब्राह्मण-धर्म के ब्रह्म की विश्व-व्यापी सत्ता के केन्द्रीय सिद्धान्तों की संगति में ही थे।[1] ब्राह्मणों ने ब्रह्म-ज्ञान को एक अतिशय गुह्य ज्ञान के रूप में रखा जिस पर उन्होंने विशिष्ट अधिकार-सम्पन्न त्रैवर्णिकों का ही एकाधिकार माना।

ब्राह्मणों की इस प्रवृत्ति के विरुद्ध भगवान बुद्ध ने अपनी विरोध की आवाज खुलकर उठाई। उन्होंने घोषणा की कि सत्य और परमार्थ-ज्ञान के क्षेत्र में वर्ग, जाति और सामाजिक स्थिति किसी का कुछ महत्त्व नहीं है और उसके दरवाजे सब के लिए खुले हैं। इसलिए यह कहना सत्य से अधिक दूर जाना नहीं होगा कि अपने मूल रूप में बौद्ध-धर्म का उद्देश्य केवल उस वस्तु का सुधार करना या उसे लोकप्रिय बनाना था जिसे प्रो० मैक्स मूलर ने सच्चे ब्राह्मण-धर्म की योजना में जीवन की चतुर्थ अवस्था या सच्चा ब्राह्मणत्व कहा है।

फिर भी हमें भारतीय विचार के प्रति भगवान बुद्ध के अनमोल और विधायक दान को नहीं भूलना चाहिए। अपने धार्मिक संघ की व्यवस्था में उन्होंने इस

---

१. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, जिल्द दसवीं, पृष्ठ २७४-८६।

बात पर सबसे अधिक जोर दिया है कि प्रत्येक व्यक्ति को कड़ाई के साथ कुछ नैतिक मानदण्डों के अनुसार, जिन्हें उन्होंने 'शील' कहा है, अपने शरीर और मन को संयम में रखने का अभ्यास करना चाहिए। उपनिषदों में हमें नीति के सम्बन्ध में अधिक नहीं मिलता। कुछ उपनिषदों में नीति-सम्बन्धी जो कुछ वाक्य मिलते भी हैं, उन पर भी आत्मा और ब्रह्म सम्बन्धी जिज्ञासाओं तथा ऐसे अन्य विषयों की छाया पड़ी हुई है जिन पर वहाँ कुछ अधिक जोर दिया गया है। भगवान बुद्ध का विचार था कि हमारे दैनिक जीवन के दुःखों को दूर करने के प्रयत्न में इस प्रकार की जिज्ञासाओं का अधिक महत्त्व या उपयोग नहीं है। ब्राह्मण-धर्म में इसी विचार-धारा का अनुसरण करते हुए गौतम, बौधायन और आपस्तम्ब जैसे ऋषियों ने वैदिक परम्परा के साधुओं के लिए पालनीय नैतिक नियमों का एक स्तर निश्चित कर दिया था।[1]

वैदिक कर्मकाण्ड

वैदिक कर्मकाण्ड को भगवान बुद्ध ने पसन्द नहीं किया। उन्होंने इसमें कोई पुण्य नहीं देखा और इसे व्यर्थ समझा, क्योंकि इसमें निर्दयतापूर्वक पशुओं की हिंसा होती थी, श्रमिकों के साथ सख्ती की जाती थी और प्रभूत अपव्यय होता था।

वैदिक यज्ञ से कौनसा श्रेष्ठतर और अधिक पुण्य वाला यज्ञ है, इस प्रश्न के उत्तर में भगवान बुद्ध ने कहा कि अच्छे साधुओं को दान देना श्रेष्ठतर यज्ञ है। परन्तु इससे भी अधिक अच्छा चारों दिशाओं को नियमित रूप से दान देना है। बुद्ध, धर्म और संघ की शरण लेना इससे भी अधिक श्रेष्ठ है। संयमित मन से शिक्षापदों का पालन इससे उच्चतर यज्ञ है। संसार को छोड़कर बुद्ध के भिक्षु संघ में सम्मिलित हो जाना और सत्य में अन्तर्दर्शन प्राप्त करना, यह तो सर्वोत्तम पुण्य है।[2] एक अवसर पर भगवान बुद्ध ने अपने परम यज्ञ सम्बन्धी विचार को स्पष्ट करते हुए कहा कि दान से पूर्व, पीछे और दान देते समय प्रसन्नता अनुभव करना दान की पारमिता है। दान का क्षेत्र तभी परिपूर्ण होता है जब दान का लेने वाला राग, द्वेष और मोह के दोषों से विमुक्त हो। ज्ञानी पुरुष इस प्रकार दान देकर सुखी लोकों में जन्म लेते हैं।[3]

---

१. गौतम की तिथि ५०० ईस्वी पूर्व (जी० बुहलर, सेक्रेड बुक्स आफ़ दि ईस्ट, द्वितीय), बौधायन ४०० ई० पू०, आपस्तम्ब ३०० ई० पू०।

२. कूटदन्त-सुत्त, दीघ १,१४४-४७, ई० जे० थामस, लाइफ ऑफ़ बुद्धा, पृष्ठ १७६ और गीता, ४। २८, ३२, ३३।

३. अन्गुत्तर, ३।३३७।

वैदिक यज्ञवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया औपनिषद युग के आरम्भ में ही शुरू हो गई थी और उसका चरम विकास सांख्य दर्शन के रूप में हुआ। वैदिक यज्ञों की समालोचना तीन कारणों से की गई थी, (१) वे अपवित्र हैं, क्योंकि उनमें पशु हिंसा होती है, (२) वे विनाशशील हैं, और (३) वे ऊँच और नीच की भावनाओं को पैदा करने वाले हैं[१]। भगवद्गीता भी यज्ञों की विनाशशीलता के आधार पर उनकी व्यर्थता बतलाती है[२]। यहाँ यह कह देना चाहिए कि इसी प्रकार के आन्दोलनों के कारण, जिनका वैदिक यज्ञवाद के ऊपर बुरा प्रभाव पड़ा, याज्ञिक विधान उत्तर-भारत में बिल्कुल बन्द हो गए, यद्यपि दक्षिण-भारत में कभी-कभी आज भी उनका विधान देखा जाता है।

भगवद्गीता और भक्ति-आन्दोलन

सर आर० जी० भण्डारकर के मतानुसार भगवद्गीता और भक्ति-आन्दोलन की उत्पत्ति विचार के उस स्रोत से हुई जिसका आदि उपनिषदों के रूप में और विकास पूर्वी भारत में बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म के उदय के साथ उसी युग में हुआ[३]। बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म अपनी विश्वजनीन प्रवृत्तियों के कारण शीघ्र देश में फैल गए। ईश्वरवादी धर्म के समर्थकों ने इसलिए अपने धर्म का प्रचार साधारण जनता और शूद्रों में करना बुद्धिमानी समझा। उन दिनों धार्मिक सम्प्रदाय अधिकतर अनीश्वरवादी ही थे और जैसा बौद्ध-धर्म तथा अन्य धर्म-साधनाओं का साक्ष्य है, भारतीय मस्तिष्क उन दिनों जब नैतिक विवेचनों और नैतिक श्रेष्ठता के प्रतिपादन में लगा था, तो ईश्वरवादी विश्वास से इसका कोई सम्बन्ध नहीं था। फलतः भगवद्गीता में जिन विचारों का प्रतिनिधित्व है उनकी आवश्यकता इन प्रवृत्तियों को रोकने के लिए थी। यह ठीक है कि उपनिषदें ईश्वरवादी विचारों से भरी पड़ी हैं, परन्तु वहाँ ये विचार बिखरी हुई अवस्था में हैं और यदि उन्हें साधारण जनता की समझ की पहुँच में लाना था, तो इस बात की आवश्यकता थी कि उन्हें एक व्यवस्थित विमुक्तिदायी पद्धति के रूप में रक्खा जाय।[४]

भगवद्गीता एक युग-निर्माणकारी साहित्यिक रचना है। धार्मिक चिन्तन को इसने एक नई दिशा दी, इसलिए यह भारत के धार्मिक इतिहास में एक महत्व-पूर्ण घटना है। गीता के आधारभूत उपदेशों का सम्बन्ध कर्म-सम्बन्धी सिद्धान्त और

---

१. सांख्यकारिका, कारिका २।

२. अध्याय ६, श्लोक २१।

३. वैष्णविज़्म, पृष्ठ ६।

४. वैष्णविज़्म, पृष्ठ २६।

वासुदेव-कृष्ण की भक्ति से है। स्पष्टतः गीता के लेखक ने इस बात की आवश्यकता अनुभव की कि लोगों में कर्त्तव्य और भक्ति की भावना को भरा जाए क्योंकि उस समय वातावरण अ-कर्म और अनीश्वरवाद के विचारों से दूषित था। उस समय मक्खलि गोसाल जैसे अनेक विचारक थे जो कर्म को पाप की ओर ले जाने वाला मानते थे। उपनिषदों में भी हमें कुछ ऐसे वाक्य मिलते हैं जिनमें कर्म के प्रति उनकी उपेक्षा व्यक्त होती है।[1] इसलिए भगवान बुद्ध ने श्रमणों या अवैदिक परम्परा के विचारकों की ओर से इस चुनौती को स्वीकार किया और अपने शीलों की योजना में कर्म के महत्त्व पर ज़ोर दिया, परन्तु ईश्वरवादी समस्या पर वे चुप रहे। कट्टर धर्मवादियों की ओर से गीता ने इसकी उपयोगिता यह कह कर प्रतिपादित की कि यदि कर्म भक्ति और वैराग्य की भावना से किए जाएँ तो उनके शुभ और अशुभ परिणाम दूर किए जा सकते हैं।[2]

गीता को एक योग-शास्त्र कहा गया है और उसके उपदेष्टा को योगेश्वर। गीता में जिस प्रकार योग की व्याख्या की गई उसके अनुसार योग वहाँ एक व्यवस्थित दर्शन नहीं है। 'योग' शब्द का प्रयोग कई अर्थों में होता है। कहीं उसका अर्थ मानसिक ध्यान है,[3] कहीं मानसिक सन्तुलन[4] और कहीं प्रत्येक वस्तु को ईश्वर को समर्पित करने का संकल्प।[5] मानसिक संकल्प के अर्थ में योग शब्द का प्रयोग बौद्ध साहित्य में भी पाया जाता है।[6] इसके आन्तरिक अर्थ 'एकाग्रता' और 'समर्पण-भाव' हैं, जो गीता के मुख्य विचार होने के साथ-साथ पालि त्रिपिटक में भी पाए जाते हैं।[7] गीता का केन्द्रीय विषय यह है कि भगवान के अवतार श्री कृष्ण अर्जुन के सामने खड़े हैं, और यह घोषणा कर रहे हैं कि जो कोई सांसारिक कृत्यों को करते हुए भी सब भाव से अपने हृदय और आत्मा को उनके प्रति समर्पित कर देगा उसे वे बचाने के लिए तैयार हैं। समर्पण-भाव के इस सन्देश ने हिन्दू समाज और उसके संगठन पर दूरगामी और स्थायी प्रभाव डाला। धार्मिक

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद्, ४।४।२२।
२. २।५७, ६।२६, २७ आदि।
३. ४।२०, ३४।
४. २।४८, ६।३२, ३३।
५. २।३६, १८।५७।
६. संयुत्त, ५।४१४-४२०, ४४२-४६२। देखिए आपस्तम्ब धर्मसूत्र १।८, २३, जहाँ योग का अर्थ अ-क्रोध आदि जैसे कुछ सात्विक उपाय हैं।
७. मज्झिम, १।४७२; पालि डिक्शनरी (पी टी एस)।

जीवन बिताने और मुक्ति प्राप्त करने के समान अवसर, बिना जाति और लिंग का विचार करते हुए, इसने सबको दिए और यही एक बात हिन्दू-धर्म के दायरे के भीतर रहने वाले सब व्यक्तियों की एकता को दृढ़ करने वाली हुई।

प्रस्तुत लेखक का विचार है कि गीता का युग बुद्ध के बाद का है, क्योंकि गीता में बौद्ध विचारों का निर्देश पाया जाता है। (१) नियमित भोजन और समय पर सोने और जागने के जो निर्देश दिए गए हैं[1] वे असन्दिग्ध रूप से बौद्ध-धर्म के कुछ महत्त्वपूर्ण उपदेशों की ओर संकेत करते हैं जिनकी उत्पत्ति भगवान बुद्ध के व्यक्तिगत अनुभवों से हुई थी। (२) "कुछ मनीषी पुरुष कहते हैं कि दोषयुक्त कर्म का त्याग कर देना चाहिए",[2] इन पंक्तियों में जो विचार प्रकट किया गया है, वह बिल्कुल वही है जो भगवान बुद्ध का था। अंगुत्तर-निकाय में कहा गया है कि भगवान बुद्ध अपने को अक्रियावाद का समर्थक इस अर्थ में मानने को तैयार थे कि वे बुरे कर्मों के न करने (अ-क्रिया) का उपदेश देते थे।[3] (३) चार प्रकार का आहार जिसका गीता १५।१४ में उल्लेख है "अन्नं चतुर्विधम्", पालि के "चत्तारो अहारा" के समान है। फिर यह भी विश्वास नहीं किया जा सकता कि महाभारत के मौलिक रूप में सम्पूर्ण गीता सम्मिलित रही होगी। इसके बजाय, यही अधिक सम्भव है कि गीता की रचना पाणिनि के समय (५००—४५० ई० पूर्व) में हुई, क्योंकि पाणिनि ने स्पष्टतः भक्ति और भगवत धर्म का उल्लेख किया है और पाणिनि को बुद्ध के बाद के युग में रखने का एक सबसे अधिक निर्विवाद साक्ष्य यह है कि उन्होंने मस्करी-परिव्राजक का उल्लेख किया है जो पूरी सम्भावना के साथ आजीवक सम्प्रदाय का प्रसिद्ध धार्मिक नेता मक्खलि गोसाल ही था।[4]

वर्ण, आश्रम और बौद्ध संघ

(चार वर्णों के रूप में हिन्दुओं की समाज-व्यवस्था का विभाजन वैदिक काल से चला आ रहा है। प्राचीन ऋषियों के मतानुसार यह विभाजन जाति पर आधारित

---

१. गीता ६।१६-१७।

२. गीता १८।३ "त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः"।

३. अंगुत्तर १।६२; ४।१८३।

४. मिलाइए, वासुदेव शरण अग्रवाल, पाणिनि इत्यादि, पृष्ठ ३५८-३६०; आर० जी० भण्डारकर का मत है कि इसकी रचना चतुर्थ शताब्दी ईस्वी-पूर्व के आरम्भ से पहले ही हुई। एस० राधाकृष्णन ५०० ई० पूर्व के पक्ष में हैं (इण्डियन फ़िलासफ़ी, जिल्द पहली, पृष्ठ ५२४)। प्रो० वेलवलकर ने एक व्यक्तिगत वार्तालाप में वर्तमान लेखक से कहा कि उनकी राय इसे बुद्ध पूर्व काल में रखने की है।

है, पद पर नहीं। भगवान बुद्ध ने अनेक अवसरों पर अपने उपदेशों में इसकी समालोचना की। फिर भी, हमें इससे इस निष्कर्ष पर नहीं आना चाहिए कि भगवान बुद्ध उस समय के सामाजिक विधान को नष्ट कर देना चाहते थे।[1] प्रत्युत उनका विश्वास एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था में था जिसमें सांसारिक मामलों में प्रथम स्थान योधा को प्राप्त हो। ब्राह्मण-साहित्य में केवल एक बार गौतम धर्मसूत्र (८।१) में इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था का समर्थन किया गया है। ब्राह्मणों के द्वारा प्रतिपादित सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध भगवान बुद्ध की आपत्ति ब्राह्मणों के इस दावे के प्रति उनकी गहरी उपेक्षा-बुद्धि से उत्पन्न हुई थी कि आध्यात्मिक उन्नति और विमुक्ति पर केवल उन्हीं का एकाधिकार है।[2] प्रव्रज्या के सम्बन्ध में वर्ग-भेद को मिटाने की इच्छा करने वाले भगवान बुद्ध प्रथम ही नहीं थे। उनके पूर्व भी ऐसे अनेक धार्मिक संगठन थे जो अपने दायरे में सब वर्गों के सदस्यों के प्रवेश की अनुमति देते थे।

चार आश्रमों में से दो, अर्थात् ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य, वेदों के युग से ही ज्ञात थे, परन्तु शेष दो, वानप्रस्थ और संन्यास, का आरम्भ सम्भवतः आरण्यक और उपनिषदों के युग में हुआ, यद्यपि इन दोनों के बीच में कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं थी। अन्तिम आश्रम प्रव्रज्या और मुनि की स्पष्ट व्याख्या बृहदारण्यक उपनिषद्[3] में की गई है। छान्दोग्य उपनिषद्[4] में भी आश्रम-सम्बन्धी सिद्धान्त के कुछ प्रमाण मिलते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद्[5] में श्रमण या संन्यासी और तापस या वानप्रस्थी के बीच भेद किया गया है। इसी उपनिषद् में मुनि की परिभाषा उस व्यक्ति के रूप में की गई है जो आत्मा के सत्य का साक्षात्कार करता है।[6] आपस्तम्ब ने वानप्रस्थ अवस्था को 'मौन' अवस्था कहा है, जिसे छान्दोग्य उपनिषद् की मुनि की उपर्युक्त परिभाषा से समर्थन मिलता है। मेकडोनल और कीथ के मतानुसार वैदिक काल का मुनि अधिकतर दवाइयों का काम करने वाला (वैद्य) होता था।[7] पी० टी० श्री निवास आयंगर का मत है कि ब्रह्मचर्य और संन्यास या मुनि की अवस्था, इन

---

१. ई० जे० थामस, लाइफ़ आफ़ बुद्धा, पृष्ठ १२८।
२. मिलाइए दीघ, १, संख्या ३; मज्झिम, संख्या ६०, पृष्ठ १२८-३०।
३. ३।५।१; ४।४।२२।
४. २।२३।१।
५. ४।३।२२।
६. ४।४।२२, एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति।
७. वैदिक इण्डेक्स आफ़ नेम्स एण्ड सब्जेक्ट्स।

दोनों का निर्माण ऋचाओं के युग में किया गया।[1] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यद्यपि आश्रमों के नाम वैदिक युग में नहीं पाए जाते, आश्रमियों के जीवन को उसमें दिखाया जा सकता है।[2]

यह एक सार्थक तथ्य है कि बौधायन और आपस्तम्ब जैसे ऋषियों ने संन्यास की अधिक प्रशंसा नहीं की है, क्योंकि इसे वे अपने सिद्धान्त के बहिर्भूत समझते थे। यह बौधायन के इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि प्रव्रज्या जैसे आश्रम उनके मतानुसार प्रह्लाद के पुत्र कपिल नामक असुर के द्वारा प्रवर्तित किए गए थे, जिसके देवताओं के साथ अच्छे सम्बन्ध नहीं थे।[3] फिर बौधायन ने प्रसिद्ध वैदिक स्रोतों से उद्धरण देकर ज्ञानवाद और ज्ञान के द्वारा विमुक्ति के सिद्धान्त का खण्डन किया है।[4] गौतम और आपस्तम्ब दोनों ही यह मानते हैं कि एक गृहस्थ का जीवन अन्य सब आश्रमों की अपेक्षा श्रेष्ठ है।[5] इस प्रकार दार्शनिक भाषा में हम कह सकते हैं कि धर्मसूत्रकार मुक्ति के मार्ग के रूप में ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड के समन्वय के पक्षपाती थे। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि वानप्रस्थ और संन्यास की उत्पत्ति अ-ब्राह्मण विचारकों में हुई और ब्राह्मणों के आश्रम-सम्बन्धी सिद्धान्त में उनका बाद में अन्तर्भाव किया गया। गृहस्थ जीवन के प्रति अनुकूल पक्षपात रखते हुए भी गौतम तथा अन्य धर्मसूत्रकारों ने निःसंकोच भाव से संन्यासियों के लिए आवश्यक आचार के नियमों का भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।[6] इस प्रकार हम मैक्समूलर के इस मत से सहमत हो सकते हैं कि बौद्ध धर्म के उदय से पूर्व जीवन के तीन या चार आश्रम सुविख्यात थे,[7] यद्यपि अपने कड़े रूप में नहीं।

जैसा पहले कहा जा चुका है, जब भगवान बुद्धदेव का आविर्भाव हुआ तो उन्होंने विस्मयपूर्वक यह देखा कि समाज का आध्यात्मिक और बौद्धिक जीवन एक

---

१. लाइफ़ इन एन्शियेंट इण्डिया।
२. मैक्समूलर, दि सिक्स सिस्टम्स आफ़ इण्डियन फ़िलासफ़ी, पृष्ठ २३६।
३. धर्मसूत्र २।६।३०।
४. वही २।६, ३३-३६।
५. गौतम, ३।३६; आपस्तम्ब २।२३।२४।
६. गौतम, ३।२-२६; बौधायन, २।६,१५-१०,७०; आपस्तम्ब २।२१,१-२३,५।
७. सिक्स सिस्टम्स, पृष्ठ २३६; फिक का कहना है कि वानप्रस्थ आश्रम ब्राह्मणों को सुविज्ञात था और बौद्ध संघ के जीवन में उसका प्रवेश किया गया। देखिए 'सोशल आर्गेनिजेशन' इत्यादि, अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ ६१, अंगुत्तर, ३।२१९ को भी वानप्रस्थ विदित है।

अल्प संख्या वाले ब्राह्मणों के अधिकार में है। इसी कारण उन्होंने प्रव्रज्या-लाभ को सब जातियों को देना अपना जीवनव्यापी उद्देश्य बनाया। ब्राह्मणों ने धार्मिक जीवन में प्रवेश के लिए जो उपनयन और वेदों के स्वाध्याय सम्बन्धी प्रारम्भिक शर्तें लगाई थीं उनकी कुछ पर्वाह न करते हुए बुद्ध ने जनता को अपने धर्म-संघ में सम्मिलित होने के लिए प्रेरित किया और इस प्रकार धार्मिक जीवन, जिसे उन्होंने ब्रह्मचर्य कहा, के क्षेत्र को उन्होंने विस्तृत कर दिया। ब्राह्मण-परम्पराओं के अनुसार संन्यासी का जीवन गृहस्थ या वानवस्थ की अवस्था के बाद ही ग्रहण किया जा सकता है। वेदों का विद्यार्थी सीधे संन्यास में प्रवेश नहीं कर सकता। हाँ, यदि वह चाहे तो एक भक्तिनिष्ठ कुमार के रूप में नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए वह जीवन-पर्यन्त अपने गुरु के पास रह सकता है।[१] बुद्ध ने इन सब पाबन्दियों और सीमाओं के विरुद्ध विद्रोह किया। उन्होंने कहा कि इन प्रारम्भिक तैयारियों में जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। जिस किसी व्यक्ति को उनके द्वारा उपदिष्ट धर्म के आदर्श में श्रद्धा है, वह उनके संघ में प्रवेश का अधिकारी है। ब्राह्मणों में भी एक परम्परा थी जिसके अनुसार जब कभी मनुष्य अपने को योग्य समझे, संन्यास आश्रम में प्रवेश कर सकता था।[२] यह सम्भव है कि इस परम्परा का समावेश बौद्ध प्रभाव के परिणाम-स्वरूप हुआ हो। यह ध्यान रखने की बात है कि भगवान बुद्ध ने वैदिक अध्ययन समाप्त करने के बाद एक विद्यार्थी द्वारा ग्रहण किए गए ब्रह्मचर्य और एक गृहस्थ के द्वारा ग्रहण किए गए ब्रह्मचर्य में कोई भेद नहीं रखा।[३]

भगवान बुद्ध और उनके उद्देश्य जीवन की केवल एक अवस्था अर्थात् प्रव्रज्या से सम्बद्ध थे। गृहस्थ-संघ का निर्माण भिक्षु-संघ के निर्माण की आवश्यक पूर्व शर्त न थी। प्राचीन भारतीय गृहस्थ प्रत्येक साधु का भोजन और शयनासन से स्वागत करते थे। अतः बौद्ध भिक्षुओं को भी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में कोई कठिनाई नहीं होती थी। गृहस्थ-समाज में भगवान बुद्ध के नियमित उपासक और अन-उपासक में कोई स्पष्ट भेद नहीं था। भगवान बुद्ध का उपासक बनने के लिए सामाजिक व्यवस्था में किसी व्यक्ति के स्थिति-परिवर्तन की कोई आवश्यकता न थी। कोई भी व्यक्ति केवल बुद्ध की शरण लेकर उनका उपासक बन जाता था। प्रायः समस्त ब्राह्मण जिन्होंने भगवान बुद्ध से संलाप किया, उनके उपासक बन गए।

---

१. छान्दोग्य, २।२३।१।

२. देखिए आपस्तम्ब धर्म-सूत्र २।२१।८ पर हरदत्त की टीका।

३. अंगुत्तर ३, पृष्ठ २२३-३०।

इसका अर्थ यह नहीं था कि इसके द्वारा उन्होंने अपनी सामाजिक स्थिति में परिवर्तन कर दिया या अपनी ब्राह्मण-परम्पराओं और रीति-रिवाजों को छोड़ दिया ।[1] दूसरे शब्दों में, किसी व्यक्ति के द्वारा उपासक बनने और साथ ही अपने परम्परागत धार्मिक और सामाजिक कुल-कर्त्तव्यों को करने में किसी प्रकार की असंगति नहीं थी, हाँ यह अवश्य ध्यान में रखते हुए कि जीव-हिंसा आदि से विरति के नियम न टूटें । प्राचीन काल में बौद्ध देशों में जो रीति-रिवाज प्रचलित थे, उनसे भी इस बात का समर्थन होता है । उदाहरणतः, बर्मा में पेगनवंशीय राज-दरबारों के सब रीति-रिवाज ब्राह्मणों के धार्मिक कृत्यों के रंग से रंगे हुए थे और नारायण, गणेश और ब्रह्मा जैसे देवताओं का आदर होता था ।[2]

बौद्ध गृहस्थ-संघ का निर्माण, एक वर्ग के रूप में, भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के सौ वर्ष बाद, सम्भवतः महासंघिकों के द्वारा, किया गया । आधारभूत शर्तें जो एक गृहस्थ श्रावक को पूरी करनी होती थीं, इस प्रकार थीं, (१) त्रि-शरण ग्रहण करना, (२) पंचशील को लेना, जो उपासकों के लिए अनिवार्य था, (३) उपोसथ के दिनों में उपदेश सुनना और अष्टशील को लेना ।[3] कभी भी एक गृहस्थ शिष्य अपनी इच्छानुसार भिक्षु-संघ में प्रवेश कर सकता था और जब उसे ऐसा लगे कि भिक्षु-जीवन के अनुकूल वह नहीं है तो फिर सांसारिक जीवन में लौट आने के लिए वह स्वतन्त्र था । ब्राह्मणों के आश्रम सम्बन्धी सिद्धान्त में संन्यासी का जीवन सदा के लिए ही लिया जाता था, परन्तु भगवान बुद्ध ने ऐसी कोई अनिवार्य शर्त नहीं रक्खी ।

महायान और भक्ति-सिद्धान्त

बौद्ध-धर्म, जैसा पालि निकायों से दिखाई पड़ता है, पूर्णतः नैतिक सिद्धान्तों पर आधारित एक धर्म है । ईश्वरवाद या ईश्वरवादी जीवन-मार्ग के लिए यहाँ कोई अवकाश नहीं है । दूसरे शब्दों में, भगवान बुद्ध ने मनुष्य के भाग्य पर शासन करने वाले के रूप में ईश्वर पर कभी विचार नहीं किया । न उन्होंने आयाचना और प्रार्थना को ही ब्राह्मणों के अर्थ में कभी महत्त्व दिया ।[4] उनके अनुसार मनुष्य की मुक्ति प्रार्थना और पूजा में नहीं, बल्कि उसके सम्यक् प्रयत्न और सम्यक् ज्ञान में

---

१. ओल्डनबर्ग, बुद्धा, पृष्ठ ३८२-८३, १६२ टिप्पणी १ ।

२. एन० आर० राय, बुद्धिज़्म इन बर्मा, पृष्ठ १४८ ।

३. एन० दत्त, इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, ७, पृष्ठ ६६८ ।

४. दीघ, १,२४४-४५, संयुत्त; ४।३१२-१४ ।

निहित थी। भगवान बुद्ध के उपदेश के इस पहलू के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि यह कर्म के द्वारा मुक्ति प्राप्त करने का सिद्धान्त है।[1]

परन्तु जब हम तीन या चार शताब्दी बाद के बौद्ध साहित्य की परीक्षा करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि बौद्ध-धर्म ने कुछ ऐसे स्वरूप विकसित कर लिए थे जो उसके मौलिक विचारों से बाहर के थे। महायान बौद्ध-धर्म ने मानव बुद्ध, शाक्यमुनि, को एक ऐसे शाश्वत और सर्वशक्तिमान देवता के रूप में परिवर्तित कर दिया जो जगत पर शासन करता है और अपने भक्तों को वरदान देता है। ऐतिहासिक बुद्ध केवल आदि बुद्ध के एक अंशमात्र हैं जिन्हें वे धर्म का प्रचार करने और संसार को दुःख और बुराइयों से विमुक्त करने के लिए भेजते हैं। अब लोग उन्हें प्रसन्न करने के लिए उनकी प्रार्थना करने लगे और उनकी इस प्रसन्नता से मुक्ति की कामना करने लगे। बौद्ध-धर्म इस प्रकार सद्धर्मपुण्डरीक, गण्डव्यूह और महायान-सूत्रों में बुद्ध की भक्ति पर आधारित धर्म बन गया। मुक्ति अब भक्ति और भावनामय प्रार्थना पर आधारित हो गई। प्रारम्भिक बौद्ध-धर्म में भगवान बुद्ध ने कभी नहीं सिखाया था कि उनके शरीर की पूजा किसी प्रकार उपयोगी हो सकती है। उन्होंने अपने महापरिनिर्वाण के समय अपने शिष्यों को यही बताया था कि उन्हें धर्म और विनय का पालन करना चाहिए और यही तथागत के सत्कार का उपयुक्त ढंग है, दिखावटी पूजा नहीं।[2] इस प्रकार यह माना जा सकता है कि मौलिक रूप से अनीश्वरवादी बौद्ध-धर्म का ईश्वरवादी महायान के रूप में परिवर्तन शताब्दियों से चले आते हुए ईश्वरवादी हिन्दू-धर्म के प्रभाव के परिणाम-स्वरूप हुआ।[3] महायान अपनी भक्ति-भावना के कारण और न केवल हिन्दू बल्कि अनेक पारसी विचारों को भी ग्रहण करने की प्रवृत्ति के कारण लोकप्रिय और शक्तिमान हो गया और हीनयान को उसने पूरी तरह आच्छादित कर लिया, यद्यपि हीनयान भी, जब तक बौद्ध-धर्म भारत में रहा, जीवित बना ही रहा।[4]

महायान की एक दूसरी विशेषता यह है कि इसके अनुयायियों से, जो बोधिसत्व कहलाते हैं, यह आशा की जाती है कि वे शुभ कर्म करें परन्तु उसके पुण्य को अन्य प्राणियों के चित्त में बोधि की भावना उत्पन्न करने के लिए उन्हें

---

१. मैकगवर्न, महायान, पृष्ठ १०३।

२. दीघ, २।१३८; थेरीगाथा, गाथा १६१।

३. आर० किमुरा, हीनयान एण्ड महायान, इत्यादि, पृष्ठ ४३; एस० राधाकृष्णन, इण्डियन फ़िलासफ़ी, जिल्द पहली, पृष्ठ ५८३।

४. मैकगवर्न, महायान, पृष्ठ १८३।

अर्पित कर दें। गीता में कर्म को ईश्वरार्पण कर देने का जो उपदेश है उससे इसकी समानता है। ईसाइयों के रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय में भी हमें इसी प्रकार का सिद्धान्त मिलता है जिसे आवश्यक कर्त्तव्य से अधिक कर्म करने (Supererogatory) का सिद्धान्त कहा जाता है।[1] कुछ लोगों का विश्वास है कि पुण्य को दूसरों को समर्पित कर देने के बौद्ध सिद्धान्त ने गीता के कर्म को ईश्वरार्पण कर देने के सिद्धान्त को प्रभावित किया है। परन्तु बौद्धों का उपर्युक्त सिद्धान्त किस प्रकार प्रचलित हुआ, यह स्पष्ट नहीं है। निकायों में इस सिद्धान्त का उल्लेख नहीं है। यह सम्भव है कि जब महायान में परसेवा या परार्थत्व पर जोर दिया गया तो यह आत्म-बलिदान और वैराग्य की भावना के चिन्ह स्वरूप ही था। कम से कम ४०० ई० पू० से प्रचलित वासुदेव-भक्ति के सिद्धान्त का एक स्वाभाविक परिणाम भी आत्म-समर्पण ही है।[2]

अद्वैतवाद

महायान बौद्ध-धर्म ने माध्यमिक और योगाचार, इन दो दर्शन-सम्प्रदायों को जन्म दिया। माध्यमिक दर्शन को नागार्जुन ने, जो भारत के सबसे बड़े विचारकों में हैं, एक व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया। भगवान बुद्ध ने विषय-भोग और आत्म-पीड़न की दो अतियों को छोड़कर मध्यम मार्ग को अपनाया था। इसी मध्यम मार्ग की व्याख्या करते हुए और उसके वास्तविक मर्म की खोज करते हुए नागार्जुन ने अपने माध्यमिक सिद्धान्त का प्रवर्तन किया। नागार्जुन के दर्शन का मुख्य विचार प्रज्ञा है जिसकी प्राप्ति वस्तुओं के यथाभूत स्वरूप अर्थात् उनकी शून्यता के दर्शन से होती है। शून्यता को उन्होंने 'प्रतीत्य समुत्पाद' का समानार्थ वाची शब्द माना है। इसलिए 'सर्वं शून्यम्' सिद्धान्त-वाक्य का अर्थ उनके अनुसार यह है कि सब वस्तुएँ प्रत्ययों से उत्पन्न हुई हैं, इसलिए वे निःस्वभाव हैं। यहाँ वस्तुओं से तात्पर्य आन्तरिक और बाह्य धर्मों से है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु निःसार और मायावत् है। जब इसका अनुभव हो जाता है, तो धर्मधातु प्रकट हो जाती है।

नागार्जुन के दर्शन का एक अन्य मुख्य सिद्धान्त अजातिवाद है। निःस्वभाव और शून्य वस्तुएँ अ-जात और अविनष्ट हैं। नागार्जुन ने अपने माध्यमिक-शास्त्र में अजातिवाद के सिद्धान्त के प्रतिपादन में बड़ा आयास किया है। नागार्जुन की व्याख्या और तर्क पद्धति इतनी आकर्षक और मन पर प्रभाव डालनेवाली है कि उनके विरोधियों को भी उनके सिद्धान्तों को लेने का लोभ हुआ।

---

१. मैकगवर्न, महायान, पृष्ठ ११५।
२. वैष्णविज़्म, पृष्ठ १३।

अद्वैत वेदान्त के महान व्याख्याकार आचार्य गौडपाद का इस सम्बन्ध में एक उदाहरण है। वे नागार्जुन की तर्क-पद्धति से काफी अधिक प्रभावित हुए। बाह्य जगत, अद्वैत वेदान्ती और माध्यमिक, दोनों के लिए असत्य है, इस सम्बन्ध में गौडपाद के तर्क वही हैं जो नागार्जुन के। नागार्जुन का अजातिवादी सिद्धान्त उनके शून्यतावादी सिद्धान्त का स्वाभाविक निष्कर्ष है। दृश्य जगत के सम्बन्ध में अजातिवाद का सिद्धान्त गौडपाद से पूर्व अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र में अज्ञात था। उपनिषदों में आत्मा और ब्रह्म के सम्बन्ध में तो अनेक बार 'अज', 'अव्यय' और 'नित्य' जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है, परन्तु दृश्य जगत के सम्बन्ध में ऐसा कभी नहीं किया गया और न गौडपाद से पूर्व अद्वैतवादी आचार्यों की परम्परा में किसी ने अजातिवाद का इतना विशद प्रख्यापन किया है जैसा गौडपाद ने अपनी कारिकाओं में। इसलिए इस तथ्य का निषेध नहीं किया जा सकता कि आचार्य गौडपाद ने अजातिवाद के सिद्धान्त को नागार्जुन से लिया और अद्वैत को एक स्थिर आधार प्रदान करने के लिए उन्होंने इस सिद्धान्त में अनुकूल परिवर्तन किए।[1]

महायान बौद्ध-धर्म का दूसरा महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय विज्ञानवाद था, जो विश्व को मनोमय मानता था। यद्यपि विज्ञानवादी भी विश्व को असत्य मानते हैं, परन्तु वे अजातिवाद के सिद्धान्त पर इतना अधिक जोर नहीं देते। माध्यमिक और योगाचार दोनों विश्व को मायावद् मानते हैं। अद्वैतवादी भी इसी प्रकार अद्वैत में अपनी निष्ठा दृढ़ करने के लिए मायावाद को मानते हैं। अद्वैतवाद के महान विजेता प्रचारक आचार्य शंकर ने माया-वाद के इस शास्त्र को ग्रहण किया और अपने विरोधी न्याय और वैशेषिक जैसे वस्तुवादी दर्शन-सम्प्रदायों के विरुद्ध इसे प्रयुक्त किया, जिसके कारण ही उन्हें 'प्रच्छन्न बौद्ध' कह कर पुकारा गया। परन्तु जगन्मिथ्यात्व की सिद्धि के लिए जो तर्क शंकर ने दिए हैं, वे स्वतन्त्र हैं, क्योंकि उपनिषदों के अनुसार प्रारम्भ में केवल ब्रह्म या आत्मा था और उससे अतिरिक्त सब असत् और आर्त था।[2] इस प्रकार की घोषणा यह स्पष्ट करती है कि केवल ब्रह्म या आत्मा ही सत्य है। अब प्रश्न यह है कि शंकर के मायावाद का स्रोत क्या है? महायान बौद्ध, जो उनके ठीक पूर्वगामी हैं, अधिक सम्भवतः उसके स्रोत हो सकते है। परन्तु दूसरी ओर एक सम्भावना यह भी है कि षष्टितन्त्र, जो सांख्य

१. अधिक विवरणों के लिए देखिए, इण्डियन फ़िलासफ़ी, जिल्द पहली, पृष्ठ ६६८।
२. बृहदारण्यक उपनिषद ३।५।१।

दर्शन की एक प्रसिद्ध रचना है, मायावाद का स्रोत रही हो। यह कहा जाता है कि षष्टितन्त्र में इस आशय का एक कथन है कि "गुणों का परम और सच्चा स्वभाव अदृश्य है और जो कुछ दृश्य है वह मायावत् है।"[1] प्रासंगिक रूप से यहाँ यह भी कह देना चाहिए कि पूर्ववर्ती बौद्ध निकायों में मायावाद का कहीं उल्लेख नहीं है।

एक दूसरी बात में भी बौद्ध प्रभाव को खोजा जा सकता है। कायिक, वाचिक और मानसिक, इन तीन रूपों में कर्म का विभाजन प्रायः सब जगह पाया जाता है। फिर इन तीन में से प्रत्येक का अलग-अलग प्रकार से वर्गीकरण विभिन्न दर्शन-सम्प्रदायों में किया गया है। बौद्ध कायिक और मानसिक कर्म का तीन रूपों में तथा वाचिक कर्म का चार रूपों में वर्गीकरण करते हैं। उनके मतानुसार तीन अकुशल कायिक कर्म हैं, जीव-हिंसा, चोरी और व्यभिचार। इनसे विपरीत कर्मों को वे कुशल कायिक कर्म कहते हैं। इसी प्रकार बौद्धों के अनुसार चार अकुशल वाचिक कर्म हैं—मृषावाद, पिशुनवाचा, परुषवाचा और सम्भिन्नप्रलाप और तीन अकुशल मानसिक कर्म हैं, अभिध्या (लोभ), व्यापाद (द्रोह) और मिथ्या दृष्टि। इनसे विपरीत को वे क्रमशः चार कुशल वाचिक कर्म और तीन कुशल मानसिक कर्म कहते हैं। अब इसी प्रकार कर्म का दस रूपों में विभाजन हमें न्याय-भाष्य (१।१।१७) में मिलता है, जिसकी उद्योतकर के 'वार्तिक' में भी व्याख्या की गई है। 'वार्तिक' में दस पुण्य कर्मों का इस प्रकार विवेचन किया गया हैः परित्राण, परिचरण और दान, ये तीन कर्म कायिक हैं; सत्य, हित, प्रिय और स्वाध्याय,

---

१. गुणानां परमं रूपम्, इत्यादि, योग-सूत्र पर व्यास भाष्य ६।१३ में : तथा चानुशासनम्। वाचस्पति मिश्र का कहना है, अत्रैव षष्टितन्त्रस्यानुशिष्टिः। 'माया' शब्द के दो अर्थ हैं, (१) प्रकृति और (२) भ्रम या भ्रमोत्पादक विषय। पहले अर्थ का प्रयोग उपनिषदों और गीता में है। दूसरे अर्थ का प्रयोग विशेषतः बौद्धों और अद्वैत वेदान्तियों का अपना है।

यहाँ यह और कह देना चाहिए कि उपर्युक्त श्लोक को वाचस्पति मिश्र ने वार्षगण्य-कृत बताया है (भामती २।१, २,३)। जैसा जे० एच० वुड्स ने दिखाया है (योग-सूत्र), यह श्लोक मूलतः पञ्चशिख के षष्टितन्त्र से लिया गया होग। वार्षगण्य सम्प्रदाय और उसके पाठ्य-ग्रन्थ की प्राचीनता की सिद्धि ई०एच० जान्स्टन ने की है और सहेतुक ढंग से यह दिखला दिया गया है कि वार्षगण्य सम्प्रदाय की पाठ्य-पुस्तक महाकवि अश्वघोष (५० ई० पू० से ५० ई० तक) से पूर्व विद्यमान रही होगी (देखिए बुद्धचरित, जिल्द दूसरी, भूमिका, छियालीस, छप्पन।)

ये चार कर्म वाचिक हैं ; दया, स्पृहा और श्रद्धा, ये तीन कर्म मानसिक हैं। इसी प्रकार नैयायिक कर्म के दस प्रकार के विभाजन को मानते हैं। यहाँ एक विशेषता यह है कि वे विधायक रूप में उनका वर्णन करते हैं, न कि अ-कुशल कर्मों के विपरीत होने के रूप में, जैसा कि बौद्धों ने किया है। श्रीमद्भगवद्गीता तीन प्रकार की तपस्याओं के रूप में सात्विक कर्म का तीन प्रकार का विभाजन करती हुई कहती है,"देव, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानी की पूजा, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा, ये शारीरिक तप कहलाते हैं। दुःख न देने वाले, सत्य, प्रिय, हितकर वचन बोलना और धर्म-ग्रन्थों का अभ्यास करना, वाचिक तप कहलाता है। मन की प्रसन्नता, मृदुता, मौन, आत्म-संयम और भावना-शुद्धि, इन्हें मानसिक तप कहते हैं।" [1] इससे ज्ञात होगा कि गीता पर बौद्ध विचारों का प्रभाव नहीं पड़ा है।

जब हम मनुस्मृति के बारहवें अध्याय को देखते हैं तो हम उसके विचारों और शब्दावली को बौद्धों के बिल्कुल समान पाते हैं। मनुस्मृति में दस प्रकार के अ-पुण्य कृत्यों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है: दूसरों के धन का लोभ करना, बुरे विचार और अहंभाव, ये तीन मानसिक कृत्य हैं। परुष वचन, मृषावाद, पिशुन वाणी और असम्बद्ध प्रलाप, ये चार जिह्वा के कृत्य हैं। चोरी, जीव-हिंसा और पर-स्त्री-गमन ये तीन कायिक कृत्य हैं। पुनः इसी अध्याय के दसवें श्लोक में एक त्रिदण्डी साधु की परिभाषा करते हुए सच्चे बौद्ध ढंग में कहा गया है जिस व्यक्ति ने तीन दण्डों, वाचिक, मानसिक और कायिक, को अपने वश में कर लिया है, वही सच्चा त्रिदण्डी है। [2] किस ढंग से बौद्ध-धर्म और बौद्ध विचारों ने प्राचीन हिन्दू लेखकों को प्रभावित किया है, इसका प्रभूत साक्ष्य हमें उपर्युक्त तथ्य में मिलता है। बौद्ध-धर्म से विचारों के ग्रहण करने के ऐसे अन्य अनेक उदाहरण भी दिए जा सकते हैं। [3]

भगवान बुद्ध एक अवतार के रूप में

परमात्मा अपने को अनेक रूपों में प्रकाशित करता है, इस विचार ने आगे चल कर एक ऐसे देवता के रूप में विकास प्राप्त किया जिसे अन्य सब देवाताओं के

---

१. गीता १७।१४-१६।

२. 'दण्ड' का इस अर्थ में प्रयोग बौद्ध और जैनों की एक विशेषता है। देखिए मज्झिम १, पृष्ठ ३७२।

३. उदाहरणतः देखिए श्लोक "कामजानासि तेमूलम्," इत्यादि जिसे शंकर के गीता-भाष्य ६।४ में उद्धृत किया गया है और जो उदान-वर्ग २।१ में भी पाया जाता है। ऐसे अन्य अनेक श्लोक हैं जो महाभारत और बौद्ध ग्रन्थों में समान रूप से पाए जाते हैं।

साथ एकाकार किया जा सकता है। इसी से आगे चल कर अवतारवाद का जन्म हुआ, जिसने उत्तरकालीन हिन्दू-धर्म पर काफी प्रभाव डाला।[1] अवतार देवता का साकार रूप होता है जो यद्यपि एक मनुष्य की तरह काम करता है, परन्तु फिर भी जिसमें देवता की विभूतियाँ रहती हैं। महाभारत और पुराणों में अनेक अवतारों के उल्लेख हैं। हरिवंश-पुराण में भगवान बुद्ध का अवतार के रूप में उल्लेख नहीं है, परन्तु वराह-पुराण, अग्नि-पुराण और उत्तरकालीन पुराणों में उनकी गणना अवतारों में की गई है। गौडपाद (७२५ ई०)[2] ने जिस प्रकार भगवान बुद्ध की स्तुति की है, उससे यह स्पष्ट होता है कि उनके समय से पूर्व भगवान बुद्ध को विष्णु का अवतार माना जाने लगा था। अपनी कारिकाओं में भगवान बुद्ध को नमस्कार करते हुए उन्होंने ऐसे विशेषणों का प्रयोग किया है, जिनसे यह ध्वनि निकलती है कि बुद्ध उनकी पूजा के आलम्बन हैं। यही एक व्याख्या हो सकती है, क्योंकि गौडपाद कट्टर अद्वैतवादी थे।

जब एक बार बुद्ध को अवतार मान लिया गया तो उनके अनुयायियों ने उन्हें वह सब आदर दिया जो एक हिन्दू अवतार को मिलता था। हिन्दुओं के समान वे भी बुद्ध-मूर्ति की पूजा भावना और ध्यान की वृद्धि के लिए करने लगे। अब यह मत प्रायः सर्व-सम्मत है कि हिन्दुओं में मूर्ति-पूजा कम से कम पाणिनि (५००-४५० ई० पू०) के समय से प्रचलित है। परन्तु बौद्धों में मूर्ति-पूजा इतनी प्राचीन नहीं हो सकती, क्योंकि भगवान बुद्ध ने स्तूप आदि के अतिरिक्त अपनी मूर्ति की पूजा के लिए प्रतिष्ठा करने की कभी अनुमति नहीं दी। सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र जैसे उत्तरकालीन ग्रन्थ में भी भगवान बुद्ध ने अपने शिष्यों को केवल स्तूप या चैत्य बनाने का आदेश दिया है। परन्तु फिर भी भारत के विभिन्न भागों में जो मूर्तियाँ हाल में मिली हैं, उनसे स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल में भारतीय बौद्ध व्यापक रूप से बुद्ध-मूर्ति की पूजा करते थे। आज सिंहल, बर्मा, चीन और दूसरे बौद्ध देशों में लोग बुद्ध-मूर्ति की पूजा उसी प्रकार फूल, भोजन, वस्त्र, दीप और धूप आदि के अर्पण द्वारा प्रार्थना करते हुए करते हैं, जिस प्रकार हिन्दू लोग भारत में। सिंहल में मूर्ति के निर्माण में अन्तिम कार्य आँखों का रंगना है, जो एक तान्त्रिक क्रिया है और भारत में भी की जाती है। बर्मा में बुद्ध-मूर्ति में प्राण-प्रतिष्ठा उसी प्रकार की जाती है जैसे भारत में। चीन में

---

१. वैष्णविज़्म, पृष्ठ २,४१,४२।

२. प्रिंसिपल आर० डी० कर्मरकर के अनुसार उनकी तिथि ५०० ई० के करीब है।

भी इसी प्रकार का एक संस्कार किया जाता है, जिससे मूर्ति में देवत्व का जीवन-संचार किया जाता है।[1]

सामाजिक सुधार

जब से उपासक लोग बौद्ध संघ के नियमित सदस्य माने जाने लगे, उस समय से उनमें भी भिक्षुओं के समान जाति-सम्बन्धी नियमों के पालन की ढिलाई होने लगी। इस परिवर्तन का हिन्दुओं पर दूरगामी प्रभाव पड़ा। उनके अन्दर के कुछ उदार विचारकों का ध्यान समाज-सुधार की ओर गया और वे हिन्दू-धर्म की सीमा के अन्दर रहने वाली विभिन्न जातियों के पारस्परिक सम्बन्धों को अच्छा बनाने के लिए यत्नशील हुए। कुछ ने उग्रतापूर्वक जाति-प्रथा की कड़ाइयों और अत्याचारों पर आक्रमण किया। कपिलर (करीब ११०० ई०) नामक एक तमिल लेखक ने जातिवाद की कड़ी आलोचना की। तेलुगु लेखक वेमन और कनारा के सुधारक बासव ने जाति-प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन शुरू किए। बासव ने तो लिंगायत नामक एक वीरशैव सम्प्रदाय का निर्माण किया जिसने समाज में ब्राह्मणों की उच्चतर स्थिति और प्रतिष्ठा की पूरी तरह उपेक्षा की। उत्तरकालीन वैष्णवों ने, विशेषतः रामानुज-सम्प्रदाय के वैष्णवों ने, इस बात की आवश्यकता समझी कि धार्मिक उत्सवों तथा मन्दिरों में पूजा के सम्बन्ध में जातिवाद के बन्धनों को ढीला कर दिया जाय।[2] सब जातियों से उन्होंने अपने सम्प्रदाय के लिए अनुयायियों को लेना शुरू कर दिया जिससे वैष्णव धर्म का प्रचार साधारण जन-समाज में भी हुआ। उत्तरकालीन धार्मिक नेताओं ने भी, जिनमें कबीर और गुरु नानक आदि मुख्य हैं, इसी प्रकार के विचारों का समर्थन किया। सुधार की यह आग आधुनिक युग तक जलती रही, जबकि जाति-भेद के पूर्ण विनाश के लिए सुधारकों ने एक संगठित युद्ध शुरू कर दिया है। आज यह ज्ञात होगा कि भगवान बुद्ध कितने बुद्धिमान और दूरदर्शी थे जब कि उन्होंने यह घोषणा की कि धार्मिक जीवन सब वर्गों के मनुष्यों के लिए खुला हुआ होना चाहिए।

शाकाहार

भगवान बुद्ध ने यह आवश्यक नहीं समझा कि वे अपने भिक्षु शिष्यों के लिए शाकाहार का विधान करें। जो उन्होंने किया वह यह था कि उन्होंने उनसे कहा कि उन्हें

---

१. देखिए जे० एन० फर्कुहर, क्राउन आफ़ हिन्दुइज़्म, पृष्ठ ३२३।

२. यह तथ्य आज भी पुरी के जगन्नाथ जी के मन्दिर में तथा अन्य वैष्णव मन्दिरों में देखा जा सकता है।

माँस नहीं खाना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने में पशुओं की हत्या होती है। स्पष्टतः; वे इस बात पर आग्रह नहीं कर सकते थे कि उनके गृहस्थ शिष्य शाकाहार ही करें।

सर्वप्रथम अशोक ने अपने विस्तृत साम्राज्य के कोने-कोने में पशु-जीवन की पवित्रता की घोषणा की और अपने पवित्र उद्देश्य का उत्साहपूर्वक अनुसरण करते हुए उसने लोगों को प्रेरित किया कि उन्हें धार्मिक कृत्यों के लिए भी पशुओं की हत्या नहीं करनी चाहिए। उसने बौद्ध संघ को, जिसमें उस समय गृहस्थ और भिक्षु दोनों ही सम्मिलित थे, अवश्य बहुत हद तक प्रभावित किया होगा। यह भी सम्भव है कि अशोक के बाद उसके इस सुधार से प्रभावित कुछ हिन्दू और जैनों ने उसके इस कार्य को आगे बढ़ाया हो और जनता में उसके लिए सहानुभूति पैदा की हो, जिसके परिणाम-स्वरूप ही सम्भवतः बौद्ध संघ ने मांस-भोजन का पूर्ण निषेध कर दिया हो, जैसा कि लंकावतार-सूत्र में उल्लिखित है। फिर इसके कई शताब्दी बाद जब हर्षवर्धन का आविर्भाव हुआ तो उसने गद्दी पर बैठने के बाद ही यह घोषणा कर दी कि उसके राज्य में कोई माँस न खाए। इसके बाद जो उत्तरकालीन वैष्णव और शैव साधु हुए, उनके उपदेशों के परिणामस्वरूप शाकाहार को और अधिक बल मिला और जनता द्वारा उसे अधिक शीघ्रता के साथ ग्रहण कर लिया गया। इन वैष्णव और शैव सन्तों का विश्वास था कि प्रत्येक वस्तु के अन्दर ईश्वर है और ईश्वर में सब वस्तुएँ हैं, इसलिये वे घास पर भी लापरवाही से चलने में भय अनुभव करते थे। महायान बौद्ध सन्त भी अपने शरीर के पोषण के लिए निरीह पशुओं की हत्या को घृणा की दृष्टि से देखते थे, क्योंकि उनका विश्वास था कि उनका स्वयं का जीवन भी तभी तक रहने के योग्य था जब तक कि वह दूसरे प्राणियों की इच्छा की पूर्ति का साधन था। इन सन्तों के सतत उपदेश और अभ्यास का ही परिणाम है कि शाकाहार भारत में एक स्थायी वस्तु बन गया है।

संक्षेप में, डा० राधाकृष्णन के शब्दों में, बौद्ध-धर्म भारत की संस्कृति पर अपना स्थायी चिह्न छोड़ गया है। सब ओर इसका प्रभाव दृष्टिगोचर है। हिन्दू-धर्म ने इसके नीतिशास्त्र के सर्वोत्तम अंश को अपने में समाविष्ट कर लिया है। जीवन के प्रति एक नया आदर, पशुओं के प्रति दया, उत्तरदायित्व का भाव और उच्चतर जीवन के प्रति उद्योग, ये सब बातें एक नए वेग के साथ भारतीय मस्तिष्क को अवगत कराई गई हैं। बौद्ध प्रभावों को ही यह श्रेय प्राप्त है कि उनके कारण ब्राह्मण-परम्परा की धर्म-साधनाओं ने अपने उन अंशों को छोड़ दिया है जो मानवता और बुद्धिवाद के अनुकूल नहीं थे।[1]

---

१. इण्डियन फ़िलासफ़ी, जिल्द पहली, पृष्ठ ६०८।

तान्त्रिक बौद्ध-धर्म के सिद्धान्त

तान्त्रिक बौद्ध-धर्म में उत्तरकालीन बौद्ध-धर्म के मन्त्रयान, वज्रयान और सहजयान जैसे रूप सम्मिलित हैं। बौद्ध-धर्म के योगाचार सम्प्रदाय ने योग-सम्बन्धी एक ऐसी साधना को जन्म दिया जिसमें मन्त्रों, धरणियों और मण्डलों का प्रचलन हो गया। इस प्रकार की साधना गुह्य ढंग की होती थी और गुरु-शिष्य की परम्परा से उसका एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक सम्प्रेषण होता था। इस प्रकार की प्रतीकात्मक और दुहरे अर्थ वाली भाषा का प्रयोग इस साधना के करने वाले लोग करते थे और सिद्धि के लिए अनेक देवी-देवताओं की पूजा भी करते थे।

गुह्यतावादी बौद्ध-धर्म की इस शाखा से सम्बन्धित बौद्ध-धर्म का एक उत्तर-कालीन विकसित रूप और था जिसका नाम 'वज्रयान' है। इसका प्रचार अधिकतर समाज के निम्न वर्ग में था। इसकी कुछ बातें अनैतिक और आपत्तिजनक भी थीं, जिनका मूल बुद्ध-उपदेशों से कुछ सम्बन्ध न था। भारत के पूर्वी भागों में इस सम्प्रदाय का काफी जोर था। विक्रमशीला तान्त्रिक विद्या का एक महान केन्द्र था, जहाँ से यह धीरे-धीरे बंगाल, असम और उड़ीसा तक फैल गई। इस सम्प्रदाय की विकृत क्रियाओं के प्रति सभी समझदार आदमियों ने विद्रोह किया और इन्हीं के अधिकांश रूप में भारत में बौद्ध-धर्म का ह्रास हुआ।

तान्त्रिक बौद्ध-धर्म की शिक्षाओं के सम्बन्ध में आज भी काफी भ्रम है और इसका मुख्य कारण तन्त्रों में प्रयुक्त प्रतीकात्मक भाषा है, जिसे संस्कृत में 'सन्ध्या भाषा' भी कहा गया है। इस प्रकार की भाषा का प्रयोग तान्त्रिकों ने ही नहीं, बौद्ध सिद्धों ने भी किया है और चीन के 'चान' तथा जापान के 'ज़ेन' बौद्ध-धर्म के साधकों ने भी।

तान्त्रिक बौद्ध-धर्म का हिन्दू-धर्म पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा है कि आज तक अनेक पश्चिमी विद्वान यह समझते हैं कि तान्त्रिकता हिन्दुओं में उत्पन्न हुई और उनसे प्रायः ह्रासग्रस्त बौद्ध सम्प्रदायों ने उसे लिया। परन्तु बौद्ध-धर्म में तान्त्रिक प्रवृत्तियों की जो प्राचीनता है और उनका जो सतत विकास उसमें हुआ है, उसको देखते हुए इस मत को ठीक नहीं माना जा सकता। पूर्ववर्ती महासंघिकों के पास तक मन्त्रों का एक संग्रह था जिसका नाम धारणी-पिटक था। फिर मंजुश्री-मूलकल्प में, जो प्रथम शताब्दी ईस्वी की रचना है, न केवल मन्त्र और धारणी ही पाए जाते हैं, बल्कि अनेक मण्डल और मुद्राएँ भी। यद्यपि मंजुश्रीमूलकल्प की रचना-तिथि निश्चित नहीं है, फिर भी इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि तृतीय शताब्दी ईस्वी तक बौद्ध तान्त्रिक दर्शन ने एक व्यवस्थित रूप प्राप्त कर लिया था, जैसा कि हमें गुह्यसमाजतन्त्र से स्पष्ट मालूम पड़ता है।

तान्त्रिक बौद्ध-धर्म शैव-धर्म की एक शाखा ही है, यह कहना उन्हीं के लिए सम्भव है जो तान्त्रिक साहित्य का मौलिक ज्ञान नहीं रखते। बौद्धों का तन्त्र-साहित्य जो तिब्बती भाषा में सुरक्षित है, अभी तक भारतीय ज्ञान के गवेषकों की दृष्टि में पूरी तरह नहीं आया है। हिन्दुओं के तन्त्रों का बौद्ध-तन्त्रों से मिलान करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि न केवल दोनों की विधि और उद्देश्यों में ही अन्तर है, बल्कि बौद्ध तन्त्र हिन्दू तन्त्रों की अपेक्षा ऐतिहासिक दृष्टि से प्राचीन और मौलिक भी हैं। श्री विनयतोष भट्टाचार्य ने अपने ग्रन्थ "इन्ट्रोडक्शन टु बुद्धिस्ट एसोटेरिज़्म" में यह निष्कर्ष स्थापित किया है, "बिना विरोध की आशंका के यह घोषणा की जा सकती है कि बौद्ध लोगों ने प्रथम बार तन्त्रों का प्रवेश अपने धर्म में किया और उसके बाद के काल में हिन्दुओं ने उन्हें बौद्धों से लिया। यह कहना निरर्थक है कि उत्तरकालीन बौद्ध-धर्म शैव-धर्म का एक परिणाम था।"[1]

बौद्ध और हिन्दू तान्त्रिकता में एक बड़ा भेद यह है कि हिन्दू तन्त्रों में शक्ति-पूजा का एक केन्द्रीय स्थान है, परन्तु बौद्ध तान्त्रिक धर्म में शक्ति को कोई स्थान नहीं है। वहाँ प्रज्ञा मुख्य विचार है। शक्ति को वहाँ माया बताया गया है, जिसकी खोज बौद्ध साधक नहीं करता। शिव और शक्ति के मिलन से सृष्टि के आरम्भ का हिन्दू तन्त्र वर्णन करते हैं। परन्तु बौद्ध तान्त्रिक सृष्टि के उद्भव और विकास से अधिक सम्बन्ध न रखकर उस 'अ-जात, अ-भूत' अवस्था में जाना चाहता है, जहाँ से सृष्टि का आरम्भ होता है और जिसे वह 'शून्यता' कहकर पुकारता है।

बौद्ध तन्त्र योगाचारियों के विधिवत् उत्तराधिकारी हैं और उपयुक्त रूप से व्याख्या करने पर उनका मन्तव्य 'प्रतीत्यसमुत्पाद' की स्थापना करना ही है, जो बौद्ध-धर्म का केन्द्रीय सिद्धान्त है। गुरु गम्पोपा के शब्दों में, बौद्ध-तन्त्र "वह विस्तृत दर्शन हैं जो सम्पूर्ण विद्या को संश्लिष्ट करते हैं, वह ध्यान-विधि हैं जो जिस किसी वस्तु पर मन को एकाग्र करने की शक्ति उत्पन्न करते हैं और वह जीवन की कला हैं जो शरीर, वाणी और मन की प्रत्येक क्रिया का उपयोग मुक्ति-मार्ग की सहायता के लिए करने का सामर्थ्य प्रदान करते हैं।"[2]

---

१. पृष्ठ १४७।

२. गुरु गम्पोपा-कृत "दि ट्वैल्व इण्डिस्पैंसिबिल थिंग्स।" मिलाइए ईवान्स-वैण्टज़, टिबेटन योगा एण्ड सीक्रेट डाक्ट्रिन्स, पृष्ठ ७९।

मन्त्रयान और सहजयान

बौद्ध-धर्म की अनेक शाखाओं में सबसे कम ज्ञात मन्त्रयान और सहजयान ही हैं। उनके सम्बन्ध में सामान्यतः सब की धारणा यही है कि वे उत्तरकालीन विकास के परिणाम स्वरूप उत्पन्न हुए। परन्तु मन्त्र प्राचीन पालि त्रिपिटक के कुछ अंशों में भी पाए जाते हैं, उदाहरणतः आटानाटियसुत्त में। यद्यपि प्रारम्भिक बौद्ध-धर्म में मन्त्रों के उपयोग का विनिश्चय नहीं किया जा सकता, परन्तु यह निश्चित है कि उनका धीरे-धीरे विकास होता गया और एक परवर्ती युग में मन्त्रयान के रूप में उन्हें एक व्यवस्थित स्वरूप प्रदान कर दिया गया। मन्त्रयान और सहजयान का विषय आध्यात्मिक विकास के मनोवैज्ञानिक रूप से क्रियाशील तत्वों का विवेचन करना है। उनकी शिक्षा अत्यन्त व्यक्तिगत ढंग की है, जो अपरोक्ष अनुभव से ही प्राप्त की जा सकती है, शब्दों के व्यावहारिक अर्थों के द्वारा नहीं। यही कारण है कि इन दोनों सम्प्रदायों का समझना कठिन है। मन्त्रयान का उद्देश्य वही है जो बौद्ध-धर्म की अन्य शाखाओं का, अर्थात् मानव प्राणी का एकीकरण, बोधि या आध्यात्मिक परिपक्वता। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए त्रिरत्न की शरण ग्रहण करना और बोधि-चित्तोत्पाद आवश्यक हैं। जिस नई जीवन-दृष्टि का विकास बौद्ध साधक को करना होता है, उसके लिए वह चित्त को एकाग्र करता है। चित्त की इस एकाग्रता या समाधि को सम्पादित करने के लिए मन्त्रों का उपयोग है। वे विरोधी अवस्थाओं को दूर करते हैं, क्योंकि मन्त्र, जैसा उनके अर्थ से स्पष्ट है, मन के रक्षक हैं। वे समाधि को प्राप्त कराने में सहायक हैं। मन्त्रयान एक विधायक साधना मार्ग है, निषेधात्मक नहीं। उसका उद्देश्य बोधि की प्राप्ति है, निरोध नहीं। मन्त्रयान एक योग-मार्ग है जिसका लक्ष्य व्यक्तिगत सत्ता की परम सत्य के साथ अविभाज्य एकता सम्पादन करना है। मन्त्रयान की अन्तिम अवस्था 'गुरु-योग' कहलाती है जो अपनी आत्मा में परम सत्य को रखने का एक उपाय है। गुरु-योग एक अत्यन्त एकान्त साधना है और उसके विधान जटिल हैं। मन्त्रयान में गुरु की महिमा अत्यधिक बताई गई है, क्योंकि उसके बिना मन्त्रयान का सन्देश साधक के सामने प्रकाशित नहीं हो सकता।

मन्त्रयान से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित सहजयान है। 'सहज' शब्द का अर्थ है 'साथ उत्पन्न'। परन्तु यह 'साथ उत्पन्न' होने वाला क्या है? प्रसिद्ध तिब्बती विद्वान और सन्त मि-ल-रस-प के एक मुख्य शिष्य ने इसका उत्तर देते हुए कहा है कि धर्म-कार्य और उसका आभास, ये दो साथ-साथ उत्पन्न हैं। यह कहने से उनका तात्पर्य यह है कि सत्य और उसके आभास के बीच कोई पाटी न जा

सकने वाली खाई नहीं है, बल्कि वे दोनों अभिन्न हैं। इस अभिन्नता का अर्थ यह है कि सत्य एक और अविभाज्य है, परन्तु बुद्धि के विकल्पों और विश्लेषण के द्वारा वह अनेक विरोधियों के रूप में विभक्त कर दिया गया है, जिसकी एकता का साक्षात्कार अन्तर्ज्ञान से प्राप्त किया जा सकता है। इस अन्तर्ज्ञान को विकसित करने का मार्ग ही सहजयान है। इस प्रकार सहजयान एक साधना-पद्धति है, जिसमें बौद्धिकता की अपेक्षा अन्तर्ज्ञान पर अधिक जोर दिया गया है। भावना का स्पन्दन भी उसमें विद्यमान है।

मन्त्रयान और सहजयान का सबसे अधिक प्रभाव तिब्बत के बौद्ध-धर्म पर पड़ा है और इसे प्रमाणित करने के लिए भी पर्याप्त साक्ष्य है कि बौद्ध-धर्म के ध्यानवादी सम्प्रदाय का आधार भी यह साधना-पद्धति ही है। मन्त्रयान और सहजयान आज भी जीवित साधना-पद्धतियाँ हैं, जिनका अभ्यास तिब्बत, चीन और जापान में किया जाता है।

बारहवाँ अध्याय

बौद्ध-धर्म और आधुनिक संसार

सांस्कृतिक और राजनैतिक निष्कर्ष

आधुनिक संसार में बौद्ध-धर्म के सांस्कृतिक और राजनैतिक निष्कर्षों को समझने के लिये हमें पहले बौद्ध-धर्म की परिभाषा करनी होगी और संस्कृति और धर्म के साथ उसके सम्बन्ध के स्वरूप को समझना होगा। अपने पच्चीस सौ वर्ष के इतिहास में बौद्ध-धर्म ने जो सांस्कृतिक कार्य किये हैं और इस बीच उसका जो राजनैतिक स्थान और प्रभाव रहा है, उसकी झाँकी हमारे लिये पूर्व और पश्चिम में बौद्ध-धर्म के सांस्कृतिक निष्कर्षों को समझने में सहायक होगी।

बौद्ध-धर्म का स्वरूप

बौद्ध-धर्म, या ठीक कहें तो धर्म, निर्वाण का एक साधन है। यह बौद्ध-धर्म की सर्वश्रेष्ठ परिभाषा कही जा सकती है। स्वयं भगवान बुद्ध ने धर्म की उपमा बेड़े से दी है। जिस प्रकार बेड़ा पार होने के लिए है, पकड़ कर रखने के लिए नहीं, उसी प्रकार भगवान बुद्ध ने धर्म का उपदेश दिया है। वह संसार-सागर को पार करने के लिए है, पकड़ कर रखने के लिए नहीं। जिस प्रकार पार होने के बाद बेड़े की आवश्यकता नहीं रहती, उसे छोड़ देते हैं, उसी प्रकार धर्म की स्थिति है।[1] परन्तु जब तक हम समुद्र के इस पार हैं, या उसे तरने का प्रयत्न कर रहे हैं, धर्म रूपी बेड़े की हमें अनिवार्यतः आवश्यकता है और उसे हम किसी प्रकार छोड़ नहीं सकते।

बौद्ध-धर्म का स्वरूप व्यावहारिक है, इस बात पर ज़ोर हमें भगवान बुद्ध के उन शब्दों में मिलता है जो उन्होंने अपनी मौसी महाप्रजापती गौतमी से कहे थे। एक बार महाप्रजापती गौतमी ने भगवान से प्रार्थना की कि वह उन्हें ऐसा उपदेश दें जिसकी भावना करते हुए वह एकान्त में अप्रमाद-पूर्वक विचरण करें। भगवान

---

१. मज्झिम-निकाय, १,१३४।

ने उसे उत्तर दिया, "गौतमी। जिन धर्मों के बारे में तू निश्चयपूवक जान सके कि ये निष्कामता के लिए हैं, कामनाओं की वृद्धि के लिए नहीं, विराग के लिए हैं, राग के लिए नहीं, सांसारिक लाभों को घटाने के लिए हैं, बढ़ाने के लिए नहीं, निर्लोभ के लिए हैं, लोभ के लिए नहीं, सन्तोष के लिए हैं, असन्तोष के लिए नहीं, एकान्त के लिए हैं, भीड़ के लिए नहीं, उद्यम के लिए हैं, प्रमाद के लिए नहीं, अच्छाई में प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए हैं, बुराई में प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए नहीं, तो गौतमी! उन ऐसे धर्मों के विषय में तू निश्चयपूर्वक जानना कि यही धर्म है, यही विनय है, यही शास्ता का सन्देश है।"[1] यही कारण है कि महायानी लोग अशोक के साथ न केवल यह कह सके कि "जो कुछ भगवान बुद्ध ने कहा है, सब ठीक कहा है" बल्कि यह भी कि "जो कुछ भी ठीक कहा गया है, सब बुद्ध का वचन है।[2]

निर्वाण के साधन में तीन बातों के अभ्यास सम्मिलित हैं, शील, समाधि और प्रज्ञा। भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद जब एक तरुण ब्राह्मण ने उनके शिष्य आनन्द से पूछा कि उनके शास्ता किन बातों का उपदेश दिया करते थे, तो आनन्द ने उससे कहा कि भगवान शील, समाधि और प्रज्ञा का उपदेश दिया करते थे। इनमें से प्रत्येक की आनन्द ने उस तरुण ब्राह्मण के प्रति व्याख्या भी की। महा-परिनिब्बाण-सुत्त के अनुसार भगवान बुद्ध ने अपने महापरिनिर्वाण से पूर्व जो अन्तिम उपदेश विभिन्न स्थानों पर अपनी अन्तिम यात्रा के अवसर पर दिये, उनका सार साधना के ये तीन अंग, शील, समाधि और प्रज्ञा ही थे। शील से तात्पर्य गृहस्थ और प्रव्रजित सबके लिये पालनीय पंचशील तथा हीनयान और महायान के भिक्षुओं के लिये पालनीय क्रमशः २२७ या २५० विनय सम्बन्धी नियमों से है। समाधि में स्मृति-भावना, सन्तुष्टिता, पंच नीवरणों का त्याग और ध्यान की चार (या आठ) अवस्थाओं की प्राप्ति आदि सम्मिलित हैं। प्रज्ञा में साधारणतः बौद्ध धर्म के सब सिद्धान्तों का समावेश है, जैसे कि प्रतीत्यसमुत्पाद, त्रिलक्षण, चार आर्य सत्य, सर्वधर्म-नैरात्म्य, चित्त-मात्रता, त्रि-काय, आदि। निर्वाण-प्राप्ति के लिये साधक को क्रमशः तीन अवस्थाओं में होकर गुजरना पड़ता है। जब कि शील और समाधि सम्बन्धी अभ्यास अन्य धर्म-साधनाओं में भी पाये जाते हैं, प्रज्ञा सम्बन्धी सिद्धान्त बौद्ध-धर्म का अपना है।

---

१. विनय, २,१०।

२. अध्याशयसंचूडन-सूत्र, शान्तिदेव-कृत शिक्षा-समुच्चय; ससिल बैण्डल तथा डब्ल्यू० एच० डी० राउज, लन्दन, द्वारा अनुवादित, १९२२, पृष्ठ १७।

बौद्ध-धर्म और संस्कृति

संस्कृति के तीन कार्य हैं। पहला यह कि संस्कृति शिक्षा और अनुशासन के द्वारा मनुष्य के नैतिक, बौद्धिक और सौन्दर्य-बोध सम्बन्धी विकास को सम्पन्न करती है। दूसरा यह कि वह ललित-कलाओं, मानवीय शास्त्रों और विज्ञान के उदार पक्षों में अभिरुचि उत्पन्न करती है और इनके विकास में योग देती है। तीसरा संस्कृति का कार्य यह है कि इन सबके परिणाम-स्वरूप वह मानवीय स्वभाव का संस्कार करती है और उसे प्रकाश प्रदान करती है। इन तीनों अर्थों में बौद्ध-धर्म का संस्कृति से घनिष्ठ सम्बन्ध है। हम पहले देख चुके हैं कि बौद्ध-धर्म का अर्थ निर्वाण का साधन है, जिसमें शील, समाधि और प्रज्ञा सम्मिलित हैं। संस्कृति को हम इनमें से समाधि-भावना में समाविष्ट कर सकते हैं, क्योंकि समाधि-भावना के समान कला और विज्ञान भी मनुष्य की चेतना को शुद्ध कर उसे संस्कारी बनाने और एक उच्चतर स्तर पर उसे ले जाने वाले हैं। इस प्रकार संस्कृति निर्वाण का एक साधन बन जाती है। चूँकि विज्ञान की अपेक्षा ललित-कलाओं में मनुष्य के हृदय को स्पर्श करने और उसे प्रभावित करने की अधिक शक्ति होती है, इसलिए वे अपने भावुकतामय प्रभाव की अधिकता के कारण मनुष्य की चेतना को अधिक उच्च धरातल पर ले जा सकती हैं और उसका अधिक संस्कार और विशुद्धीकरण कर सकती हैं। यही कारण है कि गणित या रसायन-शास्त्र की अपेक्षा चित्र-कला, संगीत और कविता के साथ बौद्ध-धर्म का अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है।

कला के दो रूप हैं, धार्मिक और लौकिक। धार्मिक कला में अभिज्ञान-पूर्वक मनुष्य की चेतना को उच्चतर धरातल पर ले जाने का प्रयत्न किया जाता है। उदाहरणतः बुद्ध की मूर्ति को लीजिये। एक कला-कृति के रूप में इसकी केवल सौन्दर्य-बोध सम्बन्धी शक्ति के कारण मनुष्य का मन एक उच्चतर अवस्था में चला जाता है। जिस मूर्ति में यह कलात्मक सौन्दर्य न हो उससे यह काम नहीं हो सकता। जब साधक बुद्ध-मूर्ति की ओर अपने चित्त को स्थिर करता है तो स्वभावतः उसे अपनी चेतना को निर्मल और परिशुद्ध करने में सहायता मिलती है। बौद्ध कला में चित्र-कला, मूर्ति-कला, संगीत और कविता को एक आध्यात्मिक परम्परा में अन्तर्निबद्ध कर दिया गया है और इनका उपयोग न केवल धर्म-प्रचार के साधन के रूप में बल्कि ध्यान के आलम्बन के रूप में किया गया है। यही कारण है कि बौद्ध कला मनुष्य की चेतना को ऊपर उठाने वाला वह सबसे बड़ा उपाय है जिसका उद्भावन मनुष्य ने किया है। लौकिक कला का सम्बन्ध चूँकि धर्म से नहीं होता, इसलिये उसका प्रभाव चेतना को ऊँचा उठाने में इतना अधिक नहीं

होता। चूँकि उसकी दृढ़ बुनियाद नैतिक जीवन में नहीं होती, इसलिये उसका प्रभाव भी क्षणस्थायी होता है। कला ध्यान के अभ्यास में सहायक हो सकती है, परन्तु वह उसके स्थान को नहीं ले सकती। इसी प्रकार कला धर्म के स्थान को भी नहीं ले सकती। निर्वाण के साधन के रूप में धर्म के, जैसे हम पहले देख चुके हैं, तीन अंग हैं, शील, समाधि और प्रज्ञा। कला ध्यान को प्रेरणा दे सकती है, परन्तु वह प्रज्ञा को उत्पन्न नहीं कर सकती। समाधि और प्रज्ञा में यह अन्तर है कि समाधि चाहे जितनी ऊँची चली जाय, परन्तु फिर भी वह लौकिक रहती है, जब कि प्रज्ञा लोकोत्तर है। इसलिए धर्म, जिसमें केवल नीति (शील) और ध्यान (समाधि) ही नहीं, बल्कि प्रज्ञा भी सम्मिलित हैं, कला को अपने अन्दर समाये हुए ही नहीं, बल्कि उससे अतीत भी है।

बौद्ध-धर्म का सम्बन्ध परम्परागत रूप से केवल धार्मिक कला से ही नहीं, बल्कि लौकिक कला से भी रहा है। इसका अर्थ यह है कि कला का ध्यान के लिए उपयोग करने के अलावा उसने सुन्दर वस्तुओं की शुद्धताकारी और संस्कारमयी शक्ति को भी स्वीकार किया है और स्वतन्त्र रूप से कलाओं के विकास को प्रोत्साहन दिया है। यही कारण है कि हमें बौद्ध-कला की परम्परा में केवल बुद्ध और बोधि-सत्वों की ही मूर्तियाँ नहीं मिलतीं, बल्कि यक्ष, यक्षिणी और अप्सराओं की भी, जिनका बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों से कोई सम्बन्ध नहीं है। एक ओर अश्वघोष ने यदि बुद्ध के चरित को एक महा-काव्य के रूप में प्रस्तुत किया है तो दूसरी ओर वैंग-वी ने पर्वतों, कुहासों और निर्झरिणियों के गीत गाये हैं। महायान ने, बोधि-प्राप्ति के पूरक साधनों के रूप में, धर्म के साथ अधिक से अधिक कलाओं और विज्ञानों का एकीकरण किया है। वस्तुतः हीनयान और महायान दोनों ने ही प्रभूत मात्रा में लौकिक और धार्मिक कला को जन्म दिया है।

बौद्ध-धर्म और राजनीति

बौद्ध-धर्म का राजनीति के साथ सम्बन्ध उतना सरल नहीं है जितना संस्कृति के साथ। इसका कारण यह है कि संस्कृति का सम्बन्ध वर्ग से न होकर व्यक्ति से है, इसलिए व्यक्तिगत धर्म के रूप में उसका सम्बन्ध बौद्ध-धर्म से आसानी से दिखाया जा सकता है। एक संस्था के रूप में व्यवस्थाबद्ध बौद्ध-धर्म से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु राजनीति का सम्बन्ध बौद्ध-धर्म के व्यक्तिगत और संस्थाबद्ध दोनों रूपों से है। फिर बौद्ध-धर्म के संस्थाबद्ध रूप के भी दो अंग हैं, भिक्षु-संघ और उपासक-संघ। 'राजनीति' शब्द का प्रयोग भी अनेक अर्थों में किया जाता है। बौद्ध-धर्म के व्यक्तिगत और संस्थाबद्ध दोनों रूपों के साथ राजनीति के सम्बन्ध को प्रदर्शित

करने के लिए हमें इन बातों पर विचार करना आवश्यक होगा, (अ) बौद्ध-धर्म और राजनैतिक सिद्धान्तों का सम्बन्ध, (आ) बौद्ध-धर्म और राज्य, (इ) उपासक-संघ और सरकार, (ई) भिक्षु-संघ और सरकार, (उ) भिक्षु का व्यक्तिगत रूप से सरकार से सम्बन्ध, (ऊ) उपासक और क्रियात्मक राजनीति, तथा (ए) भिक्षु और क्रियात्मक राजनीति।

जहाँ तक हम जानते हैं भगवान बुद्ध ने धर्म-विनय के प्रश्नों तक अपने को सीमित रखा और विभिन्न राजनैतिक सिद्धान्तों की अच्छाइयों या बुराइयों के सम्बन्ध में उन्होंने कुछ नहीं कहा है। भगवान बुद्ध के जीवन-काल में, जैसा इतिहासकारों को सुविदित है, दो प्रकार की शासन-प्रणालियाँ उत्तर-पूर्वी भारत में प्रचलित थीं, राज-तन्त्रात्मक और गणतन्त्रामक। भगवान बुद्ध ने इनमें से किसी की प्रशंसा या निन्दा में कुछ नहीं कहा है। उनका यह कहना कि जब तक वज्जी गणतन्त्र के लोग निरन्तर बड़ी संख्या में इकट्ठे होकर सभाएँ करते रहेंगे तब तक उनकी वृद्धि ही होगी, हानि नहीं, गणतन्त्र प्रणाली के पक्ष में उनका समर्थन इसी प्रकार नहीं माना जा सकता, जिस प्रकार यदि वे यह कह देते कि अजातशत्रु अपनी चालाकी से वज्जी गणतन्त्र को फोड़ सकता है तो उनका यह कथन निरंकुशता का अनुमति-सूचक नहीं माना जा सकता था। भगवान बुद्ध ने केवल परिस्थिति के तथ्यों का कथनमात्र किया। उन्होंने कोई नैतिक निर्णय नहीं दिया। परन्तु एक बात पर भगवान बुद्ध और उनके बाद सम्पूर्ण बौद्ध परम्परा बिल्कुल स्पष्ट है। वह यह कि सरकार का यह कर्त्तव्य है कि वह नैतिक और आध्यात्मिक कानून को बढ़ावा दे। चूँकि बौद्ध-धर्म निर्वाण का एक साधन मात्र है, इसलिए उसकी यह स्वाभाविक माँग है कि राज्य यह स्वीकार करे कि जीवन का सच्चा उद्देश्य केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति मात्र न होकर निर्वाण-प्राप्ति है, जिसके लिए उसका कर्त्तव्य है कि अपने नागरिकों के लिए ऐसी राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्था करे जिसमें रह कर गृहस्थ और प्रव्रजित सब धर्म के अनुसार अपना जीवन-यापन कर सकें। इस प्रकार बौद्ध-धर्म का उस किसी राज-नैतिक वाद से कोई भेद नहीं हो सकता जो अन्तर्हित या प्रकट रूप से नैतिक और आध्यात्मिक नियम की श्रेष्ठता स्वीकार करता है और उसके व्यक्तिगत और संघबद्ध रूप से प्रयोग के लिए साधन जुटाता है। बौद्ध-धर्म को न तो समाजवादी और न पूँजीवादी राज्य में कोई आपत्ति है, शर्त यही है कि वह अपनी जनता के न केवल भौतिक बल्कि नैतिक और आध्यात्मिक सुख-विधान के भी साधन जुटाये।

(आ) बौद्ध-धर्म और राज्य के सम्बन्ध का स्वरूप इस बात पर निर्भर करेगा कि राज्य का स्वरूप क्या है और उसमें रहने वाली बौद्ध जनता की संख्या क्या

है। यदि किसी राज्य में अ-बौद्ध लोगों की संख्या अधिक है, तो बौद्ध-धर्म आशा करेगा कि उसके अनुयायियों को वही अधिकार प्राप्त हों जो अन्य अल्पसंख्यक धर्मावलम्बियों को। इसका अर्थ यह है कि अपने सिद्धान्तों के अनुसार जीवन-यापन करने की और उनका प्रचार करने की पूर्ण स्वतन्त्रता उसे होनी चाहिए। चाहे उन्हें सहन कर लिया जाए या चाहे उन पर अत्याचार हों, बौद्ध नागरिक सदा उस राज्य के प्रति स्वामिभक्त रहेंगे जिसमें वे रह रहे हैं। जिस राज्य की अधिकांश जनता बौद्ध है, वहाँ बौद्ध-धर्म स्वाभाविक तौर पर राज-धर्म की स्थिति प्राप्त करना चाहेगा। इसमें कोई कठिनाई नहीं होगी। बौद्ध सम्प्रदाय एक-दूसरे के प्रति ही नहीं, बल्कि अ-बौद्ध परम्पराओं के प्रति भी सहनशील और उदार दृष्टि रखने वाले हैं।

(इ) व्यक्तिगत रूप से बौद्ध नागरिक और सरकार के सम्बन्ध के विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि बौद्ध-धर्म अपने अनुयायियों के लौकिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करता। वह केवल सत्य का उपदेश देता है, उसका आदेश नहीं। बौद्ध-धर्म सत्य के सिद्धान्तों को सिखाता है और उनके प्रयोग के स्वरूप को भी, परन्तु विस्तार की बातें वह व्यक्ति पर ही छोड़ देता है, जिनका निर्णय उसे स्वयं अपने विवेक के अनुसार करना चाहिये। एक बौद्ध नागरिक से यह आशा की जाती है कि वह अपने साथी दूसरे नागरिकों के भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक कल्याण में क्रियात्मक रुचि ले और अपने सामाजिक और राजनीतिक जीवन को धर्म के अनुसार बिताने का प्रयत्न करे।

(ई) एक बौद्ध देश में भिक्षु-संघ और सरकार का वही सम्बन्ध है जो व्यक्तिगत जीवन में एक भिक्षु का उपासक (गृहस्थ-शिष्य) से होता है। इसका अर्थ यह है कि सरकार को संघ-दायक होना चाहिए, उसे संघ की रक्षा और सहायता करनी चाहिए। जिस प्रकार एक श्रद्धालु उपासक विहार और चैत्य बनवाता है, धार्मिक ग्रन्थों का प्रकाशन करवाता है और अन्य पुण्य के कार्य करता है, उसी प्रकार इन कामों को एक बड़े पैमाने पर एक बौद्ध राज्य की सरकार को करना चाहिए। दूसरी ओर जिस प्रकार एक भिक्षु उपासक को सद्धर्म का उपदेश करता है, सत्य का मार्ग दिखाता है, उसी प्रकार संघ का यह कर्त्तव्य है कि वह सरकार को न केवल धर्म-प्रचार के सम्बन्ध में मार्ग दिखाये, बल्कि राष्ट्र के सामाजिक और राजनीतिक जीवन में धर्म के प्रयोग के सम्बन्ध में भी उसे परामर्श दे। जहाँ कहीं वह यह देखे कि राष्ट्र, सरकार, जनता या राजनीतिक नेता धर्म के मार्ग से च्युत हो रहे हैं, तो उसे उनकी समालोचना भी करनी चाहिए। इस प्रकार की समालोचना को देख कर हमें यह न समझ लेना चाहिए कि भिक्षु राजनीति में पड़ रहे हैं। जब

तक धर्म का प्रयोग राष्ट्रीय जीवन में नहीं होता, पारिवारिक जीवन पर भी उसका अधिकार धीरे-धीरे कम होता चला जायगा। चूँकि धर्म की रक्षा संघ का कर्त्तव्य है, इसलिए उसका यह भी कर्त्तव्य है कि वह राजनीति या जीवन के अन्य किसी क्षेत्र में उसके प्रयोग की ओर भी देखे। व्यावहारिक राजनीति में पड़ने का तो संघ के लिए कोई प्रश्न ही नहीं उठता। संघ का सत्परामर्श तो अन्दर और बाहर केवल शान्ति और सद्भावना की वृद्धि के लिए ही होगा और उसका केवल एक ही सन्देश होगा "इस संसार में वैर की शान्ति कभी वैर से नहीं होती, बल्कि प्रेम से होती है। यही सनातन धम है।"[1]

(उ) संघ के द्वारा या संघ की अनुमति के बिना भिक्षु का व्यक्तिगत रूप से सरकार से कोई सम्बन्ध नहीं होता। वह किसी राजकीय पद को स्वीकार नहीं कर सकता और न उसके लिए पारिश्रमिक ले सकता है। जहाँ धार्मिक मामलों के अलग मन्त्रालय हों या धर्म के सम्बन्ध में परामर्शदात्री समितियाँ हों, वहाँ इस नियम में अपवाद हो सकते हैं, जैसे कि स्याम में। किसी प्रकार की राष्ट्रीय सेवा भिक्षु से नहीं ली जा सकती और न उसकी अनिवार्य भर्ती राज्य के किसी काम के लिए की जा सकती है।

(ऊ) बौद्ध गृहस्थों का सम्बन्ध चूँकि सरकार से होता है, इसलिए उन्हें क्रियात्मक राजनीति में भाग लेना ही पड़ेगा, फिर भी उनसे यह आशा की जाती है कि वे धर्म के अनुसार आचरण करेंगे।

(ए) भिक्षु अपनी उपसम्पदा के समय जिन नियमों को ग्रहण करता है और जिनके पालन के लिए वह प्रतिज्ञाबद्ध है, उनके अनुसार उसे क्रियात्मक राज-नीति से सर्वथा अलग ही रहना चाहिए। "सांसारिक लाभ का मार्ग दूसरा है और निर्वाणगामी मार्ग बिल्कुल दूसरा है। इस प्रकार इसे जानकर बुद्ध का अनुगामी भिक्षु सम्मान की कामना न करे, बल्कि उसे चाहिए कि विवेक की वृद्धि करे।"[2] इस उपदेश के अनुकूल आचरण करने के लिए यह आवश्यक है कि भिक्षु न किसी राजनैतिक संगठन में सम्मिलित हो, न उसकी सहायता करे और न उसे मत (वोट) ही प्रदान करे। राजनैतिक या अर्द्ध-राजनैतिक स्वरूप की सभाओं या सार्वजनिक जलसों में भी उसे भाग नहीं लेना चाहिए। संघ के जो सदस्य यह अनुभव करते हैं, जैसा कि हाल में बर्मा और सिंहल में कुछ ने किया है, कि नागरिक के रूप में

१. धम्मपद, ५।

२. धम्मपद, ७५।

उनके कर्त्तव्य भिक्षु के रूप में उनके कर्त्तव्यों से अधिक अधिकार उन पर रखते हैं, तो उनके लिए एक मात्र सम्माननीय रास्ता यही है कि वे संघ को छोड़ दें। निर्वाण और चुनाव दोनों साथ-साथ नहीं जीते जा सकते।

बौद्ध-धर्म की सांस्कृतिक और राजनैतिक विरासत

चूँकि इन पृष्ठों में जो कुछ भी विषय-वस्तु विवेचित की गई है, वह सब किसी न किसी प्रकार बौद्ध-धर्म की विरासत ही है, अतः यहाँ केवल उसके कुछ आधारभूत उद्देश्यों का ही निर्देश किया जा सकता है, जैसे कि (अ) संस्कृति, सभ्यता और शिक्षा तथा (आ) युद्ध और शान्ति।

संस्कृति, विशेषतः ललित-कलाएँ, जैसा हम पहले देख चुके हैं, समाधि या ध्यान के अन्तर्गत रखी जा सकती हैं और इस प्रकार वे भी निर्वाण के साधनों में अन्तर्भूत हैं। संस्कृति बौद्ध-धर्म का एक अंग है। यह उसके वस्त्र का अलंकार नहीं, बल्कि उसके शरीर का एक अंग है। जहाँ बौद्ध-धर्म जाता है, वहाँ संस्कृति भी जाती है। बौद्ध-धर्म के एशिया व्यापी प्रसार की यह एक स्पष्ट शिक्षा है और इसकी पुनरुक्ति यहाँ इसीलिए की गई है कि सामान्यवः आधुनिक संसार और विशेषतः आधुनिक भारत में इसकी अर्थवत्ता पूरी तरह समझी नहीं जाती। सिंहल, बर्मा, स्याम, कम्बोडिया, लाओस, जापान, तिब्बत, मंगोलिया, नेपाल, सिक्किम, भूटान और लद्दाख ने बौद्ध-धर्म को प्राप्त करते समय केवल अपने धर्म को ही प्राप्त नहीं किया, बल्कि व्यावहारिक रूप में अपनी सम्पूर्ण सभ्यता और संस्कृति को भी। जापान के लोगों के लिए उनके देश में बौद्ध-धर्म के आगमन का क्या प्रभूत महत्त्व था, इसे डा० डी० टी० सुजुकी ने स्पष्टतः दिखाया है। नारा-युग में जिस उत्साह के साथ जापानी लोगों ने बौद्ध-धर्म का अनुशीलन शुरू किया, उसके सम्बन्ध में डा० सुजुकी ने लिखा है, "बौद्ध-धर्म उनके लिए एक नया दर्शन था, एक नई संस्कृति थी और थी कलात्मक प्रेरणाओं को देने वाली एक कभी समाप्त न होने वाली खान।"[1] इसी युग के सम्बन्ध में सुजुकी ने हमें बताया है कि जीवन के सभी क्षेत्रों में बौद्ध भिक्षु नेता माने जाते थे। वे शिक्षक, चिकित्सक, इंजीनियर, कवि, चित्रकार, मूर्तिकार सभी कुछ थे। उनकी सेवाओं से प्रभावित होकर ही उस समय की सरकार ने अनेक विहारों और मन्दिरों को बनवाया, भिक्षुओं और भिक्षुणियों को संरक्षण दिया और वैरोचन बुद्ध की एक विशाल प्रतिमा का

---

१. "जेपेनीज बुद्धिज़्म", एस्सेज़ इन ज़ेन बुद्धिज़्म (थर्ड सीरीज), राइडर, लन्दन, १९५३, पृष्ठ ३४०।

निर्माण किया। यह बात जापान के बारे में ही नहीं, जिन देशों का हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं, उनके विषय में भी सच है। यह बात आकस्मिक नहीं है कि मिलरेपा तिब्बत के एक महान कवि होने के साथ-साथ उसके प्रसिद्धतम बौद्ध योगी भी हैं और इसी प्रकार सिरि राहुल, जिनका सिंहली साहित्य में वैसा ही उच्च स्थान है, वे सिंहल के संघराज भी थे। एशिया के सम्पूर्ण राष्ट्रों में चीन ही एक ऐसा राष्ट्र है जिसके पास बौद्ध-धर्म के प्रवेश के पूर्व भी अपनी एक विकसित सभ्यता और संस्कृति थी, अतः अपनी संस्कृति के आरम्भ के लिए तो नहीं, परन्तु उसके कम से कम फूलने-फलने के लिए चीन भी बौद्ध-धर्म का ऋणी है। बौद्ध-धर्म वस्तुतः वसन्त के उस मलयानिल के समान था जिसने एशिया के उपवन को एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक अपनी संस्कृति के झोंकों से सुरभित और पुष्पित कर दिया। एशिया की संस्कृति अपने समग्र रूप में बौद्ध संस्कृति ही है। सुजुकी ने सार्थकता-पूर्वक कहा है, "यदि पूर्व एक है, और ऐसी कुछ वस्तु है जो उसे पश्चिम से अलग करती है, तो इस अलग करने वाली वस्तु की खोज हमें उस विचार में करनी चाहिए जो बौद्ध-धर्म में मूर्तिमान हो रहा है। बौद्ध विचार ही एक ऐसा है, अन्य कोई नहीं, जिसमें पूर्व के प्रतिनिधि-स्वरूप भारत, चीन और जापान, एक होकर मिल सकते हैं। विचार को अपने वातावरण की आवश्यकताओं के अनुकूल बनाने के प्रत्येक राष्ट्र के अपने-अपने स्वाभावगत ढंग हैं, परन्तु जब पूर्व एक इकाई के रूप में पश्चिम के आमने-सामने आता है, तो बौद्ध-धर्म ही मिलाने वाली वस्तु का काम देता है।" एशिया में बौद्ध-धर्म के इतिहास की यदि आज के संसार के लिए कोई शिक्षा है तो यही कि भारत, सिंहल, मध्य-एशिया और जापान में बौद्ध-धर्म, संस्कृति, सभ्यता और शिक्षा सदा अभिन्न मित्र और साथी रहे हैं।

बौद्ध-धर्म का शान्ति से अनिवार्य सम्बन्ध भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। बौद्ध-धर्म के गत पच्चीस सौ वर्ष के इतिहास में, जबकि यह सम्पूर्ण पृथ्वी के चतुर्थ भाग से अधिक प्रदेश में फैल गया, काफी श्रमसाध्य गवेषणा करने पर भी स्थानीय और अत्यन्त अल्प महत्त्व के कुछ एक उदाहरण ही मिल सकेंगे जब बल का प्रयोग किया गया हो। बौद्ध-धर्म के इतिहास का एक भी पृष्ठ ऐसा नहीं है जो रक्त-रंजित हो। बोधिसत्व मंजुश्री के समान बौद्ध-धर्म के पास केवल एक ही तलवार है—प्रज्ञा की तलवार—और उसका केवल एक ही शत्रु है—अज्ञान। यह इतिहास का साक्ष्य है, जिसका विरोध नहीं किया जा सकता। बौद्ध-धर्म और शान्ति का सम्बन्ध कारण-कार्य का सम्बन्ध है। बौद्ध-धर्म के प्रवेश से पूर्व

तिब्बत एशिया का सबसे बलवान सैनिक देश था। बर्मा, स्याम और कम्बोडिया का पूर्वकालीन इतिहास बतलाता है कि यहाँ के निवासी अत्यन्त युद्ध-प्रिय और हिंस्र स्वभाव के थे। मंगोल लोगों ने एक बार सम्पूर्ण मध्य-एशिया को ही नहीं, भारत, चीन, ईरान और अफगानिस्तान को भी रौंद डाला था और यूरोप के दरवाज़ों पर भी वे जा गरजे थे। जापान की सैनिक भावना को बौद्ध-धर्म की पन्द्रह शताब्दियाँ भी अभी पूरी तरह परास्त नहीं कर सकी हैं। सम्भवतः भारत और चीन के अपवादों को छोड़ कर एशिया के प्रायः अन्य सब राष्ट्रों के लोग मूलतः हिंसाप्रिय थे। बाद में उनमें जो शान्तिप्रियता आई वह बौद्ध-धर्म के शान्तिवादी उपदेशों के प्रभाव स्वरूप ही थी। इस प्रकार बौद्ध-धर्म और शान्ति का सम्बन्ध आकस्मिक न होकर अनिवार्य है। विश्व-शान्ति की स्थापना में बौद्ध-धर्म अतीत में एक योगदान देने वाला साधन रहा है, इस समय है और आगे भी रहेगा।

आज के युग में बौद्ध-धर्म और संस्कृति

करीब चार-पाँच शताब्दियों के अवरोध के बाद आज एशिया के अनेक देशों में बौद्ध-धर्म का पुनरावर्तन हो रहा है। जापान में यह पुनरावर्तन सन् १८६८ प्रारम्भ हुआ। इसके कुछ वर्ष बाद सिंहल में बौद्ध-धर्म ने अपना सिर उठाया और मेगेतुवत्ते गुणानन्द, एच० सुमंगल और कर्नल एच० एस० ओलकॉट के कार्यों ने राष्ट्रीय धर्म को आगे बढ़ाया। भारत में बौद्ध-धर्म का पुनरुत्थान एक व्यवस्थित आन्दोलन के रूप में सन् १८९१ में शुरू हुआ, जब अनागरिक धर्मपाल ने महा-बोधि सभा की स्थापना की। चीन में बौद्ध-धर्म का जागरण चीनी भिक्षु ताई-शू के प्रयत्नों के परिणाम-स्वरूप हुआ। बर्मा में बौद्ध-धर्म के पुनरुत्थान का कार्य महान विद्वान और सन्त लेदि सयदाव ने आरम्भ किया। एशिया के देशों में बौद्ध-धर्म का यह पुनरुत्थान संस्कृति के ऐसे बीजों का वपन कर रहा है जो आगे चलकर फलेंगे-फूलेंगे। इसके कुछ लक्षण अंकुरों के रूप में अभी से प्रकट हो रहे हैं। भारत और एशिया के कई अन्य देशों में बौद्ध-धर्म ने संस्कृति को जो प्रेरणा दी है, उसका कुछ उल्लेख यहाँ कर देना आवश्यक होगा। इसी प्रकार पूर्व से बौद्ध-धर्म अब पश्चिम में भी फैलने लगा है, इसलिए विश्व के इस भाग के लिए बौद्ध-धर्म का क्या सांस्कृतिक महत्त्व है, इसका भी कुछ निर्देश कर देना यहाँ आवश्यक होगा।

एशिया के सम्पूर्ण देशों में सिंहल और बर्मा ऐसे देश हैं जहाँ बौद्ध-धर्म का पुनरुत्थान सबसे अधिक दृष्टिगोचर हो रहा है। यह देखते हुए कि श्रीलंका एक

छोटा-सा द्वीप है जिसके बौद्ध निवासियों की संख्या केवल ५० लाख से कुछ अधिक है, उसने जो कार्य बौद्ध-धर्म के पुनरुत्थान की दिशा में किया है, महान है। महाबोधि सभा और विश्व-बौद्ध-सम्मेलन (वर्ल्ड फैलोशिप ऑफ बुद्धिस्ट्स) जैसे दो अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को जन्म देने का श्रेय सिंहल को है। उसने अनेक धर्म-दूतों को धर्म-प्रचारार्थ बाहर भेजा है और इस दिशा में उसका काम सम्भवतः केवल जापान के बाद है। संस्कृति के लिए उसके योगदान भी महत्त्वपूर्ण हैं। कुमारस्वामी मललसेकर और बुद्धदत्त जैसे विद्वान, मंजुश्री थेर और जार्ज क्येट जैसे चित्रकार और श्री निस्संक, धनपाल और तम्बिमुत्तु जैसे लेखक और कवि सिंहल के बाहर भी प्रसिद्ध और सम्मानित हैं। सिंहल भाषा की निरन्तर प्रगति और समृद्धि हो रही है। बर्मा में स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद तीव्र गति से बौद्ध-धर्म का पुनरुत्थान हो रहा है और बर्मी बौद्ध संस्कृति नया जीवन प्राप्त कर रही है। स्याम, कम्बोडिया और लाओस में पहले से ही बौद्ध-धर्म जीवित रूप में विद्यमान है और उसके विकास में जो धीमापन आ गया था वह अब हट रहा है। वर्त्तमान शताब्दी में सम्पूर्ण पालि त्रिपिटक का स्यामी लिपि में ४५ जिल्दों में प्रकाशित होना एक महान कार्य है। अभी तक पालि त्रिपिटक का यही एक मात्र परिपूर्ण संस्करण है जो एशिया में मुद्रित हुआ है। जापान में आधुनिक औद्योगिक सभ्यता का प्रभाव एशिया के सब देशों से अधिक पड़ा है। आधुनिक जीवन के विदेशी और विरोधी वातावरण में बौद्ध संस्कृति को संरक्षित रखना आज जापान की सबसे बड़ी समस्या है, जिसके समाधान में उसे काफी सफलता मिल रही है। प्रसिद्ध जापानी विद्वान डा० डी० टी० सुजुकी अपने लेखों और भाषणों से यूरोप और अमेरिका के विचार और संस्कृति को गहरे रूप से प्रभावित कर रहे हैं। चीन, तिब्बत, नैपाल और बौद्ध जगत के अन्य भागों में राजनीति ने अस्थायी तौर पर अधिक महत्त्व प्राप्त कर लिया है। फिर भी चीन के जन गण-राज्य ने हाल में बर्मा को भगवान बुद्ध की धातुओं के कुछ अंश और चीनी त्रिपिटक आदि की जो भेंटें भेजी हैं, वे महत्त्व से खाली नहीं हैं।[1]

बौद्ध-धर्म का पुनर्जीवन भारत में सामान्यतः साठ वर्षों से और विशेषतः पिछले दस वर्षों से हो रहा है, जिसे धर्मों के इतिहास की एक विशेष महत्त्वपूर्ण और विस्मयकारी घटना माना जा सकता है। एक धर्म जो शताब्दियों पूर्व लुप्त हो गया हो फिर जनता की इच्छा से इस प्रकार पुनर्जीवित हो, इसकी मिसाल विश्व

---

१. देखिए संगायन बुलेटिन, रंगून, अप्रैल १९५५, पृष्ठ २।

के इतिहास में मिलनी मुश्किल है। आज से सौ वर्ष पूर्व बौद्ध-धर्म की इस जन्म-भूमि में उसके नाम को भी कोई नहीं जानता था। परन्तु आज यह घर-घर का शब्द है। भारत के राष्ट्रपति की कुर्सी के ऊपर लोक-सभा में 'धर्मचक्र-प्रवर्तनाय' लिखा हुआ है, जो हमें भगवान बुद्ध की ही नहीं, अशोक के धर्म-विजय की भी याद दिलाता है। इसी प्रकार अशोक-स्तम्भ के शीर्ष-भाग पर अंकित सिंह जो विश्व की चारों दिशाओं में निर्भयतापूर्वक धर्म की घोषणा करते हैं, भारतीय गणराज की मुद्रा के रूप में स्वीकार किये गए हैं।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि बौद्ध-धर्म का पुनरुत्थान भारत में सांस्कृतिक नवजागृति के साथ अनिवार्य रूप से सम्बद्ध है। भारत ने बौद्ध-धर्म को सम्यक् रूप से समझने के लिए पालि, संस्कृत, तिब्बती और चीनी भाषाओं के महत्त्व को स्वीकार किया है। आधुनिक भारतीय भाषाओं के अनेक लेखकों ने अपनी-अपनी भाषा में बौद्ध-धर्म के ग्रन्थों के अनुवाद किए हैं और कुछ ने बौद्ध विषयों से प्रेरणा लेकर स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के "नटीर पूजा" और "अभिसार" तो प्रसिद्ध हैं ही, हिन्दी के प्रसिद्ध कहानी-लेखक यशपाल पर भी बौद्ध प्रभाव पड़ा है और गुरुबख्शसिंह द्वारा सर एडविन आरनोल्ड-कृत "दि लाइट ऑफ़ एशिया" का "एशिया दा छानण" शीर्षक से आधुनिक पंजाबी भाषा में अनुवाद भी एक उल्लेखनीय रचना है। मलयालम के कवि कुमारन असन का भी इसी प्रकार एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। धर्मानन्द कोसम्बी ने मराठी भाषा में कई सुन्दर पुस्तकें बौद्ध विषयों पर लिखी हैं। हिन्दी में महापण्डित राहुल सांकृत्यायन और भदन्त आनन्द कौसल्यायन के ग्रन्थ साहित्य के लिए असाधारण महत्त्व के योग-दान हैं।

चित्र-कला के क्षेत्र में अवनीन्द्रनाथ ठाकुर और नन्दलाल बोस ने न केवल बुद्ध के जीवन से बल्कि बौद्ध इतिहास से भी अनेक विषयों को लिया है। अन्य कई चित्रकारों की कला-कृतियों में भी बौद्ध प्रभाव परिलक्षित होता है।

पश्चिम के देशों में भी वर्तमान युग में बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ है। भारत के समान यूरोप और अमेरिका में भी बौद्ध-धर्म के पुनरुत्थान के परिणाम-स्वरूप साहित्य और दृश्य कलाओं पर उसका प्रभाव पड़ा है और संस्कृति को नव-जीवन मिला है। करीब सौ वर्ष पूर्व पूर्वी धर्म और संस्कृति, विशेषतः बौद्ध-धर्म के अध्ययन में पश्चिमी विद्वानों को गहरी अभिरुचि उत्पन्न हुई। यह रुचि केवल विद्या-प्रेम के कारण थी और बिल्कुल स्वाभाविक थी। संस्कृत, पालि, तिब्बती और चीनी भाषाओं का अध्ययन यूरोपीय विश्वविद्यालयों में होने लगा जिसके

परिणाम-स्वरूप अनेक बौद्ध ग्रन्थों का प्रकाशन और अनुवाद हुआ। यद्यपि बौद्ध अध्ययन का आरम्भ पश्चिम में कोसमा डे कोरोस (१७८४—१८४१ ई०) ने किया, परन्तु इस अध्ययन को वैज्ञानिक आधार प्रदान करने वाले प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान यूजीन बरनोफ ही थे। इसके बाद कई प्रसिद्ध विद्वान हुए, जिनमें मैक्समूलर और टी० डब्ल्यू रायिस डेविड्स के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मैक्समूलर ने "सेक्रेड बुक्स ऑफ़ दि ईस्ट" तथा "सेक्रेड बुक्स ऑफ दि बुद्धिस्ट्स" नामक दो ग्रन्थ-मालाओं का सम्पादन करने के अतिरिक्त स्वयं अनेक बौद्ध ग्रन्थों के सम्पादन और अनुवाद किए। टी० डब्ल्यू० रायिस डेविड्स ने इसी प्रकार अनेक बौद्ध ग्रन्थों के सम्पादन और अनुवाद करने के अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से बौद्ध-धर्म पर कई ग्रन्थ लिखे जो अब भी महत्त्वपूर्ण और प्रामाणिक माने जाते हैं। उन्होंने "पालि टैक्स्ट सोसायटी" की स्थापना की जिसने अब तक बौद्ध-धर्म सम्बन्धी ग्रन्थों की सौ से अधिक जिल्दें सम्पादित और अनुवादित की हैं। इन विद्वानों के बाद कुछ ऐसे लेखक हुए जिन्होंने बौद्ध-धर्म को लोकप्रिय बनाने में योग दिया। सर एडविन आर्नोल्ड की "दि लाइट ऑफ़ एशिया" (१८७९) बौद्ध-धर्म की सबसे अधिक लोकप्रिय अंग्रेजी रचना है। इसी प्रकार पॉल केरुस की कहानियाँ तथा अन्य रचनाएँ इस युग की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में बौद्ध-धर्म न केवल भाषा-विज्ञान-वेत्ताओं और इतिहासकारों के ही बल्कि ऐसे लोगों के भी आकर्षण का विषय बन गया जो ईसाई धर्म से सन्तोष न पाकर किसी अन्य धर्म-साधना या जीवन-विधि की खोज में थे। शॉपनेर ने उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में ही अपने को बौद्ध घोषित कर दिया था। इस शताब्दी के अन्त में थियोसोफीकल सोसायटी ने, विशेषतः अपने संस्थापकों के समय में, बौद्ध-धर्म के प्रचार में योग दिया। इस समय इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ्रॉंस और संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में बौद्ध-धर्म की जड़ें जम चुकी हैं। यद्यपि बौद्ध-धर्म के अनुयायियों की संख्या यहाँ कम है, उनका प्रभाव निरन्तर बढ़ रहा है। प्रति वर्ष अधिकाधिक संख्या में बौद्ध-धर्म पर पुस्तकें निकल रही हैं। हीन के बाद सबसे बड़े जर्मन कवि रेनर मेरिया रिल्के ने बुद्ध पर एक सुन्दर कविता लिखी है। इसी प्रकार इंग्लैण्ड के राज कवि जोह्न मेसफील्ड, टी० एस० इलियट, एडिथ सिटवैल तथा डब्ल्यू० बी० यीट्स की कविताओं में यत्र-तत्र बौद्ध प्रसंगों की ओर निर्देश मिलता है। आर्थर वेले द्वारा चीनी भाषा से अनुवादित कविताएँ बौद्ध भावनाओं से स्पन्दित हैं और आधुनिक काव्य-संग्रहों में इनमें से कई एक को स्थान पाने का गौरव भी मिल चुका है। एल्डस हक्सले, बरट्रैण्ड रसल और कार्ल गस्टव जुंग के लेखों में बौद्ध-धर्म की ओर प्रशंसापूर्ण निर्देश मिलते

हैं। जुंग की बौद्ध-धर्म में अभिरुचि सर्व-विदित है और बरट्रैण्ड रसल ने तो यहाँ तक घोषणा की है यदि उन्हें किसी धर्म को स्वीकार करने के लिए विवश किया जाए तो जिस धर्म को वे स्वीकार करेंगे, वह बौद्ध-धर्म ही होगा। ऊपर जिन लेखकों का नाम निर्देश किया गया है उनमें से बौद्ध कोई नहीं हैं। किसी बौद्ध लेखक का अभी आविर्भाव होना बाकी है जो आधुनिक यूरोपियन और अमेरिकन साहित्य में अपना नाम पैदा कर सके। पश्चिम में बौद्ध आन्दोलन ने कुछ असाधारण प्रतिभा के कलाकारों को जन्म दिया है, जिनमें रोरिक, लामा ए० गोविन्द और अर्ल एच० ब्यूस्टर के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। इन सबने बौद्ध विषयों को अपनी चित्र-कला में प्रदर्शित किया है।

आज के युग में बौद्ध-धर्म और राजनीति

बौम-धर्म का राजनैतिक महत्त्व उसके सांस्कृतिक महत्त्व की तरह व्यापक न होकर केवल एशिया तक सीमित है। इसका कारण यह है कि संस्कृति के विपरीत राजनीति में संख्या का महत्त्व है और बौद्ध-धर्म के अनुयायियों की संख्या एशिया में ही लाखों में है। बौद्ध-धर्म का राजनैतिक महत्त्व सबसे अधिक उसके शान्ति सम्बन्धी निष्कर्ष में है। शान्ति का तात्पर्य केवल अस्थिर राजनीति का सन्तुलन ही नहीं है, वह एक मानसिक अवस्था है जो वैर की भावनाओं से रहित और उस निर्वैयक्तिक और सार्वजनीन प्रेम से परिपूर्ण है जिसे बौद्ध परिभाषा में 'मैत्री' कहते हैं। बौद्ध-धर्म मन में शान्ति का संचार करके उसका बाहर प्रसरण करना चाहता है। इस प्रकार उसका काम अन्दर से शुरू होकर बाहर फैलता है। राजनैतिक स्तर पर बौद्ध-धर्म किसी पक्ष में नहीं पड़ता है। उसके पास मैत्री का ही सबसे बड़ा बल है, जो तटस्थ है और सम्पूर्ण विश्व को अपने में समेटे हुए है। अशोक के धर्म-विजय के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने के पश्चात् भारत के लिए यह स्वाभाविक ही था कि सबके प्रति मैत्री के आदर्श को वह विश्व के मामलों में अपनी गतिशील तटस्थता की नीति का आध्यात्मिक आधार बनाता। इसी सार्वभौमिक मैत्री की नीति के कारण भारत किसी शक्ति-गुट में सम्मिलित नहीं हो सकता, क्योंकि उसका किसी देश या देश-वर्ग के प्रति विरोध-भाव नहीं है। भारत की तटस्थता की नीति वस्तुतः मैत्री की निर्वैयक्तिक, सार्वभौमिक और तटस्थ शक्ति की ही प्रतीक है जो धीरे-धीरे विश्व में अपने प्रकाश को फैला रही है। इसी दृष्टि से हमें भारत-सरकार के एशिया के देशों के साथ पुराने सम्बन्धों को पुनर्जीवित करने के प्रयत्नों को देखना चाहिए। चूँकि बौद्ध-धर्म ही इस प्रकार के आधार दे सकता है,

इसलिए न केवल एशिया के लिए बल्कि सम्पूर्ण विश्व के लिए, उसके राजनैतिक निष्कर्ष इतने अधिक महत्त्व के हैं।

भविष्य

यद्यपि भविष्यवाणी करना एक साहसिक काम ही है, फिर भी यह सोचा जा सकता है कि भविष्य में शताब्दियों तक बौद्ध-धर्म संस्कृति और शान्ति के साथ हाथ मिलाकर चलेगा। जहाँ तक निकट भविष्य का सम्बन्ध है, उसका अधिक पुनरुज्जीवन एशिया के देशों तथा अन्य अ-बौद्ध देशों में होगा तथा उसके परिणाम स्वरूप आगे चलकर एक महान सांस्कृतिक नव-जागरण विश्व में होगा।

बौद्ध-धर्म का पुनरुत्थान : महाबोधि सभा

आधुनिक विश्व का एक-तिहाई भाग बौद्ध है। यह बौद्ध-धर्म का कुछ कम बड़ा काम नहीं है। इतिहास के पढ़ने से मन पर यह प्रभाव पड़ता है कि यदि विरोधी राजनैतिक परिस्थितियाँ आड़े हाथ न आतीं, तो इस धर्म के द्वारा विश्व की विजय परिपूर्ण हो जाती। फिर भी बौद्ध जगत का विस्तार आज अल्प नहीं है। तिब्बत, मंचूरिया और मंगोलिया के सहित चीन, कोरिया, जापान, हिन्द-चीन, स्याम (थाईलैण्ड) बर्मा और श्रीलंका सब बौद्ध देश हैं। यद्यपि मलाया और इन्डोनेशिया बौद्ध देश नहीं माने जा सकते, फिर भी बौद्ध लोगों की संख्या यहाँ नगण्य नहीं है। मध्य-पूर्व में मुस्लिम देशों तथा रूस को छोड़कर प्रायः सम्पूर्ण एशिया बौद्ध है।

यद्यपि बौद्ध-धर्म का उदय भारत में हुआ, आज वह यहाँ अधिक दृष्टिगोचर नहीं होता। इसका अर्थ यह नहीं कि भारत में बिल्कुल ही बौद्ध-धर्म के मानने वाले नहीं हैं। इस देश के पूर्वी भाग तथा असम में बौद्ध-धर्म आज भी विद्यमान है और उसका अभ्यास किया जाता है। राजपूताना के कुछ भागों तथा नैनिताल और दार्जिलिंग के ज़िलों में भी यह आज विद्यमान है। उड़ीसा में बौद्ध लोगों की संख्या काफी है और सिक्किम और भूटान तो पूर्णरूप से बौद्ध हैं ही। नेपाल यद्यपि राजनैतिक दृष्टि से भारत से अलग है, परन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से वह भारतीय संस्कृति के प्रभाव की परिधि में ही है। नेपाल की आधी जनसंख्या बौद्ध-धर्म को मानने वाली है।

महाबोधि सभा की स्थापना सन् १८९१ में अनागरिक धर्मपाल ने कोलम्बो में की। उनका जन्म सिंहल के एक अमीर परिवार में हुआ था। सन् १८८४ में

सर एडविन आर्नोल्ड के कई लेख, लन्दन के "दि टेलिग्राफ़" नामक पत्र में, जिसके वह स्वयं सम्पादक थे, प्रकाशित हुए थे। इन से धर्मपाल को बोध-गया के मन्दिर की दुर्दशा का पता चला, जिससे उनके हृदय को मार्मिक पीड़ा हुई। उन्होंने अपने परिवार के सब सुख-भोगों को छोड़ दिया और अनागरिक (गृह-विहीन) हो गए। बोध-गया के महाबोधि मन्दिर को पुनः बौद्धों को दिलवाना और भारत में बौद्ध-धर्म का प्रचार, यही दो उद्देश्य उनके जीवन के हो गए थे।

अपने इस संकल्प की पूर्ति के लिए अनागरिक धर्मपाल ने जनवरी सन् १८९१ में बोध-गया की प्रथम यात्रा की। सन् १८९१ में ही वे सिंहल लौट गए और वहाँ उन्होंने कोलम्बो में महाबोधि सभा की स्थापना की जिसके मुख्य दो उद्देश्य थे, बोध-गया में बौद्ध देशों के प्रतिनिधि-स्वरूप भिक्षु-संघ की प्रतिष्ठा और अंग्रेज़ी तथा भारतीय भाषाओं में बौद्ध-साहित्य का प्रकाशन।

महाबोधि सभा ने चार भिक्षुओं का एक शिष्ट-मण्डल प्रथम बार सन् १८९१ में बोध-गया में भेजा, जिसके आगमन पर बंगाल के एक प्रसिद्ध दैनिक पत्र में लिखा था, "क्यों न बौद्ध-धर्म का यह अप्रत्याशित प्रत्यावर्तन बोध-गया में एक बौद्ध बस्ती की स्थापना के रूप में हमारे अन्दर आशा का वह संचार करे कि जिससे हिन्दू लोग विश्व के महान राष्ट्रों में अपने स्थान को पुनः प्राप्त कर सकें[1]।"

महाबोधि सभा का दूसरा महान कार्य अक्टूबर सन् १८९१ में एक अन्तर्राष्ट्रीय बौद्ध सम्मेलन का बुलवाना था। यद्यपि इस सम्मेलन की व्यवस्था एक छोटे पैमाने पर ही की गई थी, फिर भी इसमें चीन, जापान, लंका और चटगाँव के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस सभा का उद्देश्य बौद्ध जगत का ध्यान बोध-गया मन्दिर की ओर आकृष्ट करना था ताकि इस मन्दिर की पुनः प्राप्ति में उन सब का सहयोग मिल सके।

महाबोधि-सभा ने सन् १८९२ में अपने अंग्रेज़ी मुख-पत्र "दि महाबोधि एण्ड दि यूनाइटेड बुद्धिस्ट वर्ल्ड" का आरम्भ किया, जिसके सम्पादन का भार स्वयं अनागरिक धर्मपाल ने वहन किया। धर्मपाल ने "गोस्पेल ऑफ़ बुद्धा" के प्रसिद्ध लेखक डा० पॉल केरुस के निमन्त्रण पर अमेरिका की दूसरी यात्रा की और एक वर्ष तक वहाँ रह कर बौद्ध-धर्म पर अनेक भाषण दिए और अमेरिकन महाबोधि सोसाइटी की स्थापना की। उनके भाषणों से प्रभावित होकर अनेक लोगों ने बौद्ध-धर्म स्वीकार कर लिया।

---

१. इण्डियन मिरर, नवम्बर ३, १८९१।

सन् १६०० में महाबोधि सभा की शाखाएँ मद्रास, कुशीनगर और अनुराधपुर (सिंहल) में खोली गईं। सन् १६०२ में अनागरिक धर्मपाल ने फिर अमेरिका की यात्रा की और होनोलुलु की श्रीमती मेरी ई० फास्टर से महाबोधि सभा के लिए काफी आर्थिक सहायता प्राप्त की। महाबोधि सभा द्वारा निर्मित धर्म-राजिक चैत्य विहार का उद्घाटन समारोह १० नवम्बर सन् १६२० को हुआ और इसी समय सन् १८६१ में मद्रास राज्य के कृष्णा जिले में प्राप्त बुद्ध धातुओं की इस विहार में प्रतिष्ठा की गई।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद बिहार सरकार ने सन् १६४६ में बुद्ध-गया टैम्पिल एक्ट पारित किया जिसके अनुसार बोध-गया मन्दिर का प्रबन्ध एक समिति के सुपुर्द कर दिया गया, जिसमें ४ हिन्दू और ४ बौद्ध सदस्यों के रहने की व्यवस्था है। इस प्रकार ६० वर्ष के लम्बे संघर्ष के बाद महाबोधि सभा बोध-गया मन्दिर की पुनः प्राप्ति के उद्देश्य में आंशिक रूप से सफलता प्राप्त कर सकी है। सन् १६३१ में सारनाथ में मूलगन्धकुटी विहार का निर्माण पूर्ण हुआ जिसमें आज नया जीवन स्पन्दित हो रहा है। इस समय महाबोधि सभा की शाखाएँ गया, सारनाथ, नई दिल्ली, लखनऊ, बम्बई, मद्रास, नौतनवा और अजमेर में काम कर रही हैं। सन् १६४६ में अग्र श्रावक सारिपुत्र और महामौद्गल्यायन की धातुओं के भारत-आगमन के समय तथा साँची में एक नव-निर्मित विहार में उनकी स्थापना के अवसर पर भारत की जनता ने बुद्ध और बौद्ध-धर्म में जिस गहरी निष्ठा का परिचय दिया वह विस्मरण की जाने वाली बात नहीं है। वैशाख-पूर्णिमा का उत्सव जिस उत्साह से अब भारत में मनाया जाने लगा है, वह भारतवासियों की बौद्ध-धर्म में गहरी श्रद्धा का सूचक है और इस बात का सूचक भी कि जिस कार्य को आज से साठ वर्ष पूर्व अनागरिक धर्मपाल ने शुरू किया था और जिसे महाबोधि सभा के निःस्वार्थ कार्यकर्त्ता तब से जारी रख रहे हैं, सफलता प्राप्त कर रहा है और अपने फल प्रदान कर रहा है। महाबोधि सभा ने बौद्ध ग्रन्थों के भारतीय भाषाओं में अनुवाद के काम को भी अपने हाथ में लिया है और उसमें काफी प्रगति हो रही है। पालि का अनुशीलन धीरे-धीरे उन्नति कर रहा है। सबसे पहले सर आशुतोष मुकर्जी ने सन् १६०८ में कलकत्ता विश्वविद्यालय में मैट्रीक्यूलेशन से लेकर एम० ए० तक पालि के अध्यापन की व्यवस्था की थी। कलकत्ता विश्वविद्यालय के इस उदाहरण का अनुसरण बाद में पटना, बनारस, लखनऊ, बम्बई, पूना और बड़ौदा के विश्व-विद्यालयों में किया गया। अभी हाल में बिहार राज्य सरकार ने नालन्दा पालि प्रतिष्ठान की स्थापना की है।

बौद्ध-धर्म के सन्देश ने आधुनिक जगत में एक विशेष महत्त्व प्राप्त कर लिया है। संयुक्त राष्ट्र संघ जिस शान्ति की बात करता है, उससे यह सूचना मिलती है कि सम्पूर्ण विश्व आज उन विश्वासों की ओर लौट रहा है जो बुद्ध के धर्म में मूर्तिमान हैं।

तेरहवाँ अध्याय

सिंहावलोकन

गत अध्यायों में भारत और उसके बाहर बौद्ध-धर्म की कहानी की रूपरेखा उस कड़ी को दिखाने के लिए दी गई है जिसने अनगिनत शताब्दियों से भारत और पूर्व के अन्य देशों को एक दूसरे के साथ जोड़ा है।

एक धर्म के रूप में बौद्ध-धर्म की महत्ता उसके करुणा, मानवता और समता सम्बन्धी विचारों के कारण है। बौद्ध-धर्म एक आकस्मिक घटित व्यापार नहीं था। वैदिक यज्ञवाद और बुद्ध-पूर्व काल से लेकर बुद्ध के काल तक प्रचलित दार्शनिक चिन्तनों की पृष्ठभूमि में बौद्ध-धर्म का आविर्भाव हुआ। बुद्ध के जीवन और उनके उपदेशों की कथा, जैसी कि वह पालि ग्रन्थों में वर्णित है, उनके देवत्व के बजाय उनकी मानवता पर अधिक आश्रित है।

भगवान बुद्ध के उपदेशों का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है:—

(१) पाप-कर्म का न करना,

(२) जो कुछ भी शुभ (कुशल) कर्म हैं, उनका संचय करना, और

(३) अपने चित्त को शुद्ध रखना।

भगवान बुद्ध के कर्म-सम्बन्धी विश्वास का एक विशेष समाजशास्त्रीय महत्त्व है, क्योंकि वह व्यक्ति के अपने कर्म को उसके जन्म (जाति) से अधिक महत्त्व देता है।

राजगृह, वैशाली और पाटलिपुत्र की बौद्ध संगीतियों के वर्णन स्थविरवाद-परम्परा के अनुसार दिए गए हैं। एन्द्रे बेरो नामक फ्रेंच विद्वान ने अवश्य यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि पाटलिपुत्र में दो संगीतियाँ हुईं, जिनमें से प्रथम में भिक्षु-संघ में भेद उत्पन्न हुआ। इस प्रथम संगीति में महासंघिक स्थविरवादियों से पृथक् हुए और दूसरी संगीति में स्थविरवादियों के मुख्य अंग से सर्वास्तिवादी अलग हो गए। स्थविरवादियों ने इसी समय 'विभज्यवादी' नाम ग्रहण किया और महान सम्राट अशोक ने इन्हें संरक्षण प्रदान किया।

अशोक महान के शासन-काल में बौद्ध-धर्म यद्यपि १८ सम्प्रदायों और निकायों में विभक्त था, फिर भी वह इसी समय, उसके राज्याश्रय में, न केवल एक अखिल भारतीय, बल्कि एक विश्व-धर्म ही बन गया। बौद्ध-धर्म का जो उत्तरी देशों यथा अफगानिस्तान, चीनी तुर्किस्तान (मध्य एशिया), चीन, तिब्बत, मंगोलिया, नेपाल, कोरिया और जापान में तथा दक्षिणी देशों यथा सिंहल, बर्मा, थाई-देश, कम्बोडिया, वियत-नाम (चम्पा), मलाया और इण्डोनेशिया में प्रचार हुआ, उसके सम्बन्ध में भी एक परिच्छेद दिया गया है।

भारत और उसके बाद के देशों में बौद्ध-धर्म के जो मुख्य निकाय और सम्प्रदाय उत्पन्न हुए, उनका भी विवरण दिया गया है और यह भी स्पष्टतः दिखाया गया है कि किस प्रकार थेरवाद (स्थविरवाद) बौद्ध-धर्म की सरल शिक्षाओं का क्रमिक विकास भारत में माध्यमिक और योगाचार सम्प्रदायों के जटिल सिद्धान्तों के रूप में हो गया और फिर बाद में उनका चीन और जापान में और अधिक विकास हुआ।

पालि, संस्कृत, तिब्बती और चीनी भाषाओं में प्राप्त त्रिपिटक साहित्य का सामान्य परिचय दिया गया है और पालि और संस्कृत बौद्ध साहित्य के मुख्य ग्रन्थों का विस्तृत पर्यालोचन किया गया है।

एक अन्य रुचिकर विषय बौद्ध शिक्षा-विधि के सम्बन्ध में है। इसके सम्बन्ध में यहाँ यह दिखलाया गया है कि ब्राह्मण-काल के संकीर्ण परिवार-विद्यालय का अतिक्रमण कर बौद्ध शिक्षा-पद्धति विस्तृत विहार-विद्यालय या संघाराम-विद्यालय के रूप में विकसित हुई, जिसके दरवाजे बौद्ध और अ-बौद्ध, भारतीय और विदेशी, सब के लिए खुले थे।

भारत और उसके बाहर के देशों में अशोक के बाद जो बौद्ध महापुरुष हुए, उनमें से कुछ के सम्बन्ध में पाठकों को बताने का प्रयत्न भी किया गया है।

महान चीनी यात्री फाहियान, युआन-च्वांग और इ-त्सिंग ने अपने-अपने समय के भारत के बौद्ध-धर्म के चित्र हमें दिए हैं। एक पृथक् परिच्छेद में, भारत के द्वारा उनके कृतज्ञतापूर्ण सम्मान के चिन्ह-स्वरूप, उनके सम्बन्ध में विवरण दिया गया है।

यह एक सर्व-सम्मत तथ्य है कि भारत अपनी अभिघटन-कलाओं के आरम्भ के लिए बौद्ध-धर्म का ऋणी है। भारत या उसके बाहर जहाँ कहीं भी बौद्ध-धर्म गया, वह वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्र-कला के लिए प्रेरणा का एक स्रोत बन गया।

कालान्तर में बौद्ध-धर्म में एक महान परिवर्तन आया। नैतिक धर्म के अपने प्रारम्भिक स्वरूप से बौद्ध-धर्म का परिवर्तन महायान के सिद्धान्त के रूप में हुआ, जिसने बुद्ध का दैवीकरण किया और बुद्ध के शरीर की पूजा करना धर्म का एक प्रमुख अंग हो गया। बुद्ध के अनुगामी को अब आत्म-विमुक्ति की उतनी चिन्ता नहीं रही। उसने अपने साथी प्राणियों के प्रति करुणा के कारण अपनी विमुक्ति को उस समय तक दूर रखना अधिक पसन्द किया जब तक सब प्राणी अपनी विमुक्ति प्राप्त न कर लें। इसके लिए उसने बार-बार जन्म लेकर दूसरों के लिए जीना-मरना अधिक अच्छा समझा, ताकि इस प्रकार वह दूसरों की विमुक्ति में सहायक हो सके। इस प्रकार आत्मविमुक्ति-रत निवृत्ति के स्थान पर दूसरों की सहायता और सेवा पर आश्रित प्रवृत्ति का आदर्श सामने आया और इसे समाज का अधिक संरक्षण मिला। तत्व-दर्शन के क्षेत्र में भी बौद्ध-धर्म विश्व के अनेकतावादी सिद्धान्त से अद्वैतवाद की ओर झुका। इस प्रकार बौद्ध-धर्म वेदान्तियों द्वारा प्रतिपादित अद्वैत के अधिक समीप आ गया।

उधर माया सम्बन्धी सिद्धान्त और संवृति सत्य और परमार्थ सत्य के रूप में सत्य का द्विविध रूप, ये दोनों सिद्धान्त वेदान्तियों द्वारा स्वीकृत कर लिए गए।

पशु-हिंसा-परायण यज्ञों की निंदा होने लगी और उनके स्थान पर पाक-यज्ञ शुरू हुए।

महाभारत में मनुष्य के व्यक्तिगत सदाचार के महत्त्व की प्रशंसा की गई है और आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग का भी निर्देश है।[1] बौद्ध देवताओं की प्रतिष्ठा हुई और स्वयं भगवान बुद्ध विष्णु के अवतार माने गए।[2]

आधुनिक संसार में बौद्ध-धर्म के सांस्कृतिक और राजनैतिक निष्कर्षों का विवेचन विस्तार से किया गया है। यह दिखाया गया है कि एशिया के देशों में बौद्ध-धर्म के प्रसार के साथ बौद्ध संस्कृति का भी वहाँ प्रसार हुआ। इन नए विचारों से इन देशों को जो लाभ हुआ, वह न केवल धर्म के क्षेत्र में था बल्कि संस्कृति के क्षेत्र में भी, जो अपने विस्तृततम अर्थ में "समाज के एक सदस्य के रूप में मनुष्य के द्वारा अर्जित ज्ञान, विश्वास, कला, नीति, विधि और अन्य समर्थताओं और स्वभावों की युग्मित समष्टि है।"

---

१. ३, २, ७, ७३।

२. भागवत, १, ३, २४।

बौद्ध-धर्म विश्व में शान्ति के लिए एक महान शक्ति सिद्ध हुआ है। भगवान बुद्ध की शान्ति, आत्म-बलिदान, करुणा और उदारता सम्बन्धी नीति महाभारत की इन पंक्तियों में प्रतिध्वनित हुई है :—

अक्रोधेन जयेत् क्रोधं असाधुं साधुना जयेत्।
जयेत् कदर्यं दानेन जयेत् सत्येन चानृतम् ॥
(क्रोध को अ-क्रोध से जीते और बुरे को भले से।
कंजूस को दान से और असत्य को सत्य से जय करे।)

इस भावना ने मध्यकालीन भारत में अनेक सन्तों के जीवन का निर्माण किया और आधुनिक भारत के महान मस्तिष्कों को भी बुद्ध के उपदेशों से मार्ग-दर्शन मिला है। महात्मा गांधी के ऊपर भगवान बुद्ध के जीवन का जो प्रभाव पड़ा, वह स्पष्ट ही है। सत्याग्रह के सिद्धान्त को उन्होंने अपने व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन में कार्यरूप में परिणत किया और वर्तमान भारतीय नेताओं में से कई राष्ट्र-पिता महात्मा गांधी के सीधे उत्तराधिकारी हैं। भारत के प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू ने अनगिनत बार यह घोषणा की है कि भारत और उसके बाहर सम्पूर्ण झगड़ों को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाने में उनका दृढ़ विश्वास है। यही कारण है कि भारत किसी शक्ति-गुट में सम्मिलित नहीं हुआ है। भारत की घोषित अन्तर्राष्ट्रीय नीति पंचशील पर आधारित है, जो सदाचार के पाँच नियमों के रूप में एक बौद्ध शब्द है और जिसमें विभिन्न आदर्शों को मानने वाले राष्ट्रों के सह-अस्तित्व की सम्भावना के लिए गुंजायश है।

परिशिष्ट–१

त्रिपिटक

हमारे नये सिक्के

१ अप्रैल १९५७ से चालू ।

वर्तमान और नये दोनों ही सिक्कों में लेनदेन हो सकेगी ; इन सिक्कों को लेने में कोई भी एतराज नहीं कर सकता ।

परिवर्तन तालिका में दिए गये मूल्यों के अनुसार ही पैसे मिलेंगे । आप उस से ज्यादा पैसे न तो दीजिए न मांगिए ।

आप नये, वर्तमान या नये पुराने सिक्के मिला कर (जो भी आप के पास हों) पैसे दे सकते हैं ।

- केवल पैसे देते समय ही इस तालिका का उपयोग कीजिए।
- ठीक ठीक हिसाब करने के लिए आप १०० नये पैसे बराबर १ रुपया या १६ आने, या ६४ पैसे या १९२ पाइयां इस दर से गिनिए । पैसे देते समय ही निकटतम नए पैसे तक हिसाब करना होगा; आधा नया पैसा या उससे कम को छोड़ देना होगा और आधे नये पैसे से अधिक को एक नया पैसा गिनना होगा।

सरलता से याद रखने के लिए ।

१ रुपया	=	१०० नये पैसे
८ आने	=	५० नये पैसे
४ आने	=	२५ नये पैसे
३ आने	=	१९ नये पैसे
२ आने	=	१२ नये पैसे
१ आना	=	६ नये पैसे
आधा आना	=	३ नये पैसे

परिवर्तन तालिका

(एक ही भुगतान में चुकाए जाने वाले मूल्य का नये पैसों में परिवर्तन)

आने	पाइयाँ	नये पैसे	आने	पाइयां	नये पैसे	आने	पाइयां	नये पैसे	आने	पाइयां	नये पैसे
०	३	२	४	३	२७	८	३	५२	१२	३	७७
०	६	३	४	६	२८	८	६	५३	१२	६	७८
०	९	५	४	९	३०	८	९	५५	१२	९	८०
१	०	६	५	०	३१	९	०	५६	१३	०	८१
१	३	८	५	३	३३	९	३	५८	१३	३	८३
१	६	९	५	६	३४	९	६	५९	१३	६	८४
१	९	११	५	९	३६	९	९	६१	१३	९	८६
२	०	१२	६	०	३७	१०	०	६२	१४	०	८७
२	३	१४	६	३	३९	१०	३	६४	१४	३	८९
२	६	१६	६	६	४१	१०	६	६६	१४	६	९१
२	९	१७	६	९	४२	१०	९	६७	१४	९	९२
३	०	१९	७	०	४४	११	०	६९	१५	०	९४
३	३	२०	७	३	४५	११	३	७०	१५	३	९५
३	६	२२	७	६	४७	११	६	७२	१५	६	९७
३	९	२३	७	९	४८	११	९	७३	१५	९	९८
४	०	२५	८	०	५०	१२	०	७५	१६	०	१००

इसे रखिए इसकी आपको जरूरत पड़ेगी।

साँची-भोपाल

नये प्रकाशन

समाज और संस्कृति मूल्य—आठ आना; डाक खर्च—२ आना

यह आकाशवाणी द्वारा प्रसारित १२ वार्ताओं का संग्रह है। यह हिन्दी में प्रकाशित आकाशवाणी वार्तामाला का प्रथम पुष्प है।

जवाहरलाल नेहरू के भाषण (सं० १)

स्वतन्त्रता दिवस, १९५६ मूल्य—१ आना; डाक खर्च—१ आना

रजिस्ट्री खर्च अतिरिक्त

१० रुपया या इससे अधिक की किताबें मंगाने पर डाक खर्च नहीं लगेगा। मूल्य अग्रिम आना चाहिए। पोस्टल आर्डर को तरजीह दी जाएगी।

सभी प्रमुख पुस्तक-विक्रेताओं से प्राप्त या सीधा लिखिए

बिज़िनेस मैनेजर,

पब्लिकेशन्स [illegible]

ओल्ड सेक्रेटेरि[illegible]

दो महान् कृतियाँ

स्वाधीनता और उसके बाद :

१९४६ से १९४९ तक के ऐतिहासिक काल में दिए गए, जनजन वल्लभ नेता जवाहरलाल नेहरू के ५९ भाषणों का अनुपम संग्रह। राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत, निर्माणकारी प्रयत्नों के लिए प्रेरक इन भाषणों से कौन भारतीय वंचित रहना चाहेगा।

सुन्दर, आकर्षक छपाई, व अनेक चित्रों सहित, ४४५ पृष्ठों वाले इस सजिल्द ग्रन्थ का मूल्य केवल ५) है। डाक व्यय १-१०-० अलग।

भारत की एकता का निर्माण :

राष्ट्रीय एकता के प्रणेता, सरदार वल्लभ भाई पटेल के २७ ऐतिहासिक भाषणों का अनुपम संग्रह। "लौह पुरुष" की अमर वाणी युगयुगान्तर तक प्रत्येक भारतीय नागरिक के लिए उत्साहवर्धक, प्रेरक व मार्गदर्शक रहेगी।

सुन्दर, आकर्षक छपाई, व अनेक चित्रों सहित, ३५२ पृष्ठों वाले इस सजिल्द ग्रन्थ का मूल्य केवल ५) है। डाक व्यय १-८-० अलग।

उपरोक्त दोनों पुस्तकें एक साथ मँगाने पर डाक व्यय नहीं लिया जाएगा।

पब्लिकेशन्स डिवीज़न

ओल्ड सेक्रेटेरिएट, दिल्ली–८

Edited and Published by the Director, Publications Division, and printed by the Production Officer, United Press, Government of India, Old Secretariat, Delhi.